अमृत नाम

महिन्दरसिंह जोशी

राधास्वामी सत्संग ब्यास

विषय-सूची

अमृत नाम

महिन्दरसिंह जोशी

राधास्वामी सत्संग ब्यास

प्रकाशक की ओर से

हम सब जानते हैं कि 'नाम' गुरुमत या सन्तमत का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। गुरुमत का महल खड़ा ही नाम की नींव पर है।

गुरु नानक साहिब की शिक्षा के तीन बुनियादी अंग माने गये हैं : नाम जपना, करनी करना और बाँट कर खाना (वंड छकना)। करनी करना और बाँट कर खाना नाम के अभ्यास में सहायक हैं। इसलिये गुरु अर्जुनदेव जी ने फ़रमाया है :

१. नानक कै घरि केवल नामु। (म.५, ११३६)

२. अवरि काज तेरै कितै न काम।
मिलु साध संगति भजु केवल नाम। (म.५, १२)

राधास्वामी सत्संग ब्यास द्वारा प्रकाशित सभी पुस्तकों में नाम के विषय में चर्चा हुई है, कहीं कम और कहीं ज़्यादा। फिर भी नाम एक ऐसा विषय है जिसके बारे में जितना भी लिखा जाये कम है। हर्ष की बात है कि पंजाबी के प्रसिद्ध विद्वान और साहित्यकार जस्टिस महिन्दरसिंह जोशी ने वर्षों के गहन अध्ययन के बाद इस विषय पर 'अमृत नाम' नामक पुस्तक लिखी है।

श्री जोशी को पंजाब सरकार की ओर से उच्चकोटि के कहानीकार के तौर पर 'शिरोमणि साहित्यकार पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है। आपको देहली प्रशासन से ही नहीं बल्कि कई साहित्यिक और सामाजिक संगठनों की ओर से भी पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। भारत के संविधान का पंजाबी रूपान्तर तैयार करने का श्रेय भी आपको है।

श्री जोशी का अध्ययन तो विशाल है ही, एक न्यायधीश के नाते आपको विचारों और सिद्धान्तों को बारीकी से परखने, उन पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने और सूझ भरे निष्कर्ष निकालने की भी योग्यता प्राप्त है। सबसे बड़ी बात यह है कि दिल्ली उच्च न्यायालय से अवकाश प्राप्त होने के बाद राधास्वामी सत्संग ब्यास में निवास होने के कारण आपको सतगुरु महाराज चरनसिंह जी की

संगति प्राप्त है। इस प्रकार एक अनुभवी पूर्ण सन्त-सतगुरु की रहनुमाई में आपको पूर्ण सन्तों की वाणी के गम्भीर आन्तरिक, आध्यात्मिक अर्थ की तह तक पहुँचने में सहायता मिली है।

प्रस्तुत पुस्तक में जस्टिस जोशी ने मुख्य तौर पर आदि ग्रन्थ में संकलित गुरु-घर और अन्य सन्तों की वाणी को आधार बनाया है, पर वाणी की व्याख्या के लिये स्थान-स्थान पर भाई गुरदास, भाई वीरसिंह और भाई काहनसिंह नाभा आदि विद्वानों के विचारों से भी लाभ उठाया है। आशा है, आपकी यह रचना गुरुमत-चिन्तन को विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से विचारने तथा समझने की दिशा में एक मार्गदर्शक सिद्ध होगी। हम श्री महिन्दरसिंह जोशी के इस उद्यम के लिये उनके आभारी हैं।

पुस्तक का हिन्दी अनुवाद श्री राजेन्द्रपाल 'प्रेमी' ने किया है। इसका संशोधन श्री वीरेन्द्रकुमार सेठी द्वारा किया गया है। पुस्तक की छपाई का काम श्री प्रेमी जी की देख-रेख में श्री हरबंसलाल आहूजा, श्री संजीव कुमार अरोड़ा और श्री राम करण ने किया है। आदि ग्रन्थ की वाणी का संकलन करने की सेवा श्री रत्नचन्द ने की है। हम इन सबकी प्रेम भरी सेवा के आभारी हैं।

एस. एल. सोंधी,
सेक्रेटरी,
राधास्वामी सत्संग ब्यास

डेरा बाबा जैमलसिंह
जून, १९९०

प्रस्तावना

जब प्रातः जागकर हम चारपाई से उठते हैं तो हमें पता होता है कि पहले कार्य क्या करना है। घर से बाहर पैर रखते हैं—खेत के लिये, दुकान के लिये, दफ़्तर के लिये, तो भी अपनी मंज़िल का पता होता है। मनुष्य-जन्म एक बड़ा लम्बा सफ़र है। फिर भी कितने ही लोग इसे पूरे का पूरा काट लेते हैं पर उनको ख़याल तक नहीं आता कि यह सफ़र किस लिये तय किया है। यदि हम अपनी यात्रा के उद्देश्य की ओर से ही बेख़बर हों, उससे मिलेगा क्या?

सन्त-सतगुरु अपने-अपने समय में सदा से ही बताते आये हैं कि जीवात्मा परम-आत्मा या सतुपुरुष से अलग हुआ उसका छोटा-सा अंश है और इसे तब तक भवजल में तपते-तड़पते रहना है, जब तक यह वापस अपने मूल स्रोत में लीन न हो जाये। यह मिलाप अपने किये नहीं होता। इसके लिये प्रभु की दया की आवश्यकता है। वह दया करता है तो जीवात्मा को किसी सन्त-सतगुरु की संगति में लाता है और सन्त-सतगुरु उसे दीक्षा द्वारा मार्गदर्शन देकर परमार्थ के सही मार्ग पर लगा देता है।

गुरु की बताई हुई विधि के अनुसार नाम या शब्द के अभ्यास से मन की मलिनताएँ धुल जाती हैं, अहं की दीवार गिर जाती है, पाप-कर्म जल जाते हैं, आशा-तृष्णा समाप्त हो जाती है और इसके फलस्वरूप निर्विकार हो चुके जीव के लिये प्रभु की मौज में राज़ी रहना स्वाभाविक रूप से सम्भव हो जाता है। पूरे गुरु का ऐसा शिष्य निर्मल कर्म द्वारा प्राप्त कमाई को बाँटकर खाता है, निकृष्ट आहार को स्पर्श नहीं करता, प्रत्येक जीव में परमपिता परमात्मा की ज्योति का अनुभव करके किसी का अशुभ नहीं सोचता, किसी को बुरा नहीं कहता, सबका भला चाहता है। वह जीते-जी मरने की अवस्था को प्राप्त कर लेता है और उसकी प्रीति और सबकी ओर से टूटकर, सच्चे प्रियतम से जुड़कर, एक दिन उसे स्वयं प्रेम-स्वरूप प्रभु में लीन कर देती है।

उसे चाहे कितने ही नामों से याद किया जाता हो, वह कर्ता-पुरुष एक है, सृष्टि के अनन्त जीव उस एक के ही रचे, उस एक के ही सँजोये हुए हैं तथा वह

उन सबको समान दृष्टि से देखता हुआ उनका पालन करता है। संसार के लोग अपनी पैतृक एकता को भूल बैठते हैं और आपस में धर्मों, जातियों, कौमों, देशों आदि के भेद-भाव खड़े करके अनेक प्रकार की भिन्नताएँ पैदा कर लेते हैं। पर इसमें दोष उनके अपने स्वार्थ का, संकीर्णता का होता है, उनको पैदा करनेवाले सृजनहार का नहीं। वह तो युगों-युगों से बार-बार मनुष्य रूप धारण करके अपने जीवों को चिताने के लिये, उन्हें सही मार्ग पर लगाने के लिये आता रहता है। और इस प्रकार प्राप्त हुई शिक्षा को अपनाने वाले प्राणी आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। गुरु नानक साहिब तथा उनके उत्तराधिकारी ऐसे ही महान पथ-प्रदर्शक हुए हैं और ऐसे ही पथ-प्रदर्शक हुए हैं कबीर, रविदास, नामदेव आदि वे सन्त भी, जिनकी वाणी श्री आदि ग्रन्थ में शामिल की गई है। आगे के पृष्ठों में हम उन महापुरुषों के अमूल्य ज्ञान और उपदेश पर विचार करने और उसे समझकर उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे।

जिस वाणी को मैंने अपने विचार तथा चर्चा का आधार बनाया है, वह चाहे साधारण जीवों के लाभ के लिये उच्चारी गई थी, उसका केन्द्रीय विषय इतना गहन-गम्भीर है कि केवल पढ़ने-पढ़ाने से उसकी थाह नहीं मिलती। उसके रहस्य बुद्धि की नहीं, सिद्धि की कुंजी से खुलते हैं और यह कुंजी परमपिता परमात्मा अपने 'शब्द-स्वरूपी' सन्तों को ही प्रदान करता है। मैं हुज़ूर महाराज चरनसिंह जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मेरे सामने आईं कठिनाइयों को अपनी दया और दिव्य-दृष्टि द्वारा आसान कर दिया।

इस पुस्तक के सम्पूर्ण होने में हमारे प्रकाशन-विभाग के अध्यक्ष डॉ. कृपाल सिंह नारंग, डॉ. जनकराज पुरी, डॉ. कृपालसिंह 'खाक', डॉ. तिलकराज शंगारी और श्री वीरेन्द्र सेठी ने बहुमूल्य सहयोग दिया है। मैं इन सबका भी सच्चे हृदय से आभारी हूँ।

मैं भली-भाँति जानता हूँ कि मेरा मुँह बहुत छोटा है और प्रभु-परमेश्वर की बात से बड़ी कोई और बात है नहीं। इसलिये हो नहीं सकता कि मेरी इस तुच्छ भेंट में बहुत-सी भूलें न आ गई हों। पर मेरे मालिक के प्यारे भी उतने ही उदार-हृदय हैं, जितना वह स्वयं है। इसलिये मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे भूलें सहर्ष बख़्श दी जायेंगी।

डेरा बाबा जैमलसिंह

—महिन्दरसिंह जोशी

समर्पण

हुज़ूर महाराज चरनसिंह जी

की

पावन स्मृति में

—महिन्दरसिंह जोशी

हुज़ूर महाराज चरणसिंह जी
ਹਜ਼ੂਰ ਮਹਾਰਾਜ ਚਰਨਸਿੰਘ ਜੀ
(1916-1990)

मनुष्य का अवसर

मिलु जगदीस मिलन की बरीआ
—म.५, १७६

मनुष्य का अवसर

मनुष्य की तुलना में हाथी, गैंडे अधिक तगड़े होते हैं, शारीरिक बल में मनुष्य शेर के सामने नहीं ठहर सकता, दौड़ने में चीते उससे तेज़ हैं, मछलियाँ उससे अच्छा तैर लेती हैं, और उसके हवा में उड़ने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता।

फिर भी वह अपने से शक्तिशाली ऊँट और घोड़े की सवारी करता है, हाथी और बैल से बोझ उठवाता है, उसकी डुबकी गहरे से गहरे समुद्र की गहराइयों को नाप लेती है, जिन ऊँचाइयों को वह स्पर्श कर लेता है, वहाँ बाज़ भी पर नहीं मार सकते; वह हज़ारों मीलों पर पैदा होने वाली आवाज़ें अपने कमरे में बैठे सुन लेता है, लाखों मीलों पर हो रही घटनाएँ उसे अपनी कुर्सी पर सुस्ताते हुए नज़र आ जाती हैं। यह सबकुछ इसलिये कि परमात्मा ने उसके अन्दर कुछ विशेष गुण रखें हैं। उनमें से एक है श्रेष्ठ बुद्धि, जिसके द्वारा वह न केवल अन्य जीवों का ही अपने हितों के लिये उपयोग करता है बल्कि प्रकृति के सम्पूर्ण साधन उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये सुलभ हैं। उसकी विशेषताएँ इतनी महान हैं और सम्भावनाएँ इतनी विशाल कि उनकी कल्पना करना चाहें तो हो नहीं सकती। इसीलिये उसे सारी सृष्टि का सिरमौर कहा जाता है, सिरजनहार की चारों खानियों में से सबसे उत्तम रचना। गुरु रामदास साहिब ने : 'अवर जोनि तेरी पनिहारी। इसु धरती महि तेरी सिकदारी' (म.४, ३७४)[1] कहकर उसकी बड़ाई की है।

इस शरीर में मिली तीक्ष्ण सूझ-बूझ के कारण वह भले-बुरे की पहचान कर सकता है; आज की घड़ी से बहुत आगे, इस चोले की सीमा से भी परे, झाँक सकता है; दूर भविष्य के लिये कोई सार्थक योजना बना सकता है और उस

१. म.४, से अभिप्राय महला ४ अर्थात चौथी पातशाही गुरु रामदास जी की वाणी से है। इसके आगे ३७४ आदि ग्रन्थ का पृष्ठ नं. है। इस पुस्तक में इसी प्रकार आदि ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या और गुरु साहिबान के उद्धरण दिये गये हैं।

योजना को कार्यान्वित कर सकता है। सर्वसमर्थ तो बेशक एक भगवान ही है, पर कर गुज़रना बहुत कुछ मनुष्य के हाथ में भी है।

मनुष्य वेष धारण करने से पहले जीवात्मा बुरी तरह बेबस थी। वृक्ष होने पर वह कहीं चलकर जा नहीं सकती थी, ज़बान खोल नहीं सकती थी, सोच-विचार के पक्ष से बिलकुल अपंग थी। कीड़ा, पक्षी, फिर पशु बनने की प्रक्रिया के दौरान उसकी स्थिति सुधरती चली गई पर कर्मों का चुनाव फिर भी उसके भाग्य में नहीं आया। भेड़िए को क्या पता कि जिस पुरुषार्थ के द्वारा वह अपना पेट भरता है, वह हिंसा है, पाप है, वनमानुष क्या जाने कि वह आवागमन के चक्र में फँसा हुआ है और कोई ऐसी शक्ति भी है जो उसे बन्धन-मुक्त कर सकती है। वनमानुष के रूप में उसका जीवन जन्म से मृत्यु तक एक बे-पेरोल कैदी का जीवन था। उसके कारागार में न कोई दरवाज़ा था, न कोई खिड़की, न रोशनदान। एक के बाद एक लाखों योनियाँ आईं, कोई कुछ दिनों की, कोई महीनों की, कोई दशकों, सैंकड़ों-हज़ारों में गिने जाने वाले वर्षों की। उन योनियों में दिखने में तो कई अन्तर थे, पर एक कमी या दोष सबमें समान था, किसी रूप में भी उसके हाथों से हथकड़ी नहीं उतरती थी, उसके पैरों की बेड़ी नहीं उतरती थी।

पर यदि अब मनुष्य चोले में उसे कर्म करने की आज़ादी मिली तो वह आज़ादी अपने आपमें जान की मुसीबत बन गई। जितने मार्ग उसके सामने खुले उतने ही भयानक खड्ड उसे तीलने के लिये मुँह बाये खड़े हो गये। पहले एक तरह की गलत हरकतें करता था, अब तरह-तरह की गलत हरकतें करने लगा। जिस सोच ने उसे अपनी जंज़ीरें तोड़ने का ढंग सुझाना था उसी सोच ने इन जंज़ीरों को बहुमूल्य आभूषण होने का धोखा करके मनमोहक बना दिया। पालतू तोता अगर उसका दरवाज़ा खुला हो तो भी पिंजरे से बाहर नहीं आता। वह लोहे के इकहरे पतले तार से टँगा रहने की बेआरामी सहन करता रहता है, खुले आकाश के नीचे, अपने सुखमय घोंसले की ओर लौटने के लिये प्रेरित नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य मोह-माया के ज़हर को अमृत मान कर निगलता जा रहा है। जो सुख निश्चित ही दुःख के रूप में भुगतने पड़ते हैं : 'दुखु दारू सुखु रोगु भइआ' (म.१, ४६९)। उन्हीं के लिये भटकते हुए वह साँस तक नहीं ले पाता : 'सुख कै हेत बहुतु दुखु पावत' (म.९, ४११)।

जीवात्मा प्रभु रूपी सूर्य की एक किरण है, सतनाम सागर की एक बूँद : 'मन तूं जोति सरूपु है आपणा मूलु पछाणु' (म.३, ४४१)। इस किरण, इस

बूँद को जिस यात्रा पर भेजा गया है वह उसके वापस अपने मूल में पहुँचने पर ही समाप्त होती है, अपने सूर्य या सागर में समा जाने पर :

जिउ जल महि जलु आइ खटाना।
तिउ जोती संगि जोति समाना। (म.५, २७८)

मनुष्य शरीर उस यात्रा की अन्तिम पैडी है, और इन्सान को दूसरे जीवों के मुकाबले श्रेष्ठ बुद्धि इसलिये बख़्शी गई है कि वह इस पैड़ी को ठीक तरह सफलतापूर्वक पार कर सके :

भई परापति मानुख देहुरीआ।
गोबिंद मिलण की इह तेरी बरीआ। (म.५, ३७८)

गुरुवाणी में संसार की उपमा चौपड़ की बाज़ी से दी गई है और वह खूब फबती है। चौपड़ की बिसात में चार पट्टियाँ होती हैं और हर पट्टी में कई खाने। दूसरी ओर, जीव चार खानियों में बँटे गये हैं : अंडज, जेरज, सेतज, उद्भिज और प्रत्येक खानी में जीवों के लाखों प्रकार हैं। चौपड़ की नर्द या गोट को पहले खाने से शुरू करके चारों पट्टियों में से गुज़र कर बिसात का पूरा चक्कर लगाना होता है, और सृष्टि के प्राणी उसी तरह बेलों-वृक्षों आदि से उन्नति करके इन्सान बनते हैं। चौपड़ में चारों कोनों का चक्कर समाप्त कर लेने के बाद एक खास पट्टी आती है जहाँ से गोट के असली घर की यात्रा शुरू होती है। यदि पासा ठीक गिरे तो गोट अन्दर के रास्ते पर आ जाती है, अन्दर प्रवेश करने से पहले ही पिट जाये तो पूरा किया जा चुका रास्ता वापस नये सिरे से पूरा काटना पड़ता है। सांसारिक जीवों के लिये आवागमन के दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली 'पट्टी' मनुष्य शरीर है। अगर कोई मनुष्य इस स्थान पर पहुँच कर मर जाये तो वही चौरासी लाख योनियाँ उसके फिर पल्ले पड़ जाती हैं; जबकि अन्दर जाने वाला पक्की नर्द की तरह जीत जाता है, अपने निज-घर, सचखण्ड में प्रवेश प्राप्त कर लेता है। गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

आपे ही करणा कीओ कल आपे ही तै धारीऐ।
देखहि कीता आपणा धरि कची पकी सारीऐ। (म.१, ४७३)

कि जिस तरह का खेल चल रहा है उसको चलाने वाला परमेश्वर है, उसके सारे नियम, उपनियम उसी के बनाये हुए हैं और कच्ची-पक्की दोनों तरह की नर्दें उसकी अपनी रची हुई हैं। पर इस से यह नहीं समझ लेना कि मनुष्य किसी बाढ़ में बहे जा रहे तिनके की तरह बेबस है और उसे ज़िन्दगी केवल सहन करनी

है, खुद जीनी नहीं है। इसी पौड़ी को समाप्त करते हुए आप हिदायत देते हैं: 'आपण हथी आपणा आपे ही काजु सवारीऐ' (म.१, ४७४)। अगली पौड़ी में, 'जिउ साहिब नालि न हारीऐ तेवेहा पासा ढालीऐ' के द्वारा उस हिदायत को दुहरा भी देते हैं। जैसे नर्द पासा डालने के उद्यम से आगे चलती है, उसी तरह मनुष्य आत्मिक अभ्यास के आधार पर प्रभु-प्राप्ति में सफल या असफल होता है। अगर पासा फेंका ही न जाये तो नर्द कच्ची की कच्ची ही पड़ी रहे। नाम या शब्द का पल्ला पकड़े बिना जीव जन्म-मरण के दल-दल से बाहर नहीं निकल सकता।

नामदेव जी संसार को विष से भरा सागर बताते हैं। आसान तो पानी के सागर को तैर कर पार करना भी नहीं होता, पर यदि तैराक उसे बाँध कर रखनेवाले विषयों के फैलाव में हाथ-पैर मारने पर उतारु हो, तो वह कैसे सफल हो सकता है?:

कैसे मन तरहिगा रे संसार सागरु बिखै को बना। (नामदेव, ४८६)

ऊपरी दृष्टि से संसार की सुन्दरता बड़ी ही लुभावनी है, जैसे किसी महान कलाकार का चित्रित अनुपम चित्र हो, ऐसा चित्र जिस पर नज़र पड़े और हट न सके। ऐसी मूर्ति देखकर उसको बनाने वाले की प्रशंसा करनी चाहिए, उसका कृतज्ञ होना चाहिए, लेकिन चित्र में ही नहीं खो जाना चाहिए-उस मक्खी की तरह जो गिरे हुए शहद का स्वाद लेने के लिये उसमें लिबड़ कर मर जाती है: 'तजि चित्रै चितु राखि चितेरा' (कबीर, ३४०)।

मनुष्य-जन्म का क्या उद्देश्य है? गुरु अर्जुन साहिब दो शब्दों में बात समाप्त करते हैं: 'या जुग महि एकहि कउ आइआ' (म.५, २५१); केवल पारब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त करना, उसके साथ समरूप होना। यह अलग बात है कि उसे संसार में पाँव रखते ही माया की नागिन ने छल लिया: 'जनमत मोहिओ मोहनी माइआ' (म.५, २५१)। उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे मिला समय बहुत कम है, और वह भी तेज़ी से बीत रहा है। इस बहुमूल्य समय को व्यर्थ के कामों में नहीं गुज़ार देना चाहिए:

प्राणी तूं आइआ लाहा लैणि।
लगा कितु कुफकड़े सभ मुकदी चली रैणि। (म.५, ४३)

लख चउरासीह जोनि सबाई। माणस कउ प्रभि दीई वडिआई।
इसु पउड़ी ते जो नरु चूकै सो आइ जाइ दुखु पाइदा।

चाहे प्रभु के पैदा किये जीवों की किस्में चौरासी लाख से कम नहीं, यहाँ भवसागर से पार होने का अवसर केवल एक बार मिलता है, मनुष्य के वेष में, मानों इस रूप में, नाम या शब्द के जहाज़ में चढ़कर बैठने के लिये सीढ़ी लटका दी गई हो। जो कोई इस दुर्लभ अवसर को हाथ से गँवा बैठता है, वह और-और निकम्मी योनियों में पड़कर अनेक कष्ट सहता रहता है।

अन्य जीवों की तो बात ही दूर रही, देवता तक इस सर्वोत्तम तन के लिये तरसते रहते हैं क्योंकि यही एक तन है जिसमें बैठकर हरि की आराधना की जा सकती है, शब्द की कमाई सम्भव है:

इस देही कउ सिमरहि देव। (कबीर, ११५९)

दुर्भाग्य से जीव मनुष्य-जन्म धारण करके भी परमेश्वर की ओर से बेपरवाह या उदासीन रहता है, क्योंकि इन्द्रियों के रस, सगे-सम्बन्धियों, मित्रों का मोह और सांसारिक पदार्थों का हेत उसकी बुद्धि भ्रष्ट किये रहते हैं। उसे सूझता ही नहीं कि ये रस मीठी चाशनी में डूबे विष के डंठल हैं; जो शरीर उन रसों के कारण प्यारा लगता है वह बालू की भीत-सा अस्थिर है, इन्सानी रिश्ते कुसंभ के रंग की भाँति कच्चे हैं और अत्यन्त परिश्रम तथा पापाचार द्वारा जुटाये धन, पदार्थ, सम्पत्ति यहीं पड़ी रह जायेंगी, एक कदम भी आगे नहीं ले जाई जा सकतीं:

तैरै काजि न ग्रिहु राजु मालु। तैरै काजि न बिखै जंजालु।
इसट मीत जाणु सभ छलै। हरि हरि नामु संगि तैरै चलै। (म.५, ८८९)

जिन सांसारिक सम्बन्धों को पालने के लिये लोग अगिनत मुसीबतें सहते हैं, दुष्कर्म करते हैं, उनकी अस्थिरता का चित्र खींचते हुए कबीर साहिब बताते हैं कि जब स्वाँसों का तेल खत्म होकर जीवन की बत्ती बुझ जाती है और काया का मन्दिर सुनसान हो जाता है तो इसे कोई आधी घड़ी भी घर नहीं रखता, सबको इससे पल्ला छुड़ाने की जल्दी हो जाती है। जीवन रूपी मटके के भग्न होने पर न उसका कोई बाप रहता है, न माँ, न पत्नी; सब उसकी ओर से मुँह मोड़ लेते हैं। अति प्यार करनेवाली पत्नी बाल बिखेरने से अधिक कुछ नहीं कर सकती, माता घर की डयोढ़ी तक ही चलकर खड़ी हो जाती है, भाई स्वयं उसको श्मशान-भूमि में उठा कर ले जाते हैं। इस प्रकार बड़े परिवार वाला जीव एक अकेला रह जाता है:

जब लगु तेलु दीवे मुखि बाती तब सूझै सभु कोई।
तेल जले बाती ठहरानी सूंना मंदरु होई।

रे बउरे तुहि घरी न राखै कोई।
तूं राम नामु जपि सोई।
का की मात पिता कहु का को कवन पुरख की जोई।
घट फूटे कोऊ बात न पूछै काढहु काढहु होई।
देहुरी बैठी माता रोवै खटीआ ले गए भाई।
लट छिटकाए तिरीआ रोवै हंसु इकेला जाई। (कबीर, ४७७)

किसी को उत्तराधिकार में धन-सम्पत्ति और हुकूमत मिल जाती है, कोई थोड़ी-बहुत मेहनत करके अच्छा पदाधिकारी, विख्यात कलाकार, बड़ा ज़मींदार, सेठ, साहूकार, कारखानेदार बन जाता है और फिर वह अपने आपको कोई असाधारण व्यक्ति मानने लगता है। वह यह नहीं सोचता कि जो कुछ उसे मिला है, वह पहले दूसरे अनेक लोगों के पास रह चुका है और सदा के लिये उसके पास भी नहीं रहेगा। इस विषय में फ़रीद साहिब लिखते हैं :

सेख हैयाती जगि न कोई थिरु रहिआ।
जिसु आसणि हम बैठे केते बैसि गइआ। (फ़रीद, ४८८)

वह भूल जाता है कि जिस वस्तु को बनाने में महीने बीत जाते हैं, उसके टूटने में मिनट भी नहीं लगता : 'गंढेदिआं छिअ माह तुड़ंदिआ हिकु खिनो' (फ़रीद, ४८८)। मनुष्य शरीर तो आधी, पौन शताब्दी में बनकर सैकिण्डों में मिट्टी हो जाता है।

इन हालतों में हमें समझ आनी चाहिए कि इस संसार के भोग-विलास हमें बन्दी बनाकर रखने के लिये फैलाये गये माया के जाल हैं। यहाँ के ऐश्वर्य और मान-बड़ाई हैं कच्चे मुलम्मे की तड़क-भड़क, यहाँ के नाते-रिश्ते केवल अनित्य, निरे दिखावे। इसलिये संसार के अन्ध-कूप से निकलने के लिये पूरी शक्ति से प्रयत्न करना चाहिए, और वह भी शीघ्र, अति शीघ्र; आलस्य के लिये कोई गुंजाइश नहीं : 'छिनु छिनु अउध बिहातु है फूटै घट जिउ पानी' (म.९, ७२६)।

अगला स्वाँस न जाने आये कि न आये। छुटकारे का उपाय है प्रभु की भक्ति, सच्चे और शुद्ध हृदय से, पूरे गुरु के मार्गदर्शन में और वह प्रभु है भी सचमुच भक्ति करने के योग्य।

'मिलन की बरीआ'

धंधै धावत जगु बाधिआ ना बूझै वीचारु।
जंमणु मरणु विसारिआ मनमुख मुगधु गवारु। (म.१, १०१०)

इह माइआ की सोभा चारि दिहाड़े जादी बिलमु न होइ। (म.३, ४२९)

फरीदा चारि गवाइआ हंढि कै चारि गवाइआ संमि।
लेखा रबु मंगेसीआ तू आंहो केरहे कंमि। (फ़रीद, १३७९)

करणो हुतो सु ना कीओ परिओ लोभ कै फंध।
नानक समिओ रमि गइओ अब किउ रोवत अंध। (म.९, १४२८)

बुरे काम कउ ऊठि खलोइआ। नाम की बेला पै पै सोइआ।
अउसरु अपना बूझै न इआना। माइआ मोह रंगि लपटाना। (म.५, ७३८)

ध्रिगु सरीरु कुटंब सहित सिउ जितु हुणि खसमु न पाइआ।
पउड़ी छुड़की फिरि हाथि न आवै अहिला जनमु गवाइआ। (म.३, ७९६)

इही तेरा अउसरु इह तेरी बार। घट भीतरि तू देखु बिचारि।
कहत कबीरु जीति कै हारि। बहु बिधि कहिओ पुकारि पुकारि। (कबीर, ११५९)

फिरत फिरत बहुते जुग हारिओ मानस देह लही।
नानक कहत मिलन की बरीआ सिमरत कहा नही। (म.९, ६३१)

साधो इह तनु मिथिआ जानउ।
या भीतरि जो रामु बसतु है साचो ताहि पछानो।
इहु जगु है संपति सुपने की देखि कहा ऐडानो।
संगि तिहारै कछु न चालै ताहि कहा लपटानो। (म.९, ११८६)

कबीर जगु काजल की कोठरी अंध परे तिस माहि।
हउ बलिहारी तिन कउ पैसि जु नीकसि जाहि। (कबीर, १३६५)

एह भूपति राणे रंग दिन चारि सुहावणा।
एहु माइआ रंग कसुंभ खिन महि लहि जावणा।
चलदिआ नालि न चलै सिरि पाप लै जावणा।
जां पकड़ि चलाइआ कालि तां खरा डरावणा।
ओह वेला हथि न आवै फिरि पछुतावणा। (म.३, ६४५)

कई जनम भए कीट पतंगा। कई जनम गज मीन कुरंगा।
कई जनम पंखी सरप होइओ। कई जनम हैवर ब्रिख जोइओ।
(म.५, १७६)

जैसे रैणि पराहुणे उठि चलसहि परभाति।
किआ तूं रता गिरसत सिउ सभ फुला की बागाति। (म.५, ५०)

जिसु मानुख पहि करउ बेनती सो अपनै दुखि भरिआ।
(म.५, ४९७)

चारि पाव दुइ सिंग गुंग मुख तब कैसे गुन गई है।
ऊठत बैठत ठेगा परि है तब कत मूड लुकई है।
(कबीर, ५२४)

प्रभु-परमेश्वर

जिस के सिर ऊपरि तूं सुआमी
सो दुखु कैसा पावै।
—म.५, ७४९

प्रभु-परमेश्वर

प्रभु के विषय में विचार और चर्चा आरम्भ करने लगे हैं तो श्री आदि ग्रन्थ के पहले वाक्य से ही क्यों न की जाये। इसमें बताया गया है कि ओंकार (ओम), वाहिगुरु (परमेश्वर) एक है, उसका नाम सदैव कायम रहता है, सारी उत्पत्ति उसी के द्वारा की जाती है, वह किसी से डरता नहीं, न ही उसका किसी से वैर-विरोध है, उसका अस्तित्व कभी और किसी के मिटाये नहीं मिटता, उसे जन्म भी नहीं लेना पड़ता, वह अपने आप अस्तित्व में आया है और उसकी प्राप्ति का साधन या ज़रिया गुरु की दया है।

गुरु नानक साहिब ने ओंकार के साथ जोड़े अंक '१' द्वारा स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया है कि परमात्मा एक है, सर्वव्यापक है ; और जो उसके कुछ गुण बाकी के वाक्य में बयान किये गये हैं, उनको जानकर और भी निश्चित हो जाता है कि इन गुणों के धनी का कोई शरीक नहीं हो सकता। वास्तव में उसके विषय में बताये गये उक्त तथ्य भरे कड़ाह में से चुटकी भरना मात्र है—कुल मालिक की अपार महिमा का सूक्ष्म संकेत। उसकी समस्त विशेषताओं का वर्णन तो दूर रहा, गणना भी नहीं हो सकती।

श्री राग में पहले पातशाह, गुरु नानकदेव जी फ़रमाते हैं, करोड़ों बार, करोड़ वर्षों की मेरी आयु हो जाये ; शरीर का पालन करने के लिये कोई समय न गँवाना पड़े, खाने-पीने की क्रिया में भी नहीं, केवल पवन में स्वाँस लेने से ही तृप्ति होती रहे ताकि मेरी एकाग्रता में विघ्न न पड़े ; मैं ऐसी गुफा में जा बैठूँ जहाँ चन्द्र-सूर्य की किरणें तक प्रवेश न कर सकें और सोऊँ तक नहीं, बल्कि सोने के लिये कहीं स्थान ही न हो और सपने में भी सोया न जा सके ; तब भी, इन सब सुविधाओं और पूरी एकाग्रता के बावजूद, न मैं तेरी महिमा का वर्णन कर सकूँगा, न ही तेरे उस नाम की महिमा का, जो नाम तेरे साथ मिलाप का साधन बनता है :

कोटि कोटी मेरी आरजा पवण पीअणु अपिआउ।
चंदु सूरजु दुइ गुफै न देखा सुपनै सउण न थाउ।
भी तेरी कीमति ना पावै हउ केवडु आखा नाउ। (म.१, १४)

फिर आपको याद आया कि यह तो हुई केवल मानसिक प्रयत्न की बात, यदि यही कुछ तप के ज़ोर से करके देखा जाये? इस विषय में आपने सोचा और नतीजा निकाला ; अगर बार-बार मेरी इस देह के टुकड़े कर दिये जायें—कीमे की तरह बारीक, और शरीर के उन कणों को पीस दिया जाये और उस पीसे हुए तन को जलाकर राख में बदल दिया जाये तो भी यह सारी तपस्या मेरे प्रभु और उसके नाम की महिमा का अनुमान लगाने में सफल नहीं होगी :

कुसा कटीआ वार वार पीसणि पीसा पाइ।
अगी सेती जालीआ भसम सेती रलि जाउ।
भी तेरी कीमति ना पवै हउ केवडु आखा नाउ। (म.१, १४)

कुछ अधिक सोचने पर ख़याल आया, एक मार्ग और भी है, खोज और विद्वत्ता का। पर अगर तेरी खोज में घर-बार त्याग दूँ, और पक्षी बनकर इतना ऊँचा उड़ूँ कि सारे संसार की दृष्टि से ओझल हो जाऊँ, बिना कुछ खाये-पिये सब साथ छोड़कर,सौ आकाशों की दूरियों को पार कर आऊँ या फिर तेरे विषय में गुणी-ज्ञानियों द्वारा लिखे लाखों मन बोझ के ग्रन्थ-शास्त्र एकत्र करके, हवा के हाथ में कलम थाम कर बहुत तेज गति से तेरी और तेरे नाम की थाह लेने बैठूँ तो भी निराशा का ही मुँह देखना पड़ेगा :

पंखी होई कै जे भवा से असमानी जाउ।
नदरी किसे न आवउ ना किछु पीआ न खाउ।
भी तेरी कीमति ना पवै हउ केवडु आखा नाउ।
नानक कागद लख मणा पड़ि पड़ि कीचै भाउ।
मसू तोटि न आवई लेखणि पउणु चलाउ।
भी तेरी कीमति ना पवै हउ केवडु आखा नाउ। (म.१, १४)

जब हम तारों भरे आकाश पर नज़र डालते हैं तो हमें उसका कितना भाग दिखाई देता है? बिलकुल ही मामूली। तो भी हमें उसकी सुन्दरता की कुछ झलक तो मिल ही जाती है। गुरु अर्जुन साहिब 'अगम अगाधि सुनहु जन कथा' से आरम्भ होती अपनी एक अष्टपदी (सारंग राग, १२३५) में बताते हैं कि वह अगम है, अगाध है और उसकी अनन्त शोभा किसी भी चतुर लेखन या गणना को असत्य साबित कर देती है, और तब भी वे उसकी प्रभुता के विषय में बहुत कुछ बता देते हैं। जैसे कि अनेक ब्रह्मा उसकी हाज़िरी में वेदों के उच्चारण में लगे हुए हैं; अनेक शिव ध्यान-मग्न उसकी सेवा में खड़े हैं; कितने ही व्यक्ति

उसकी अंश-मात्र शक्ति के सहारे पूजनीय अवतार कहलाकर चले गये, कितने ही इन्द्र, देवताओं के शिरोमणि, आज उसकी चाकरी में हाथ बाँधकर खड़े हैं; कितने ही पवन, जल, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सिर नमाये उसके आदेश की बाट जोह रहे हैं; कितनी ही धरतियाँ, कामधेनु गौएँ और कितने ही कल्पवृक्ष उसकी रज़ा या इच्छा के अनुसार कुछ भी हाज़िर करने के लिये तत्पर रहते हैं। उसके पास अनेकों ही न्याय करने वाले धर्मराज हैं और हैं अनगिनत सम्पत्ति तथा समृद्धि बाँटनेवाले कुबेर। यह बताना असम्भव है कि वह अब तक कितनी बार प्रलय ला चुका है। और अब तक कितनी बार उसने सम्पूर्ण सृष्टि की नये सिरे से रचना की है। उसकी रंग-बिरंगी माया की थाह नहीं पाई जा सकती, न ही उन अनहत संगीतों का वारापार लिया जा सकता है जो उसके दरबार में निरन्तर बजते रहते हैं। क्या उसने कर दिया, और क्या वह करनेवाला है, यह वह स्वयं ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। उस घट-घट वासी को जिस किसी ने भी जप लिया, वही खुशी में सराबोर हो गया, कृतार्थ हो गया।

कबीर साहिब उसका वर्णन करने लगे तो वे भी करोड़ों की गिनती से नीचे नहीं उतर सके :

कोटि सूर जा कै परगास। कोटि महादेव अरु कबिलास[१]।
दुरगा कोटि जाकै परदनु करै[२] ब्रहमा कोटि बेद उचरै।
(कबीर, ११६२)

और तो और, उसे याद करनेवालों द्वारा रखे गये उसके नाम भी अनगिनत हैं :

हरि के नाम असंख अगम हहि। (म.४, १३१९)

वे इतने हैं कि शेषनाग द्वारा हज़ार फणों के द्वारा जपे जाने पर भी समाप्त नहीं होते : 'सहस फनी जपिओ सेखनागै हरि जपतिआ अंतु न पावैगो' (म.४, १३०९)। पर इन नामों की आश्चर्य-पूर्ण बहुलता से उसके केवल एक ही होने के सम्बन्ध में कोई गलतफ़हमी नहीं होनी चाहिए। वह है एक ही, अपने जैसा अकेला, आप।

बिलकुल शुरू में परमेश्वर केवल स्वयं आप ही था। तब न आकाश था, न पाताल, न कोई लोक। उस समय न उसे कोई सलाह देता था, न वह किसी से

१. कैलाश पर्वत जहाँ शिव का निवास है २. चरण दबाना।

कुछ पूछता था, क्योंकि कोई दूसरा अस्तित्व में ही नहीं आया था। इसलिये जो कुछ वह करता था, अपनी रज़ा या मौज के अनुसार खुद ही करता था :

आपणा आपु उपाइओनु तदहु होरु न कोई।
मता मसूरति आपि करे जो करे सु होई।
तदहु आकासु न पातालु है न त्रै लोई।
तदहु आपे आपि निरंकारु है ना ओपति होई।
जिउ तिसु भावै तिवै करे तिसु बिनु अवरु न कोई। (म.३, ५०९)

जैसा कि गुरु रामदास जी बताते हैं, प्रभु की लीला अपरंपार है। वह प्रत्येक जीव के हृदय में बसता है तो भी सबसे अलग और अलेप रहता है। वह अपने आपमे ही लीन रहना पसन्द करे तो युगों के युग उसी तरह बिता देता है, तब केवल वह आप ही होता है, न कोई वेद, न पुराण, न शास्त्र, न कोई अन्य धर्म-पुस्तक। वह प्रभु एक विशाल समुद्र की तरह है, कितना गहरा, यह वही जानता है। उसकी थाह पा सकने वाला अभी तक कोई पैदा नहीं हुआ :

आपे सभ घट अंदरे आपे ही बाहरि।
आपे गुपतु वरतदा आपे ही जाहरि।
जुग छतीह गुबारु करि वरतिआ सुंनाहरि।
ओथै वेद पुरान न सासता आपे हरि नरहरि। (म.३, ५५५)

परमेश्वर निरंजन है, मलिनताओं से रहित। अगर कोई गन्दगी से भरा हो और उसी में मिल जाये, तो वह गन्दगी उसकी सत्ता का भाग बन जायेगी और वह निर्मल नहीं रहेगा। सो उसके मिलाप के किसी भी इच्छुक के लिये उसका स्पर्श प्राप्त करने से पहले अपनी मलिनता को धो लेना आवश्यक है : 'हरि जीउ निरमल निरमला निरमल मनि वासा' (म.३, ४२६)। वह जो उज्ज्वलता से उज्ज्वल, स्वच्छता से स्वच्छ है, वह तभी अन्तःकरण में बसेगा जब जीवात्मा अपने आपको पूर्ण रूप से निर्मल करके उसमें समाने के योग्य बना ले।

हमारा स्वामी कितना शक्तिवान है, इसका अनुमान लगाना हमारे बस की बात नहीं। कोई चींटी अपने तुच्छ बाहुओं से किसी पहाड़ का कद कैसे नाप सकती है ? वह प्रभु क्या-क्या कर सकता है, इस तरह की गिनती के कोई अर्थ नहीं होंगे, क्योंकि उसके लिये कुछ भी कर सकना असम्भव नहीं। उदाहरण के लिये, वह चाहे तो शेर और बाज़ जैसे माँसाहारी जानवरों को घास खाने पर विवश कर दे, और जो जीव वनस्पति पर जीवित रहते हैं, जिनके मुँह और पेट केवल

इसी खुराक के लिये बनाये गये हैं, माँस आहार को उनके जीवन का आधार बना दे। नदी का पानी जब वेग से बहता है तो वह चिकनी मिट्टी के ऊँचे टीबों को ही बहाकर नहीं ले जाता, विशाल चट्टानों तक को चूर-चूर कर देता है; पर यदि उस प्रभु की मौज हो तो वह उन्हीं तूफानी नदियों के बीच सफेद रेत के ढेर खड़े कर दे, और उनको बेबस होकर अपनी धारा बदलनी पड़ जाये। दूसरी ओर, यह भी उसकी सामर्थ्य में है कि जहाँ आज विशाल रेगिस्तान फैले हुए हैं, कल वहाँ समुद्र का अथाह जल भरा दिखाई दे। वह कीड़े जैसे किसी तुच्छ जीव को बादशाह के सामने ठहरने की ताकत बख़्शता है और किसी पूरी की पूरी सेना को मिट्टी में मिला देने की भी :

सीहा बाजा चरगा कुहीआ एना खवाले घाह।
घाहु खानि तिना मासु खवाले एहि चलाए राह।
नदीआ विचि टिबे देखाले थली करे असगाह।
कीड़ा थापि देइ पातिसाही लसकर करे सुआह। (म.१, १४४)

अगर यह याद रख सकें कि वह एक पलक झपकने के समय में सारी सृष्टि को रच देता है और उसे मिटाने में इससे अधिक समय नहीं लगाता : 'हरन भरन जा का नेत्र फोरु' (म.५, २८४)—तो उसकी शक्ति का अच्छा बोध हो जायेगा, तथा और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

ऊपर कही बातों से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वह कोई क्रूर या अत्याचारी व्यक्ति है। नहीं, बिलकुल नहीं। वह तो बेसहारों का सहारा है, बे-आसरों का आसरा, निमानों का मान है। अगर कोई प्राणी घोर विपत्ति में फँसा हो, किसी ओर से उसे सहारा न मिलता हो, लोग उसके खून के प्यासे हों, सगे-सम्बन्धी उसे मझदार में छोड़कर चले गये हों, न कोई बचाव हो, न शरण, ऐसी दशा में अगर वह प्रभु की शरण में आ जाये तो वह उसे तप्त वायु तक से बचा लेता है :

जा कउ मुसकलु अति बणै ढोई कोइ न देइ।
लागू होए दुसमना साक भि भजि खले।
सभो भजै आसरा चुकै सभु असराउ।
चिति आवै ओसु पारब्रहमु लगै न तती वाउ।
साहिबु निताणिआ का ताणु।
आई न जाई थिरु सदा गुर सबदी सचु जाणु। (म.५, ७०)

मुसलमान जानते हैं, अल्लाह वाहिद-हू , ला-शरीक है, वह एक है और कोई उसका साझी नहीं है। सारी रचना उसी ने पैदा की है, केवल मोमिन (मुसलमान) ही नहीं। ईसाइयों को पता है कि प्रभु एक है और सारा जगत उसका सृजन किया हुआ चमत्कार है। हिन्दू और सिक्ख भी ओम् या केवल वाहिगुरु को कर्ता मानते हैं। यही बात बाकी धर्मों के अनुयायियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। पर दुर्भाग्य से वे बार-बार इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि अल्लाह, खुदा, ओम् और वाहिगुरु अलग-अलग हस्तियाँ हैं और उस एक को अपने धर्म में प्रचलित नामों से अलग किसी नाम से याद करने वालों का खून बहाना पुण्य-कर्म मान लेते हैं। हिन्दुओं में जन्मे और मुसलमानों में पले कबीर साहिब बताते हैं :

एते अउरत मरदा साजे ए सभ रूप तुमारे।
कबीरु पूंगरा राम अलह का सभ गुर पीर हमारे। (कबीर, १३४९)

राम और अल्लाह हमारे सर्व-साँझे कुल मालिक के नाम हैं। इस वास्तविकता की ओर से अन्धे, बहरे लोग ही आपस में वैर-विरोध पालते और लहू-लुहान होते हैं।

जो भाँति-भाँति की सृष्टि—अंडज, जेरज, सेतज उद्भिज[1] हमारे देखने में आती है, उसमें परमेश्वर आप ही रूप धारण किए हुए है और सब खण्ड, मण्डल, भवन उसी का प्रकाश हैं। इस जगत रूपी हार में वह प्रभु धागा है, और हम उसमें पिरोई जीव रूप मणि हैं। प्रभु उस हार को पिरोनेवाला है, सँभाल कर रखने का ज़ामिन है, और जब कभी उसकी ऐसी मौज हो धागे को खींचकर हार को खण्ड-खण्ड भी वही करता है। उसका स्वरूप हमारे समझने-समझाने से परे है। वह स्वयं अपने आपको जनाये तब कोई उसको जान पाता है :

आपे अंडज जेरज सेतज उतभुज आपे खंड आपे सभ लोइ।
आपे सूतु आपे बहु मणीआ करि सकती जगतु परोइ।
आपे ही सूतधारु है पिआरा सूत खिंचे ढहि ढेरी होइ।
....
आपे खेल खेलाइदा पिआरा आपे करे सु होइ।
आपे अलखु न लखीऐ पिआरा आपि लखावै सोइ। (म.४, ६०४)

१. 'अंडज' वे जीव हैं जो अण्डों से जन्म लेते हैं; 'जेरज' जेर या झिल्ली में लिपटे पैदा होनेवाले, 'सेतज' पसीने या अधिक गर्मी से उत्पन्न होनेवाले और उद्भिज धरती में से पैदा होनेवाले वनस्पति, वृक्ष आदि।

अगर कोई कहे, मैं अपनी चतुराई के कारण अपने काम ठीक तरह से कर लेता हूँ और कोई दूसरा अपनी मूर्खता के कारण मार खाता है, तो यह सही नहीं होगा। इसी तरह, न कोई अपनी त्रुटियों के दोष से बलहीन रह जाता है, न कोई अपने साहस से शूरवीरता का प्रदर्शन कर दिखाता है। सच तो यह है कि परमेश्वर जैसा किसी को बनाना चाहता है, वह वैसा ही बन जाता है। नाटक के पात्रों को उनके अलग-अलग कार्य सौंपे जाते हैं, उन्हें वे अपने आप ही नहीं सँभाल लेते। और तो और, प्रभु की आराधना में भी कोई अपने आप नहीं लगता। उसके भाग्य में इस प्रकार की रेखा पड़ी हो, तभी वह इस ओर प्रेरित होता है :

ना को चतुरु नाही को मूड़ा। ना को हीणु नाही को सूरा।
जितु को लाइआ तित ही लागा। सो सेवकु नानक जिसु भागा।
(म.५, २३८)

जन्म-मरण कर्मों के कारण होता है। कर्म बुरे हों तो उनका फल भोगने के लिये संसार में आना पड़ता है, अगर अच्छे हों तो भी। प्रश्न उठता है कि जब जीवात्मा पहली बार यहाँ भेजी गई थी तब तो उसने भला या बुरा कुछ भी नहीं किया हुआ था, तब तो यह मूल जन्म एक निष्पाप मासूम को दिया गया था, पर क्या अकारण ही वह दण्ड न बन गया ?

जैसा कि हमें बताया गया है, कर्ता-पुरुष ने सृष्टि अपनी मौज से रची, और रचने के बाद वह अपनी लीला का तमाशा देख रहा है, और इस तमाशे पर गर्व कर रहा है :

हुकमी सहजे सृसटि उपाई।
करि करि वेखै अपणी वडिआई। (म.३, १०४३)

इसकी विशालता, इसकी विभिन्नता, इसकी सुन्दरता आदि गुणों के कारण कर्ता का यह कृत्य मान करने योग्य बात है और उसे देखकर उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है—उच्च स्तर का आनन्द, आश्चर्य : 'वेखि विडाणु रहिआ विसमादु' (म.१, ४६४)।

जीवात्मा कर्तापुरुष का अपनी अंश है, उस प्रकाश-स्वरूप की एक उज्ज्वल किरण। जब इसे पैदा किया गया था, यह सत्पुरुष जैसी ही निर्मल थी, हर प्रकार के दोष से रहित, और उस समय भी इस बात में कोई शंका को स्थान नहीं था कि परमेश्वर प्रेम का स्वरूप है, दया का पुंज है। इसलिये यह सोचा भी नहीं जा

सकता कि उसने संसार को किसी अजायब-घर की तरह साजा हो, यहाँ आई आत्माओं को भेजे जाने की योजना उन्हें किसी कसाई के बकरे बनाना हो या किसी भड़भूँजिन की भट्ठी में भुने जाने वाले दाने। वह हम सबका पिता है और हर जीवात्मा उसकी अपनी सन्तान। उसमें किसी को सताने की प्रवृत्ति है, ऐसा तो सोचा भी नहीं जा सकता। इसलिये वह अपने अलग-अलग बालकों में कोई भेद-भाव क्यों करेगा? उसके भण्डार हर पदार्थ से भरपूर हैं। इसलिये अगर किसी जीव को किसी ओर से कमी का सामना करना पड़े तो वह इसलिये नहीं कि परमेश्वर के घर कमी हो गई है या उसने सबकुछ होते हुए अपनी मुट्ठी भींच ली है। हमारा मालिक खुशियाँ मनाने और खुशियाँ बाँटने की प्रकृति वाला है: 'कबीर को ठाकुरु अनद बिनोदी' (कबीर, ११०५), और वह चाहता है कि उसका बाल-परिवार भी सुख-स्वाद के साथ अपनी आयु व्यतीत करते हुए परम-पद को प्राप्त हो:

हंसदिआ खेलंदिआ पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुकति।
(म.५, ५२२)

अपनी ज़िन्दगी को उसके हुक्म और रज़ा के अनुसार स्वयं को उसके खेल का पात्र या अभिनेता मानकर जीना चाहिए: 'बाजीगरि जैसे बाजी पाई। नाना रूप भेख दिखलाई' (म.५, ७३६)। तब हमें न कोई दुःख लगे, न किसी पीड़ा का अनुभव हो। जो मुसीबतें हमें सहन करनी पड़ती हैं, उन्हें हम स्वयं अपनी गलत भावनाओं और करतूतों के द्वारा अपने गले में डाल लेते हैं।

अगर किसी सम्राट का राज बहुत विशाल हो, उसके पास धन-दौलत के अनन्त ख़ज़ाने बाँटने के लिये हों और वह अनेक शक्तियों का स्वामी हो, तो सब उसकी शक्ति का सिक्का मानने लगते हैं, पर प्रभु-परमेश्वर की उच्चता, विशेषता, श्रेष्ठता इन्हीं गुणों तक सीमित नहीं, वह बड़ा उदार-हृदय और मेहरबान भी है। हम अनगिनत कमज़ोरियों के शिकार हैं, बीत चुके जन्मों में अनेक पाप कर चुके हैं और अब भी कितने ही पाप प्रतिदिन हम से होते जा रहे हैं। पर जब उसमें दया की हिलोर उठती है तो वह उन सब कुकर्मों को अनदेखा करके हमारी बाँह पकड़ लेता है—ऐसी कठिन घाटियों में, जहाँ कोई और सहायता न कर सकता हो:

तहा सखाई जह कोइ न होवै। कोटि अप्राध इक खिन महि धोवै।
(म.५, ११३७)

गिरने वाला चाहे कितना ही गिर जाये, इससे उस प्रभु की उदारता प्रभावित नहीं होती, न दुष्कर्मियों का समूह देखकर वह दुःखी होता है, उसे ऐसी पापात्माओं का उद्धार करते ज़रा भी देर नहीं लगती:

कोटि पतित उधारे खिन महि करते बार न लागै रे। (म.५, २०९)

अपनी दया के भण्डार खोलने के लिये वह किसी शुभ दिन का विचार नहीं करता, कोई मुहूर्त नहीं निकलवाता। उसकी दया की वर्षा हर समय होती रहती है:

असंख खते खिन बखसनहारा। नानक साहिब सदा दइआरा।
(म.५, २६०)

अगर वह जीवों की अच्छाइयों-बुराईयों को देखने लगे तो वे कभी छूट ही न सकें। जैसा कि गुरु नानक साहिब बताते हैं, बख़्शिन्दगी को उसने अपना बिरद बना रखा है। इस बिरद का पालन करते हुए वह हम जैसे भूले हुओं को गले लगाकर हर कष्ट से बचा लेता है।

मेरे गुण अवगन न बीचारिआ। प्रभि अपणा बिरदु समारिआ।
कंठि लाइ कै रखिओनु लगै न तती वाउ जीउ।
(म.१, ७२)

अपने किये दान, पुण्य, पाठ, भजन या अन्य शुभ कर्मों के हिसाब को जोड़ कर कोई भी प्राणी पार नहीं उतर सकता। हमारे लेखे को देखा जाय तो बचाव सम्भव ही नहीं। जब वह कृपालु होता है, सारे पापों, गुनाहों पर लकीर फेर देता है, तब ही उससे मिलने का सिलसिला बनता है:

हरि जीउ लेखै वार न आवई तूं बखसि मिलावणहारु।
गुरु तुठै हरिप्रभु मेलिआ सभ किलविख कटि विकार। (म.३, १४१६)

जो कोई भी उसकी शरण लेता है, उसे वह हृदय से लगा लेता है, उसे अपना बना लेता है, यह उसका बिरद जो है:

जो सरणि आवै तिसु कंठि लावै इहु बिरदु सुआमी संदा।
(म.५, ५४४)

उसकी शरण में जाना चाहिए—मान-अभिमान छोड़कर, छल-कपट त्यागकर, सारे हथियार फेंककर, माँ की गोद में लौट आये बालक की भाँति। फिर देखो वह क्या करता है:

हम बारिक सरिन प्रभ दइआल।
अवगन काटि कीए प्रभि अपुने राखि लीए मेरै गुर गोपालि।
ताप पाप बिनसे खिन भीतरि भए कृपाल गुसाई।
(म.५, १३३८)

'डूबते को तिनके का सहारा' आम कहावत है। पर तिनका डूबते मनुष्य को बचा नहीं सकता, एक झूठी आशा को ही जन्म देकर रह जाता है। अगर किसी को सहारे की आवश्यकता हो तो प्रभु ही का सहारा तकना चाहिए। उसकी बड़ाई यह है कि वह अपनी शरण में आये जीवों की रक्षा छोटे-मोटे प्यादों या घुड़सवारों से नहीं करवाता, उनके सहारे के लिये अपना कन्धा देता है और जब उसका हाथ पीठ पर हो तो किसी और की विरोध में खड़े होने की, बुरी दृष्टि से देखने की भी क्या मजाल !

जन का रखवाला आपि सोइ। जन कउ पहुचि न सकसि कोइ।
(म.५, ११८३)

वह हमारी सहायता करने वहाँ पहुँचता है, जहाँ मित्र, सगे-सम्बन्धी, कोई भी सहायता नहीं कर सकते :

तहा सखाई जह कोइ न होवै। (म.५, १३३७)

जब हम मन-माया के छल में बाल-बच्चों में मस्त होते हैं या अपनी धन-सम्पत्ति में डूबे रहते हैं या विषय-विकारों में उलझ कर अन्धे होते हैं और परमात्मा का हमें चेत तक नहीं होता, वह दया का सागर उस समय भी हमारी ओर से बेखबर नहीं होता :

फरीदा पिछल राति न जागिओहि जीवदड़ो मुइओहि।
जे तै रबु विसारिआ त रबि न विसरिओहि।
(फ़रीद, १३८३)

जब हम किसी मुसीबत की वजह से अस्पताल में भर्ती होते हैं तो डाक्टर हमारी सँभाल अपने हाथ में ले लेता है। अगर वह हमें पलंग पर लिटा कर भारी पत्थर पैरों से लटका दे तो हमें एतराज़ नहीं होता, जाँच के लिये कितना ही खून नाड़ियों में से निकाल ले तो भी हम माथे पर बल नहीं लाते, वह ज़हर जैसी कड़वी दवा पीने के लिये कहता है तो उसे शर्बत मान कर निगल लेते हैं, इंजेक्शन के लिये बार-बार सूइयाँ चुभाता है तब भी मुँह से उफ नहीं निकालते। यह सब इसलिये कि हमें पता है कि वह जो कुछ कर रहा है, हमारा हितैषी होने के नाते,

हमारे भले के लिये कर रहा है। बीमारी हमारे जीवन की अनेक समस्याओं में से एक है, जब उस कृपानिधान ने हमारी सब समस्याओं का भार अपने कन्धों पर उठाया हुआ है तो हम किसी भी संकट में घबरायें क्यों ! जो कुछ हमारे साथ बीतता है हमारे उस हमदर्दी की मौज के अनुसार बीतता है : 'तेरा कीता होइ त काहे डरपीऐ' (म.५, ५२२)। वह कदम-कदम पर हमारी रक्षा करता है, जिस रक्षा में किसी भी समय कमी नहीं आती :

आदि मधि अरु अंति परमेसरि रखिआ। (म.५, ५२३)

पहली बात, हम चाहे किसी प्रकार की स्थिति में से गुज़र रहे हों, परमात्मा उसका पूरी तरह जानकार होता है, जितना जानकार कोई दूसरा हो नहीं सकता, हम खुद भी नहीं। और यह क्यों न हो, वह हमारे अन्तर में बसता है, हर क्षण, हर पल हमारे अंग-संग रहता है : 'सदा हजूरि दूरि न जाणहु' (म.३, ११६)। दूसरे, अपने मनचाहे परिणाम पैदा करने के लिये हम जो मर्ज़ी करते रहें, अन्त में होता वही है जो प्रभु को मंजूर हो।

फिर जिस प्रकार की रक्षा और पालन वह हमारा करता है उसका उदाहरण मिलना सम्भव नहीं। जब हमारा शरीर अस्तित्व में आता है तो उसका आकार इतना छोटा होता है कि नंगी आँख उसे देख भी नहीं सकती। वह अति अल्प ही नहीं, पूर्ण रूप से निर्बल और असहाय भी होता है। इसके अतिरिक्त वह घिरा होता है चारों ओर से आग और पानी द्वारा—जठराग्नि, गर्भाशय का जल—तो भी उसका बाल तक बाँका नहीं होता। उसके हाथ काम नहीं करते, मुँह गति में नहीं आता, न कोई सहायक, न हमदर्द, फिर भी आवश्यक पौष्टिक खुराक निरन्तर उस तक पहुँचती रहती है और वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता और विकसित होता रहता है।

कछुई पानी का जीव है, पर वह अण्डे देती है धरती पर। वह उन अण्डों को अपने शरीर का सेंक नहीं दे पाती, न खोलों में से निकले बच्चों को चोगा देती या दूध पिलाती है। इसके बावजूद उनकी परवरिश में कोई कसर नहीं रहती।

इसके अलावा वे कीड़े भी हैं जो पत्थरों में पैदा होते और पलते हैं। न वे बाहर आ सकते हैं, न किसी और के लिये उन तक पहुँचने का रास्ता होता है। और वे भूखे-प्यासे फिर भी नहीं मरते।

क्या इससे यह समझ नहीं आ जानी चाहिए कि जो सिरजनहार नितान्त बेसहारा जीवों की हाथ देकर रक्षा करता है, वह ऐसी दया हम पर भी अवश्य

करेगा, उसके संरक्षण के होते हुए हमारा चिन्ता में घुलना व्यर्थ है :

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर बिबहि न जानसि कोई।
जो धावहि ब्रहमंड खंड कउ करता करै सु होई। रहाउ।
जननी केरे उदर उदक महि पिंडु कीआ दस दुआरा।
देइ अहारु अगनि महि राखै ऐसा खसमु हमारा।
कुंमी जल माहि तन तिसु बाहरि पंख खीरु तिन नाही।
पूरन परमानंद मनोहर समझि देखु मन माही।
पाखणि[1] कीटु गुपतु होइ रहता ताचो मारगु नाही।
कहै धंना पूरन ताहू को मत रे जीअ डरांही।

(धन्ना, ४८८)

हम, उस परम पुरुष के बच्चे, कमज़ोरियों के पुतले हैं। बच्चे को अपने भले-बुरे की, हित-अहित की पूरी समझ नहीं होती, इसलिये उससे कई भूलें सहज-स्वाभाविक ही हो जाती हैं। माता-पिता अपनी सन्तान को अच्छी तरह जानते हैं, और उसकी कमज़ोरियों और कमियों को भी। तो भी वे उसके साथ वैसा व्यवहार नहीं करते जैसा कोई न्याय की कुर्सी पर बैठा पराया न्यायाधीश किया करता है। वे अपनी भूल करनेवाली सन्तान से नाराज़ तो होते हैं, उसे डाँटते-फटकारते भी हैं पर उसे त्याग नहीं देते। उसकी भूल बताकर, ताड़ना देकर उसे छाती से लगा लेते हैं। यही हमारा परमपिता परमेश्वर करता है :

जैसा बालकु भाइ सुभाई लख अपराध कमावै।
करि उपदेस झिड़के बहु भाती बहुड़ि पिता गलि लावै।

(म.५, ६२४)

वह पिता भी है, प्रेम-स्वरूप भी, बख़्शनहार भी ; हमारे किये के लिये हमें सजा देते हुए वह खुद अनजान नहीं रह सकता।

परमेश्वर की बख़्शिशों की कोई बराबरी नहीं। वह देनेवाला एक है और उसकी दात प्राप्त करनेवाले सृष्टि के अनगिनत जीव। देते समय वह न किसी का धर्म देखता है, न जाति-वर्ण का भेद करता है। धर्मात्मा को भी देता है, पापी को भी। उसे एक बड़ी और महान ज़िम्मेदारी निभानी होती है, इसलिये उसके पास दातों के अनेक, अनन्त भण्डार हैं। इन भण्डारों में कभी कमी नहीं आती :

---

१. पत्थर।

ददा दाता एकु है सभ कउ देवनहार।
देंदे तोटि न आवई अगनत भरे भंडार। (म.५, २५७)

उस दाता की एक और विशेषता यह है कि उससे हमें माँगने की ज़रूरत नहीं। जैसी भी हमारी दशा हो, उसे पहले मालूम होता है। फिर अनावश्यक प्रार्थनाएँ किस लिये की जायें ?

विणु बोलिआ सभु किछु जाणदा किसु आगै कीचै अरदासि।

(म.३, १४२०)

यह तो उसका दस्तूर या नियम नहीं कि किसी को उसके आगे बार-बार हाथ फैलाने पड़ें, फिर-फिर गिड़गिड़ाना पड़े। वह किसी को बार-बार भिखारी बनाकर नहीं बुलाता, बल्कि एक ही बार झोली भरके भेजता है। वह बहुत कुछ दे देता है, आशाओं से कहीं अधिक, और फिर भी वह गिनती नहीं करता, यह नहीं सोचता कि इससे कम से काम चल सकता था :

दाति करै नही पछोतावै। एका बखस फिरि बहुरि न बुलावै।

(म.५, १३३७)

उसे अपनी दात बाँटने के लिये कोई योजना तैयार नहीं करनी पड़ती, न उसे किसी की इजाज़त की ज़रूरत होती है :

वडी वडिआई जा पुछि न दाति। (म.१, ४६३)

फ़रीद साहिब ने अपने श्लोकों में ठीक ही कहा था :

जो जागंन्हि लहंनि से साई कंनो दाति। (फ़रीद, १३८४)

जो कोई नींद ख़राब करके अपने समय को प्रभु के लेखे लगायेगा उसे कुछ प्राप्त होगा। पर जो वचन गुरु नानक साहिब ने उक्त सलोक को विचार कर उचारे हैं वे ठीक और सही थे, क्योंकि इसके बिना पता नहीं चलता कि वह परमात्मा कितना बेपरवाह है, कितना उदार-हृदय है। आप फ़रमाते हैं :

दाती साहिब संदीआ किआ चलै तिसु नालि।
इकि जागंदे ना लहन्हि इकन्हा सुतिआ देइ उठालि।

(फ़रीद, १३८४)

कोई वर्षों जप-तप में समय बर्बाद कर रहा हो तो भी सम्भव है कि उसके हाथ कुछ न आये और दूसरे की केवल बन्दगी, विनती ही प्रभु के द्वार पर स्वीकार हो जाये। वह शाहंशाह है। चाहे तो किसी की भेंट की हुई मोहरों के अम्बार की ओर से मुँह फेर ले और किसी दूसरे से बासी फूल की भेंट स्वीकार

करके उसे कुछ भी बख़्श दे।

वह प्रभु हमारा पिता है : 'हम बारिक पिता प्रभु दाता' (म.५, १२६६)। जिसका पिता उस जैसा दाता हो, उसे कोई कमी नहीं सता सकती, क्योंकि वह तो उस कभी समाप्त न होनेवाले ख़जानों के मालिक से जो चाहे माँग ले :

जिस का पिता तू है मेरे सुआमी तिसु बारिक भूख कैसी।
नव निधि नामु निधानु ग्रिहि तेरै मनि बांछै सो लैसी।
(म.५, १२६६)

कृपा-पुंज परमेश्वर सगी मां की तरह खिला-पिला कर ही हमारा पालन-पोषण नहीं करता, हमारा जी बहलाता है, हर भाँति के आराम, सुख, स्वाद प्रदान करता है और हमारे हित के लिये, यहाँ-वहाँ हर समय अंग-संग रहता है। वह सच्चा मित्र है, और अत्यन्त गुणवान पथ-प्रदर्शक भी :

अपनी उकति खलावै भोजन अपनी उकति खेलावै।
सरब सूख भोग रस देवै मन ही नालि समावै।
हमारे पिता गोपाल दइआल।
जिउ राखै महतारी बारिक कउ तैसे ही प्रभ पाल।
मीत साजन सरब गुण नाइक सदा सलामति देवा।
ईत ऊत जत कत तत तुम ही मिलै नानक संत सेवा। (म.५, ६८०)

देनहार प्रभु खुद है, देने में समर्थ भी वही है, फिर किसी और से क्यों कुछ माँगा जाये ? :

मानुख की टेक ब्रिथी सभ जानु। देवन कउ एकै भगवानु। (म.५, २८१)

जीवों की रोज़ी प्रभु के सिवाय और किसी के अधिकार में नहीं, इसलिये हमें केवल उससे ही आशा करनी चाहिए :

न रिजकु दसत आ कसे। हमारा एकु आस वसे। (म.१, १४४)

उस दाता की बख़्शिश अनेक, अनन्त हैं। उससे कुछ भी माँगा जा सकता है, और वह मिल जाता है, मुक्ति तक भी। इसके विपरीत, अगर किसी दूसरे के आगे पल्ला पसारा जाये तो केवल शर्मिन्दगी ही प्राप्त होगी। इसलिये गुरु अर्जुन साहिब फ़रमाते हैं :

मांगउ राम ते सभि थोक।
मानुख कउ जाचत स्रमु पाईऐ प्रभ कै सिमरनि मोख। (म.५, ६८२)

जिस कर्तापुरुष ने जीव को पैदा किया है, उसका पालन-पोषन और रक्षा

का भार भी उसने स्वयं अपने सिर ले रखा है। फिर जीव क्यों कभी भी दिल छोटा करे, क्यों घबराये ? :

तू काहे डोलहि प्राणीआ तुध राखैगा सिरजणहारु।
जिनि पैदाइसि तू कीआ सोई देइ आधारु। (म.५, ७२४)

तुच्छ-बुद्धि लोग अपनी छोटी-बड़ी समस्याओं के निवारण या छोटे-बड़े स्वार्थों की पूर्ति के लिये देवी-देवता तथा इसी तरह की किसी न किसी टेक का सहारा ढूँढते हैं। जैसे कोई मछली समुद्र में बसेरा ढूँढने की बजाये फुट दो फुट गहरी तलैया में जाकर रहे। थोड़े पानी में पड़ी मछली को कोई मामूली शिकारी भी पकड़ सकता है। इसके अलावा छोटे खड्ड या तलैया के पानी को सूखने में भी देर नहीं लगती, और उसमें रहने वाली मछली शीघ्र ही बेसहारा हो जाती है और पहले जैसी किसी और तलैया में छिपने की कामना करने लगती है। पर इस प्रकार भटकते जीव को कोई भी समझदार नहीं कहेगा। सहारा तो सदा समुद्र का ही लेना चाहिए, चाहे उसका पानी खारा ही क्यों न हो। इसी तरह जीव को अपना इष्ट हरि-परमेश्वर को ही बनाना चाहिए, चाहे ऐसा करने में उसे मन-इन्द्रियों के घटिया स्वाद क्यों न त्यागने पड़ें :

कबीर थोरै जलि माछुली झीवरि मेलिओ जालु।
इह टोघनै न छूटसहि फिरि करि समुंदु सम्हालि।
कबीर समुंदु न छोडीऐ जउ अति खारो होइ।
पोखरि पोखरि ढूढते भलो न कहि है कोइ। (कबीर, १३६७)

साधारण दुनियादारों को मंत्रियों, अधिकारियों, न्यायाधीशों तथा अन्य सरकारी कर्मचारियों से कई प्रकार के काम पड़ते हैं और वे उन तक पहुँचने के लिये उन अधिकारियों के मित्रों या नाते-रिश्तेदारों को ढूँढने की कोशिश करते हैं : उसका जन्म कहाँ हुआ, कहाँ सगाई या शादी हुई, उसका किसके साथ उठना-बैठना या मेलजोल है, आदि। गुरु नानक साहिब प्रभु-मिलाप के जिज्ञासुओं को उसके बारे में जानकारी देने लगते हैं तो एक बार तो उस तक पहुँच पाने की सब आशाओं पर पानी फेर देते हैं। आप अलख, अपार, अगम से आरम्भ करके बताते जाते हैं कि वह हमारी समझ से परे है, उसका पार कोई नहीं, वह ज्ञानेन्द्रियों की पकड़ में नहीं आता, समय और स्थान के बन्धन उस पर लागू नहीं होते, जन्म-मरण का चक्र उसे नहीं छूता, ऊँचे या नीचे किसी भी कुल या जाति से उसका लगाव नहीं, वह किसी के बनाये नहीं बना, उसे किसी से

मोह या राग नहीं, उसकी कोई माँ नहीं, बाप नहीं, पत्नी नहीं, सन्तान नहीं, रिश्तेदार नहीं। उसका न कोई रूप है, न रंग, न नयन-नक्श। विचार उठता है कि इस तरह के विरक्त निराले, निर्मोही तक पहुँचने का हरगिज़ कोई साधन नहीं बन सकेगा। जो दूरी वह अपने और अपने जीवों के बीच खड़ी कर चुका है, उसे कौन पाट सकेगा ?

अलख अपार अगंम अगोचर ना तिसु कालु न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा।
साचै सचिंआर विटहु कुरबाणु।
ना तिसु रूप वरनु नही रेखिआ साचै सबदि नीसाणु।
ना तिसु मात पिता सुत बंधप ना तिसु कामु न नारी।
अकुल निरंजन अपर परंपरु सगली जोति तुमारी। (म.१, ५९७)

पर इससे पहले कि निराशा पूरी तरह हावी हो जाये, गुरु साहिब प्रभु का भेद खोलते हुए सूचित करते हैं कि वह इतना पराया और परे प्रतीत होनेवाला, हमारे अपने हृदय में छिप कर बैठा है, हममें से हरएक के हृदय में; इसलिये उसे ढूँढने में कोई खास मुश्किल नहीं होनी चाहिए। वह ज्योति के रूप में ही हमारे अन्दर नहीं जलता रहता है, शब्द-धुन द्वारा भी निरन्तर अपना पता देता रहता है, 'लुका-छिपी' खेलते हुए वह खुद ही पकड़े जाने के लिये सुविधाएँ पैदा करता रहता है :

घट घट अंतरि ब्रहमु लुकाइआ घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई।
जंत उपाइ कालु सिरि जंता वसगति जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई। (म.१, ५९७)

हालाँकि उसने अपने स्थान के आगे वज्र-कपाट लगा रखे हैं, गुरु के शब्द की सहायता से उसका साक्षात्कार सहज ही किया जा सकता है।

कहते हैं कि कोई व्यक्ति घर से बाहर सड़क पर आगे झुक कर ध्यानपूर्वक कुछ ढूँढने में व्यस्त था। अचानक उसका एक परिचित उधर आ निकला। उसने पूछा, "क्या बात है, क्या कुछ खो गया है ?" उसने जवाब दिया, "हाँ, मेरी सुई नहीं मिल रही है ?" सुननेवाले को उसकी बात कुछ अजीब सी लगी। सुई को घर से उठाकर सड़क पर कौन लाता है! उसने फिर पूछा, "पर सुई सड़क पर कैसे पहुँच गई ?" तलाश करनेवाला बोला, "वह खोई तो घर में है, सड़क पर तो

मैं इसलिये आया हूँ कि यहाँ रोशनी है, ढूँढना आसान है, घर के अँधेरे में हाथ मारने से कुछ दिखाई नहीं देता।"

कस्तूरी-मृग की मूर्खता से कौन परिचित नहीं। उसे प्यारी लगने वाली वस्तु उसके अपने अन्दर होती है, पर वह उसे ढूँढता फिरता है उजाड़ों-जंगलों में : 'जिउ कस्तूरी मिरगु न जाणै भ्रमदा भरमि भुलाइआ' (म.३, ६४४)। धर्म-स्थान कहलाने वाले भवनों को परमेश्वर के भोले प्रेमी अपने हाथों से बनाते हैं, तब भी, सबकुछ जानते हुए, उसको परमात्मा का निवास-स्थान मान लेते हैं। सन्त-सतगुरुओं ने, जो स्वयं परमेश्वर का रूप होते हैं, जो उसके साथ मिलकर उससे अभेद होते हैं, बार-बार ऊँची आवाज़ में कहा है कि प्रभु कहीं बाहर नहीं, तुम्हारे अन्दर बसता है : 'घटि घटि मै हरि जू बसै संतन कहिओ पुकारि' (म.९, १४२६)। पर मन-माया के बहकाये लोग सारे सुने हुए को अनसुना किये जाते हैं। जब इस्लाम के ग़ाज़ी सूर्य-मंदिर जैसे मन्दिरों को नष्ट करने में लगे थे, उन्हें ज़रा ख़याल नहीं आया कि जो दीवारें वे तोड़ रहे हैं, उनमें दिल पिरोये हुए हैं और दिल खुदा का अपना काबा होता है :

पत्थर तोड़े दिल पै टुटदे दिल काबा रब्बाणे। (भाई वीरसिंह)

जब कोई हिन्दू किसी मस्जिद का निरादर करता है तो उसे यह नहीं सूझता कि मेरी इस हरकत से कितने ही हरि-मन्दिरों का अपमान हो रहा है। फ़रीद साहिब फ़रमाते हैं :

सभना मन माणिक ठाहणु मूलि मचांगवा।
जे तउ पिरीआ दी सिक हिआउ न ठाहे कहीदा। (फ़रीद, १३८४)

अगर तुम्हें अपने प्रभु-प्रियतम से मिलने की इच्छा है तो किसी भी हृदय को ठेस न पहुँचाओ, क्योंकि जो चोट किसी हृदय पर मारी जाती है वह सीधी उसमें बसने वाले प्रभु-प्रियतम को लगती है।

जैसा कि गुरु अर्जुन साहिब ने सूचित किया है, परमेश्वर न क़ुरान में छिपा हुआ है, न बाइबिल जैसी किसी अन्य धर्म-पुस्तक में। वह जीवित सन्तों के हृदय में बसता है और अपने ढूँढने वालों को आवाज़े दे-देकर बताता रहता है कि आओ, मुझसे यहाँ आकर मिलो :

दिला का मालकु करे हाकु। कुरान कतेब ते पाकु। (म.५, ८९७)

गुरु रामदास जी का वचन है :

होदै परतखि गुरू जो विछुड़े तिन कउ दरि ढोई नाही। (म.४, ३०८)

वे लोग जो गुरु के प्रकट रूप में मौजूद होते हुए उसकी शरण में नहीं जाते, उससे दूर-दूर रहते हैं, वे चाहे और कुछ भी यत्न कर लें, उनका हरि के द्वार से दुतकारे जाना निश्चित है।

प्रभु ने सतगुरु को अपनी प्रेम-भक्ति से निहाल किया है। सतगुरु के पास रूहानी दौलत के अखुट भण्डार होते हैं और उसे यह भी अधिकार होता है कि वह इस दौलत को जैसे चाहे, बाँटे। उसकी इस अमीरी का वर्णन पाँचवी पातशाही, गुरु अर्जुनदेव जी इन शब्दों में करते हैं :

खावहु खरचहु तोटि न आवै हलत पलत कै संगे।
लादि खजाना गुरि नानक कउ दीआ इहु मनु हरि रंगि रंगे।
(म.५, ४९६)

प्रेम जब होता है तो कहीं भी, किसी कारण से, किसी बहाने होता है, केवल अपनी इच्छा से नहीं होता, ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं। हम अपनी माता से प्यार करते हैं क्योंकि उसने हमें जन्म दिया है, दूध पिलाया है, हमारे पोतड़े धोये हैं। पिता हमारे अपने पैरों पर खड़े होने तक हमारी परवरिश करता है, हमें पढ़ाता है, काम-काज करने में सहायक होता है। भाई-बहनों से हमारा खून का रिश्ता होता है, इकट्ठे खेलने का सम्बन्ध होता है। पति-पत्नी के आपस में अति निकट के शारीरिक और भावनात्मक सम्बन्ध होते हैं। मित्रों को विचार और रुचि का मेल और गुणों, अहसानों का आदान-प्रदान निकटता देता है। अब रही बात पदार्थों की ; ज़मीन, मकान हमारे बड़े-बूढ़ों की या हमारे अपने खून-पसीने की कमाई की देन होते हैं। इसी प्रकार कोई अंगूठी, कड़ा, किसी गहरे स्नेह की यादगार, कोई मैडल, ट्राफी किसी प्राप्ति का सबूत होता है। इसके विरुद्ध, परमात्मा न कभी देखने में आता है, न उससे हमारा कभी किसी प्रकार का सीधा सम्पर्क होता है। फिर उसके लिये प्यार पैदा हो तो कैसे ? हम उसे न चाहेंगे तो वह भी हमें क्यों चाहेगा ? किस लिये ?

हमारी केवल इतनी ही कठिनाई नहीं कि प्रभु को देखे बिना उसके प्रति प्रीति पैदा नहीं होती : 'सह देखे बिनु प्रीति न ऊपजै' (म.३, ८३), उससे लिव नहीं जुड़ती : 'बिनु पेखे कहु कैसो धिआनु' (म.५, ११४०) बल्कि हमारी आन्तरिक आँखों पर मोतियाबिन्द छाया हुआ है, हम अन्धे हैं, इसलिये हम उसे देखने के समर्थ ही नहीं हैं।

हमारी इस दोहरी कठिनाई का समाधान करते हुए गुरु अमरदास जी

फ़रमाते हैं : 'नानक जिनि अखी लीतीआ सोई सचा देइ' (म.३, ८३)। जिस ज़ोरावर अजनबी ने हमारी आँखों पर मोह-माया के परदे डाले हैं, वह दयालु हो तो हमारी ज्योति लौटा देता है और खुद मिलने चला आता है :

नानक सतिगुरु मिलै त अखी वेखै घरै अंदरि सचु पाए। (म.३, ६०३)

उसकी दया के फलस्वरूप सतगुरु की संगति मिलती है और सतगुरु उसे हमारे अन्तर में स्पष्ट दिखा देता है, उससे मिलाप करा देता है।

यह सही है कि परमेश्वर नज़र नहीं आता, गुरु तो आ जाता है, और गुरु खुद परमेश्वर का रूप होता है। गुरु को देख लिया तो समझ लो कि परमेश्वर को देख लिया। गुरु में हमें परमेश्वर की झलक दिखाई देगी ; गुरु से प्रीति होगी तो परमेश्वर भी अपने आप ही प्रिय लगने लगेगा। प्रभु का प्यार जीतने के लिये गुरु के स्वरूप का ध्यान करना ज़रूरी है : 'गुर की मूरति मन महि धिआनु' (म.५, ८६४), क्योंकि गुरु और परमेश्वर में कोई अन्तर नहीं : 'गुरु परमेसरु एको जाणु' (वही)। गुरु अर्जुन साहिब ही एक अन्य स्थान पर फ़रमाते हैं :

प्रीतम साचा नामु धिआइ।
दूख दरद बिनसै भवसागरु गुर की मूरति रिदै बसाइ।
(म.५, १२६८)

अर्थात जब हरि का सुमिरन करना हो उस समय अपना ध्यान सतगुरु के स्वरूप पर जमाना चाहिए। इसके द्वारा दुःख और कष्ट ही दूर नहीं होते, जन्म-मरण से भी छुटकारा मिल जाता है।

अनेक गुणों का धारक होने के कारण परमेश्वर को गुण-निधान कहा जाता है। इसके सिवाय हम जगत के जीव रोम-रोम से उसके ऋणी हैं, उन अहसानों के लिये जो वह हमारे अनगिनत बुरे कर्मों और मन्दी करतूतों के बावजूद दिन-रात हम पर दया करता रहता है। अगर हम अति घटिया किस्म के कृतघ्न नहीं हैं तो हमें चाहिये कि स्वाँस-स्वाँस उसके प्रेम में रत रहें, लीन रहें, पर हमें कभी उसका चेत तक नहीं आता। किसी बिरले भाग्यशाली को वह तब ही अच्छा लगने लगता है, जब वह खुद पहले उस पर अपनी प्रेम-दृष्टि डालता है और इस प्रेम का आकर्षण हमें उसकी ओर खींचने लगता है। हमारा मन उसके द्वारा लगाये बिना उसकी लिव में खुद कभी नहीं लगता :

जो हरि भावहि भगत तिना हरि भावहिगे।
जोती जोति मिलाइ जोति रलि जावहगे।

हरि आपे होइ क्रिपालु आपि लिव लावहिगे।
जनु नानकु सरनि दुआरि हरि लाज रखावहिगे। (म.४, १३२१)

अपना जन्म सफल करने के लिये जिज्ञासु को और सबकी टेक त्यागकर हरि-परमेश्वर की दया की कामना करनी चाहिए, क्योंकि जब वह मेहरबान होता है तब ही गुरु मिलता है। गुरु नाम या शब्द की दात बख़्शता है और जब उसकी शिक्षा के अनुसार कमाई करने पर वह प्रभु हमारे हृदय में बस जाता है तो हम सांसारिक सुख-समृद्धि में रहते हुए भी, निर्मल ज्योति के रूप में जगमगा रहे उस दिव्य स्वरूप में समा जाते हैं। परमेश्वर में दया का उमड़ना मनुष्य के उद्यम पर निर्भर नहीं होता। जैसे तुच्छ हम खुद हैं, वैसे ही तुच्छ हमारे प्रयत्न होते हैं। इन प्रयत्नों के बल पर हम एक तिनका भी प्राप्त नहीं कर सकते। जब भी हमारे पल्ले कुछ पड़ेगा, प्रभु-परमेश्वर की बख़्शिश के कारण ही पड़ेगा। जैसा कि गुरु अर्जुन साहिब ने बताया है , हमारी सब प्राप्ति उसकी दया-मेहर का ही फल होता है :

जा तूं तुसहि मिहरवान अचिंतु वसहि मन माहि।
जा तूं तुसहि मिहरवान नउनिधि घर महि पाहि।
जा तूं तुसहि मिहरवान ता गुर का मंत्रु कमाहि।
जा तू तुसहि मिहरवान ता नानक सचि समाहि। (म.५, ५१८)

प्रभु की दया जीव के कोई विशेष कर्म करने, धर्म अपनाने या पवित्र रीति-रिवाज को अपनी साधना का आधार बनाने पर निर्भर नहीं होती : 'न हम करम न धरम सुच प्रभि गहि भुजा आपाइओ' (म.५, २४१)। हमारी क्या बिसात है कि उसका पल्ला पकड़ लें। जन्म-मरण से बच जाना कोई छोटी चीज़ नहीं, क्योंकि योनि चाहे कोई कितनी भी अच्छी हो, इन्सान की भी, ले-देकर दुःखों का घर ही रह जाती है। इसी कारण बहुत से अभ्यासी काल से पीछा छुड़ाने को ही अपनी आखिरी मंज़िल मान लेते हैं। पर हरि के सच्चे भक्त उसका मिलाप ही चाहते हैं, मुक्ति उनकी दृष्टि में कुछ भी मूल्य नहीं रखती : 'मुकति बपुड़ी भी गिआनी तिआगे' (म.५, १०७८)। वास्तव में जिस जीव को परमेश्वर अपना लेता है, जिसे उसकी दासता, उसकी चाकरी मिल जाती है, मुक्ति उसके पीछे-पीछे दौड़ती फिरती है :

जा कै हरि सा ठाकुरु भाई।
मुकति अनंत पुकारणि जाई। (कबीर, ३२८)

गुर प्रसादि :

जिस प्रकार हम ऊपर देख चुके हैं कि आदि ग्रन्थ के आरम्भिक वाक्य में परमेश्वर का वर्णन "१ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु अकाल मूरति अजूनी सैभं" कहकर किया गया है। उस मिलाप का साधन बताया गया है : 'गुरप्रसादि'।

उपरोक्त 'गुरु वाक्य' सारे प्रमुख रागों और बाणियों के शुरू में ठीक इसी प्रकार दुहराया गया है। अन्य स्थानों पर इसके संक्षिप्त रूप मिलते हैं। इन रूपों में सबसे बड़ा रूप है : "१ओं सतिनाम करता पुरखु गुर प्रसादि"। उससे छोटा "१ओं सतिनामु गुर प्रसादि", और भी छोटा, "१ओं सतिगुर प्रसादि"। सबसे अधिक प्रयोग इस अन्तिम रूप का हुआ है।

भाई वीरसिंह जी के अनुसार[1] '१' (एक) संज्ञा है, विशेषण नहीं। आपके विचार की पुष्टि : 'इसु एके का जाणै भेउ' (म.१, ९३०) और 'एके कउ नाही भउ कोइ' (म.१, ७९६) के उदाहरण करते हैं। स्पष्ट है कि जब गुरु नानक साहिब और आपके उत्तराधिकारियों ने '१ओं' की बात कम से कम शब्दों में करनी चाही तब उसका केवल एक गुण ही बता देना काफी समझा, 'सतिगुर प्रसादि', उसका सतगुरु की दया द्वारा प्राप्त होना। गुरु साहिबान का सन्देश स्पष्ट है, परमेश्वर का यह गुण उसके नाम जितनी ही विशेषता रखता है, इसलिये उसके बारे में कुछ और याद रहे या न रहे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वह जब भी मिलेगा, गुरु की कृपा से मिलेगा, उसके बिना कदाचित नहीं।

हम खुद सोच सकते हैं कि परमेश्वर की अनेक, अनन्त विशेषताओं में से चार-छः अधिक या कम का पता होने से कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन अगर उससे मिलने का साधन ही मालूम न हो तो किसका हाथ पकड़ कर उसके द्वार तक पहुँचेंगे? इसलिये जिज्ञासुओं को बार-बार सावधान किया गया है कि सतगुरु के चरणों में जाकर उसकी कृपा के सहारे अपनी रूहानी मंज़िल की ओर कदम बढ़ाओ।

आसा राग में गुरु नानक साहिब ने भी कहा है : 'गुर बिनु पूरा कोइ न पावै' (म.१, ४१४)। भाव, इस नियम का कोई उल्लंघन नहीं हो सकता कि जब भी वह किसी को मिलेगा, गुरु के द्वारा ही मिलेगा। यही गुरु अमरदास जी

१. संथया श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, २।

बताते हैं : 'नानक विणु सतिगुर सचु न पाईऐ मनमुख भूले जांहि' (म.३, १४१९) और फिर 'सतिगुर ते हरि पाईऐ साचा हरि सिउ रहै समाइ' (वही, १२७६)।

प्रभु-प्रियतम का मिलाप होना उसके समरूप होना, तो बहुत बड़ी चीज़ है, गुरु के बिना तो मुक्ति भी नहीं मिलती: 'बिनु गुरु मुकति न पाईऐ भाई' (म.५, ८६४)। और यह बात पाँचवीं पातशाही ने किसी से सुन-सुना कर नहीं कही, यह उनका निजी विचार भी नहीं, यह भेद खुद परमेश्वर से प्रकट हुआ है : 'कहु नानक प्रभि इहै जनाई' (म.५, ८६४)।

प्रभु-परमेश्वर

जलि थलि महीअलि[1] पूरिआ सुआमी सिरजनहारु।
अनिक भांति होइ पसरिआ नानक एकंकारु। (म.५, २९६)

गुन गावत गोविंद के सभ इछ पुजामी राम।
नानक उधरे जपि हरे सभ हू का सुआमी राम। (म.५, ८४८)

कोहि ब्रहमंड को ठाकरु सुआमी सरब जीआ का दाता रे।
प्रतिपालै नित सारि समालै इकु गुनु नही मूरखि जाता रे।
(म.५, ६१२)

ऊच अपार बेअंत सुआमी कउणु जाणै गुण तेरे।
गावते उधरहि सुणते उधरहि बिनसहि पाप घनेरे। (म.५, ८०२)

पहिलो दे तैं रिजकु समाहा। पिछो दे तैं जंतु उपाहा।
तुधु जेवडु दाता अवरु न सुआमी लवै न कोई लावणिआ।
(म.५, १३०)

काइआ नगरि बसत हरि सुआमी
हरि निरभउ निरवैरु निरंकारा।
हरि निकटि बसत कछु नदरि न आवै
हरि लाधा गुर वीचारा। (म.४, ७२०)

जह जह देखा तह तह सुआमी।
तू घटि घटि रविआ अंतरजामी। (म.४, ९६)

---
१. धरती और आकाश के मध्य।

सांति सहज आनंद घनेरे बिनसी भूख सबाई।
नानक गुण गावहि सुआमी के अचरजु जिसु वडिआई राम।
(म ५, ७८४)

दूख बिसारणहारु सुआमी कीता जा का होवै।
कोट कोटंतर पापा केरे एक घड़ी महि खोवै। (म.१, ४३८)

हरि हरि नामु अमोलकु हरि पहि
हरि देवै ता नामु धिआवीऐ रे।
जिसनो नामु देइ मेरा सुआमी
तिसु लेखा सभु छडावीऐ रे। (म.४, ११९८)

अंमृत नामु सुआमी तेरा जो पीवै तिसही तृपतास।
जनम जनम के किलबिख नासहि आगै दरगह होइ खलास।
(म.५, १२०८)

गुणदाता हरि राइ है हम अवगणिआरे।
पापी पाथर डूबदे गुरमति हरि तारे। (म.३, १६३)

दुख बिनसे सहसा गइओ सरनि गही हरि राइ।
मनिचिंदे फल पाइआ नानक हरिगुन गाइ। (म.५, ३००)

तू एकंकारु निरालमु राजा। तू आपि सवारहि जन के काजा।
अमरु अडोलु अपारु अमोलकु हरि असथिर थानि सुहाइआ।
(म.१, १०३९)

मेरे रामराइ तूं संता का संत तेरे।
तेरे सेवक कउ भउ किछु नाही जमु नही आवै नेरे। (म.५, ७४९)

सरब जीआं का जानै भेउ। कृपा निधान निरंजन देउ।
(म.५, ८६४)

अलहु अलखु न जाई लखिआ गुरि गुड़ु दीना मीठा।
कहि कबीर मेरी संका नासी सरब निरंजनु डीठा।
(कबीर, १३५०)

तिन मिलिआ मलु सभ जाए सचै सरि नाए सचै सहजि सुभाए।
नामु निरंजनु अगमु अगोचरु सतिगुरि दीआ बुझाए।
(म.३, ५८५)

साचै सबदि सहज धुनि उपजै मनि साचै लिव लाई।
अगम अगोचरु नामु निरंजनु गुरमुखि मंनि वसाई।

(म.३, १२३४)

तह भइआ प्रगासु मिटिआ अंधिआरा जिउ सूरज रैणि किराखी[1]।
अदिसटु अगोचरु अलखु निरंजनु सो देखिआ गुरमुखि आखी।

(म.३, ८७)

आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपाइआ।
आपे खेलु रचाइओनु सभु जगतु सबाइआ। (म.१, १२३७)

दुख भै भंजनु प्रभु अबिनासी। रोग कटे काटी जम फासी।
नानक हरि प्रभु सो भउ भंजनु गुरि मिलिऐ हरि प्रभु पाइआ।

(म.१, १०४०)

नामु निरंजनु बरतदा रविआ सभ ठांई।
गुर पूरे ते पाईऐ हिरदै देइ दिखाई।
नानक नदरी करमु होइ गुर मिलीऐ भाई। (म.१, १२४२)

दूजा कउणु कहा नही कोई। सभ महि एकु निरंजनु सोई।

(म.१, २२३)

गुर कै सबदि इहु गुफा वीचारे। नामु निरंजनु अंतरि वसै मुरारे।
हरि गुण गावै सबदि सुहाए मिलि प्रीतम सुखु पावणिआ।

(म.३, १२६)

ना हरि भजिओ न गुर जनु सेविओ नह उपजिओ कछु गिआना।
घट ही माहि निरंजनु तेरै तै खोजत उदिआना[2]।

(म.९, ६३२)

गुर परसादी बूझि ले तउ होइ निबेरा।
घरि घरि नामु निरंजना सो ठाकुरु मेरा। (म.१, २२९)

हम थारे त्रिभवण जगु तुमरा तू मेरा हउ तेरा।
सतिगुरि मिलिऐ निरंजनु पाइआ बहुरि न भवजलि फेरा।

(म.१, १२५५)

पंडित पढ़ि पढ़ि मोनी सभि थाके भ्रमि भेख थके भेखधारी।
गुर परसादि निरंजनु पाइआ साचै सबदि वीचारी।

(म.३, १२३४)

१. मिटा दी २. जंगलों में।

गुरु

गुरू गुरू गुरु करि मन मोर।
गुरू बिना मै नाही होर।

—म.५, ८६४

गुरु करता गुरु करणै जोगु।
गुरु परमेसरु है भी होगु।
कहु नानक प्रभि इहै जनाई।
बिनु गुर मुकति न पाईऐ भाई।

—म.५, ८६४

गुरु

हमारा संसार अन्धों की आबादी है, जन्म-जात अन्धों की नगरी। पैदाइशी रोग और भी कई हैं जो माता-पिता से सन्तान को और फिर उनकी सन्तान को लगते हैं, परन्तु यह अन्धापन जीव विरासत में प्राप्त नहीं करता, खुद ही अपने साथ-साथ लिये फिरता है, इस जन्म से अगले जन्म में, अगले से उससे अगले में

ऊपरी दृष्टि से ये लोग भले-चंगे दिखाई देते हैं। उनकी आँखों में कोई दोष प्रतीत नहीं होता, और तब भी उनमें ज्योति नहीं होती। यह नहीं कि उनको कुछ भी दिखाई नहीं देता; बहुत कुछ दिखता है। पर जो देखना ज़रूरी है, जो देखने योग्य है, वह नज़र नहीं आता—अपना मार्ग, वह रास्ता जिस पर चलकर आत्मा को अपनी मंज़िल पर पहुँचना है।

दुर्भाग्य से हमारे मर्त्य-मण्डल में बहुत खड्ड हैं, आगे-पीछे, चारों ओर, कुओं जैसे गह्वरे, और लाठी कोई नहीं मिलती, सीध कहीं नहीं मिलती। इसलिये इन खड्डों में गिरना और गिर कर डूबना इस मण्डल के वासियों का भाग्य बन जाता है, और बना ही रहता है।

सच तो यह है कि आत्म-मार्ग के लिये शरीर की ये आँखें काम नहीं देतीं। उसके लिये ये बनाई ही नहीं गई हैं। इस मार्ग को देखनेवाली आँख और होती है, एक तीसरी आँख, जिसके बारे में कहा गया है :

नानक से अखड़ीआं बिअनि जिनी डिसंदो मा पिरी। (म.५, ५७७)

वह आँख कैमरे जैसी आँख होती है। कैमरे की आँख फोटोग्राफर के खोलने पर खुलती है; यह आँख गुरु के खोलने से खुलती है। गुरु ही इस आँख का परदा उतार कर इसे रोशनी बख़्शता है। इसी लिये उसे गुरु कहा जाता है—अन्धकार को प्रकाशवान करनेवाला।

प्रभु के दर का मार्ग किसी नक्शे में नहीं दिखाया गया है, न ही किसी पुस्तक में छपा हुआ मिलता है। इसका भेद सतगुरु से मिलता है। राग गउड़ी में गुरु अमरदास जी अपना निजी अनुभव बयान करते हुए कहते हैं :

हम मतिहीण मूरख मुगध अंधे सतिगुरि मारगि पाए। (म.३, २४६)

यह ऐतिहासिक सत्य है कि आप गुरु अंगददेव के सम्पर्क में आने से पहले भी परमेश्वर से प्यार करते थे, और ऐसा करते हुए बुढ़ापे में कदम रख लिया था ; पर जब सतगुरु ने आँखें खोल दीं और यथार्थ के सामने लाकर खडा किया तो आपको अहसास हुआ कि अब तक तो मैं मतिहीन था, नासमझ और अन्धा था ; कोई रास्ता नहीं दिखता था, उसके लिये व्यर्थ टटोल रहा था सतगुरु ने सुमति दी, मार्ग-दर्शन किया, शब्द द्वारा सँवारा ; मानों आत्मिक कायाकल्प कर दिया।

गुरु अर्जुन साहिब ने परमेश्वर से सवाल किया कि अगर उससे मिलना हो तो क्या साधन अपनाया जाये? 'किन बिधि मिलै गुसाई मेरे राम राइ' (म.५, २०४) और उनको उत्तर अपने अन्तर से ही मिल गया :

कोई ऐसा संतु सहज सुख दाता मोहि मारगु देइ बताई। (म.५, २०४)

कोई सहज सुख बख़्शने वाला सन्त मिल जाये तो वह मंज़िल के सही रास्ते पर लगा दे।

परमेश्वर तक पहुँचना कोई हँसी-मज़ाक की बात नहीं। वह तो मानो किसी मज़बूत किले में बैठा हुआ है, और वह किला है मोटी पथरीली दीवारों और वज्र के मज़बूत कपाट वाला। न दीवारें ढह सकती हैं, न तख्ते ही टूटते हैं। इसी तरह, इसके अन्दर जाने के लिये कोई उपाय नहीं बनता। हाँ, अगर एक सीढ़ी मिल जाये, मज़बूत डण्डों वाली और ठेठ शिखर को छूने वाली ऊँची, तब ही किले में दाखिल हुआ जा सकता है। प्रसन्नता की बात यह है कि सतगुरु के रूप में ऐसी सीढ़ी मिल जाती है, परन्तु उसे जिसके भाग्य अच्छे हों। पहली पातशाही, श्री गुरु नानक देव जी के अनुसार अगर गुरु के स्वरूप का ध्यान किया जाये—श्रद्धा और विश्वास के साथ—तो हरि का दीदार हो जाता है :

बिनु पउड़ी गड़ि किउ चड़उ गुर हरि धिआन निहाल। (म.१, १७)

जैसे सतगुरु परमेश्वर रूपी किले की दीवार पर चढ़ने के लिये सीढ़ी का कार्य पूरा करता है, वैसे ही वह भवसागर को पार करने के लिये सहारा, नाव या जहाज़ बन जाता है। वह नाम की दात बख़्शता है और उसके दिये हुए नाम की कमाई पार उतार देती है :

गुरु पउड़ी बेड़ी गुरू गुरु तुलहा हरि नाउ।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथु दरीआउ। (म.१, १७)

गुरु नानक साहिब कहते हैं कि सतगुरु तीर्थ भी है। तीर्थों पर लोग अपनी

इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से जाते हैं। किसी तीर्थ से सन्तान मिलने की आशा होती है, किसी से धन-दौलत की, और किसी और से कष्ट-निवारण की। पर सतगुरु वह तीर्थ है जिससे सभी फल मिल जाते हैं—अड़सठ शिरोमणि माने जाने वाले तीर्थों के फल और उनसे भी अधिक : 'सतिगुरु मनकामना तीरथु है जिस नो देइ बुझाइ' (म.३, २६)। वह कामधेनु गाय है और कल्पवृक्ष भी। वह कौन-सी दात है जिसे बख़्श देना उसकी पहुँच में नहीं : 'जितड़े फल मनि बाछीअहि तितड़े सतिगुर पासि' (म.५, ५२)।

गुरु अर्जुन साहिब की वाणी में आता है :

जिस का ग्रिहु तिनि दीआ ताला कुंजी गुर सउपाई।
अनिक उपाव करे नही पावै बिनु सतिगुर सरणाई।
(म.५, २०५)

स्पष्ट है कि सिरजनहार ने अपने अंश—आत्माओं के साथ एक अपनी ही तरह का खेल रचा है। उनको खुद से जुदा किया, उनके हृदय में अपने मूल से जुड़ने की तड़प रखी और फिर उसी हृदय के एक कोने में अपना अदृश्य महल बनाकर बैठ गया। महल में अपने आप दाखिल नहीं हुआ जा सकता। उस पर ताला लगा हुआ है। वह पक्का ताला तारों या पत्तियों से नहीं खुलता। उसकी कुंजी गुरु को सौंप दी गई है, गुरु की कुंजी के सिवाय और कोई काम-चलाऊ कुंजी किसी लुहार या सिकलीगर के द्वारा नहीं बनाई जा सकती। जो भी गुरु की प्रसन्नता प्राप्त कर लेगा, अन्दर जा पहुँचेगा। उससे विमुख होकर चाहे हजार उपाय कर लिये जायें, सालों के साल, जन्मों के जन्म लगा लें, सफलता कदापि नहीं मिलेगी :

गुरु कुंजी पाहू निवलु मनु कोठा तनु छति।
नानक गुर बिनु मन का ताकु न उघड़ै अवर न कुंजी हथि।
(म.२, १२३७)

कुंजी एक विशेष विश्वास योग्य व्यक्ति के हाथ में दी गई है। वह विश्वस्त पुरुष कुंजी को चौरास्ते पर नहीं फेंकेगा, कि कोई भी उसे उठा ले और 'उस' का—प्रभु का—घर खोल ले।

परमात्मा महासागर है—अथाह, अनन्त, स्थायी, और जीवात्मा है क्षणों-पलों के जीवन के लिये आकाश से टपकी उसकी बूँद, वर्षा का टपका बर्फ का कतरा, ओले का कण। सागर की कोई दयालु लहर अपनी बाँह फैलाती है, उस तुच्छ

कण को अपने साथ बहा ले जाती है और उसे गहरे सागर का निज अंग बना देती है।

जो लहर सूखे किनारे तक पहुँच कर वहाँ मिलाप के लिये सिसकती बूँद को उठाकर ले जाती है, वह भी सागर होती है, बाकी के अथाह जल का ही एक भाग, गिनती के पलों के लिये ऊँचा उठकर भी सारे जल से जुड़ा हुआ भाग। परमात्मा और गुरु का यही सम्बन्ध होता है—सागर और लहर का सम्बन्ध। गुरु भी परमेश्वर होता है, हर समय परमेश्वर से एकमेक, पर समय की तिल के समान मात्रा के लिये, भ्रम और भूल की सीमा तक अलग दिखाई देता है। उस लहर का जन्म एक विशेष प्रयोजन के लिये होता है, एक ज़रूरी आवश्यकता पूरी करने के लिये। सागर लहर का रूप धारण करके आगे न आये तो किनारे पर पड़ी बूँद सूर्य के ताप में सूखकर भाप बन जाये और नये सिरे से किसी बादल में खोकर न जाने फिर कहाँ जा पहुँचे—किसी मैदानी खेत में या किसी रेगिस्तानी टीले पर, और इस तरह फिर से अगिनत भटकनों की भागी बन जाये :

हरि का सेवकु सो हरि जेहा। भेदु न जाणहु माणस देहा।
जिउ जल तरंग उठहि बहु भाती फिरि सललै सलल समाइदा।
(म.५, १०७६)

गुरु अर्जुन साहिब के अनुसार सतगुरु उसे कहते हैं जिसने सत्पुरुष को जान लिया हो : 'सति पुरखु जिनि जानिआ सतिगुरु तिस का नाउ' (म.५, २८६)। और सत्पुरुष अलख, अगम है इसलिये उसे जाना जा सकता है उसमें समा कर ही, उसमें जज़्ब होकर ही। सो सतगुरु वही कहलायेगा जो परमेश्वर से समरूप हो, उसके अस्तित्व का भाग हो, उसका अटूट अंग हो, खुद परमेश्वर हो।

उसका एक और गुण यह है कि वह शिष्य को उसकी काया के अन्दर उस गुप्त स्थान से परिचित करा देता है जहाँ अलख अगम प्रभु बसता है : 'घरि महि घरु दिखाइ देइ सो सतिगुरु पुरखु सुजाणु' (म.१, १२९०)। इस अमूल्य भेद की सचाई का प्रत्यक्ष प्रमाण कुल-मालिक के संगीत में मिलता है, जो उस स्थान पर निरन्तर बजता रहता है : 'पंच सबद धुनिकार धुनि तह बाजै सबदु नीसाणु' (वही)। ऐसे सतगुरु से भेंट होने पर जीव पूरी तरह खिल उठता है, उसे बेहद प्रसन्नता प्राप्त होती है : 'जिसु मिलिऐ मनि होइ अनंदु सो सतिगुरु कहीऐ' (म.४, १६८)। परेशानी पैदा करनेवाले सब संशय दूर हो जाते हैं, यही नहीं उसका सत्संग एक दिन परम-पद का अधिकारी बना देता है : 'मन की दुबिधा बिनसि जाइ हरि परम पदु लहीऐ' (म.४, १६८)। ऐसे गुरु को ही पूरा गुरु कहा जाता है : 'करि किरपा हरि मेलिआ मेरा सतिगुरु पूरा' (वही, १६८)।

सच तो यह है कि गुरु और परमेश्वर में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं होता। इन दोनों शब्दों का एक ही हस्ती के लिये प्रयोग किया जाता है।

परमात्मा के विषय में कहा गया है : 'आदि सचु जुगादि सचु'; इसी विशेषता का गुरु में होना भी बताया गया है :

गुर की महिमा किआ कहा गुरु बिबेक सतसरु।
ओहु आदि जुगादी जुगह जुग पूरा परमेसरु। (म.५, ३९७)

अगर परमेश्वर कर्तापुरुष है तो गुरु भी कर्तापुरुष है : 'गुरु करता गुरु करणै जोगु। गुरु परमेसरु है भी होगु' (म.५, ८६४)। यदि परमेश्वर सृष्टि के कण-कण में समा रहा है, सर्वशक्तिमान है, अनन्त दात बख़्शनेवाला है, तो यही सबकुछ गुरु भी है : 'गुरु दाता समरथु गुरु गुरु सभ महि रहिआ समाइ' (म.५, ४९)। पापी आत्माओं का उद्धार वही कर सकता है जो दया-दृष्टि हो, समर्थ हो। ये गुण परमेश्वर में है तो गुरु में भी इन की कमी नहीं : 'गुर दइआल समरथ गुर गुर नानक पतित उधारणह' (म.५, ७१०)। जिस प्रकार परमेश्वर गलतियाँ करने की कमज़ोरी से मुक्त है, गुरु भी उनका शिकार नहीं होता : 'भुलण अंदरि सभु को अभुलु गुरू करतारु' (म.१, ६१)। जो कलाएँ परमेश्वर में होती हैं, वे सब गुरु में भी मौजूद हैं : 'सफल मूरति गुरदेउ सुआमी सरब कला भरपूरे' (म.५, ८०२)। वह परमेश्वर की तरह ही ऊँचा, अगम और अपार है : 'गुरु समरथु गुरु निरंकारु गुरु ऊचा अगम अपारु' (म.५, ५२)।

गुरु रामदास जी ने इस सत्य को और भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया है :

समुंदु विरोलि सरीरु हम देखिआ इकु वसतु अनूप दिखाई।
गुर गोविंदु गोविंदु गुरू है नानक भेदु न भाई। (म.४, ४४२)

आपका समर्थन करते हुए गुरु अर्जुन साहिब लिखते हैं :

गुर गोबिंद गोपाल गुर गुर पूरन नाराइणह। (म.५ ७१०)

साधारण जीवों को परमेश्वर दिखाई नहीं देता, पर गुरु शरीर धारण कर लेने के कारण दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में गुरु गोबिन्दसिंह जी ने कहा है :

हरि हरि जन दुई एक है बिब बिचार कछु नाहि।
जल ते उपज तरंग जिउ जल ही बिखै समाहि।

जब समुद्र के जल में से कुछ जल लहर के रूप में ऊपर उठता है तो वह

एक अलग चीज़ प्रतीत होने लगता है, पर यथार्थ में वह अलग नहीं होता, बाकी जल के साथ ही जुड़ा हुआ होता है, और उसके एक-आध मिनिट बाद नीचे बैठ जाने पर उतना भी अलगपन खत्म हो जाता है।

संसार के चौरासी लाख प्राणियों का सिरमौर होते हुए भी मनुष्य की कुछ अपनी मजबूरियाँ हैं। अगर मनुष्य को कुछ बताना या समझाना हो तो वह उससे ही समझ सकेगा जो उसी जैसा होकर उससे बात करे। सिरजनहार प्रभु जब अपनी दया-मेहर के कारण अपनी पैदा की विशेष आत्माओं का उद्धार करना चाहता है तो मनुष्य शरीर धारण करके उनमें आ मिलता है और परमार्थ के मार्ग पर रहनुमाई करके उनको धुर धाम पहुँचा देता है। निर्गुण और सगुण दो अलग-अलग परमेश्वर नहीं, एक ही है: 'निरगुनु आपि सरगुनु भी ओही' (म.५, २८७)। सतगुरु की देह उसे पूरे से अधूरा परमेश्वर नहीं बना देती। सतगुरु हरि ही होता है, हरि का साक्षात् स्वरूप : 'सतिगुरु देउ परतखि हरि मूरति जो अंमृत बचन सुणावै' (म.४, १२६४)।

ब्रहम महि जनु जन महि पारब्रहमु।
एकहि आपि नही कछु भरमु। (म.५, २८७)

गुरु के चरणों की शरण लेने से मन निर्मल हो जाता है, पाप मिट जाते हैं, पूर्ण सुख प्राप्त होता है और जीवात्मा संसार-सागर को तर कर पार हो जाती है। पाँचवी पातशाही, गुरु अर्जुनदेव जी ने क्या यही पूजा, अर्चना, सेवा, वन्दना नहीं चुनी थी?

सरब सुखा गुरचरना।
कलिमल डारन मनहि सधारन इह आसर मोहि तरना।
पूजा अरचा सेवा बंदन इहै टहल मोहि करना।
सफल मूरति परसउ संतन की इहै धिआना धरना। (म.५, ५३१)

सन्त-सतगुरु के स्वरूप पर वृत्ति टिका लें तो माया का अग्नि-सागर जला नहीं सकता, डुबा नहीं सकता :

गुर के चरण रिदै उरि धारि। अगनि सागरु जपि उतरहि पारि।
(म.५, १९२)

और लोक-परलोक में सत्कार मिलता है :

गुर मूरति सिउ लाइ धिआनु। ईहा ऊहा पावहि मानु। (म.५, १९२)

गुरु रामदास जी के अनुसार प्रेम-प्रीति सहित गुरु को पूजने से मन की सब

इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं :

जो चितु लाइ पूजे गुर मूरति सो मन इछे फल पावै। (म.४, ३०३)

गुरु की मूर्ति से अभिप्राय उसकी मूर्ति, बुत या तस्वीर नहीं, उसका स्वरूप है। ज़बान सतगुरु का सुमिरन करे, अन्तर में सुख उसके स्वरूप पर केन्द्रित रहे, आँखें उसके दर्शन में मग्न रहें और कान उसका नाम सुनने में, भाव यह कि अपना सारा अस्तित्व उसके प्रेम में समा जाये। इस प्रकार की गुरु-भक्ति शिष्य को परमेश्वर के द्वार पर पहुँचा देती है :

अंतरि गुरु आराधणा जिहवा जपि गुर नाउ।
नेत्री सतिगुर पेखणा स्रवणी सुनणा गुर नाउ।
सतिगुर सेती रतिआ दरगह पाईऐ ठाउ। (म.५, ५१७)

इस विधि से की गई गुरु-भक्ति से गुरु अर्जुन साहिब को जो प्राप्ति हुई, उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में उसका वर्णन किया है :

गुर गोबिंदु पारब्रहमु पूरा।
तिसहि अराधि मेरा मनु धीरा।
अनदिनु जपउ गुरू गुर नाम।
ता ते सिधि भए सगल काम। (म.५, २०२)

या फिर :

गुरु गुरु जपी गुरू गुरु धिआई।
जीअ की अरदासि गुरु पहि पाई। (म.५, ३९६)

सतगुरु, जोकि प्रत्यक्ष परमेश्वर है इस पूजा का अधिकारी है, जीवन-दान देता है, असल जीवन, आत्मिक-जीवन, जोकि केवल उससे ही मिल सकता है :

गुरु परमेसुरु पूजीऐ मनि तनि लाइ पिआरु।
सतिगुरु दाता जीअ का सभसै देइ अधारु। (म.५, ५२)

एक अन्य स्थान पर भी आप लिखते हैं :

सतिगुरु अपना सद सदा सम्हारे। गुर के चरन केस संगि झारे।
गुर बिनु दूजा नाही थाउ। गुरु दाता गुरु देवै नाउ।
गुरु पारब्रहमु परमेसरु आपि। आठ पहर नानक गुर जापि।
(म.५, ३८७)

गुरु में विश्वास :

गुरु से शिष्य का रिश्ता पूर्ण विश्वास का रिश्ता है। गुरु पारब्रह्म परमेश्वर

का ही सगुण रूप होता है, उसमें कोई कमी या अवगुण कैसे होंगे और उसमें कमी या अवगुण ढूँढने की कोशिश करनी भी नहीं चाहिए। कोई क,ख,ग, सीखता विद्यार्थी अपने अध्यापक की योग्यता की परीक्षा नहीं ले सकता। परमेश्वर मानव-शरीर धारण करके संसार में आता है, तब ही मनुष्य के लिये प्रभु की रज़ा को जानना सम्भव होता है। उससे शिक्षा, ज्ञान और मार्ग-दर्शन प्राप्त किया जा सकता है। वह जान-बूझ कर ऊपर से और बाहर से साधारण मनुष्यों जैसा मनुष्य दिखाई देने की मौज करता है, पर असल में अन्दर से मनुष्य नहीं होता। अपनी निर्दोषता, सर्वगुण-सम्पन्नता के पक्ष से वह हर हाल में समान रहता है। पर तुच्छ-बुद्धि जीव कई बार उस कौतुक करनेवाले की इस लीला से धोखा खा जाते हैं और उसे साधारण मनुष्यों के मापदण्ड से परखने की गलती कर बैठते हैं। हमें इसी भूल से बचने के लिये चेतावनी दी गई है :

गुरि कहिआ सा कार कमावहु।
गुर की करणी काहे धावहु। (म.१, ९३३)

बिना शंका किये गुरु के हुक्म का पालन करना चाहिए, और जो लीला वह खेल रहा हो, उसका विश्लेषण करना शुरू नहीं कर देना चाहिये। उसे दुनियादारों से किसी प्रकार की गरज़ नहीं होती, वह देखने में ही गृहस्थ दिखाई देता है, पर होता है पूरा योगी, जगत और जगत के पदार्थों की ओर से निर्लिप्त : 'तिसु कारणि कंमु न धंधा नाही धंधै गिरही जोगी' (म.१, ५०३)।

गुरु की सामर्थ्य अपार, अनन्त है। वह तारना चाहे तो एक नज़र से ही बेड़ा पार कर सकता है : 'एक दृसटि तारे गुर पूरा' (म.१, ४१३), पर इसके लिये ज़रूरी है कि शिष्य गुरु को सच्चे मन से परमेश्वर समझता हो, उसमें अटल विश्वास रखता हो। कच्ची लस्सी से दही नहीं जम सकता। उलटे बरतन में अमृत तो क्या वर्षा का पानी भी इकट्ठा नहीं होता।

जैसा कि गुरु अर्जुन साहिब ने बताया है सतगुरु स्वयं परमेश्वर होता है, इसलिये उसके साथ मनुष्यों जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए :

सतगुरु निरंजनु सोइ। मानुख का करि रूपु न जानु। (म.५, ८९५)

अगर उसे साधारण मनुष्य मानकर व्यवहार करेंगे तो उसके वास्तव में परमेश्वर होते हुए भी हमें उससे वही कुछ प्राप्त होगा जो एक साधारण मनुष्य से हो सकता है : 'जेहा सतिगुर करि जाणिआ तेहो जेहा सुखु होइ' (म.३, ३०)। उदाहरण के लिये, अगर हम किसी महात्मा के पास इस भावना से शाल की भेंट

लेकर जाते हैं कि उसके पहनने से हमारे कारखाने या चरखे पर बनी शाल लोकप्रिय हो जायेंगी और इस प्रकार हम धन कमा लेंगे, तो उससे बस पैसे ही मिलेंगे, परम-पद की आशा नहीं की जा सकेगी।

पूरा गुरु अनेक शक्तियों का स्वामी होता है। जो कुछ परमेश्वर करने में समर्थ है (वह क्या नहीं कर सकता ?), वही गुरु भी कर सकता है, बल्कि उससे भी अधिक। जैसा कि नामदेव जी ने प्रभु की ओर से कहा है : 'मेरी बांधी भगतु छडावै बांधै भगतु न छूटै मोहि' (नामदेव, १२५२)। पर वह अपनी शक्तियों का प्रदर्शन नहीं करता, उनकी नुमाइश नहीं लगाता, उनकी डींग नहीं मारता। वह अपने मुँह से कब कहेगा कि चाहे मैं तुम्हें अपने इस जामे में एक साधारण मनुष्य नज़र आ रहा हूँ, पर हूँ असल में परमेश्वर से समरूप, उसमें समाया हुआ, मैंने उस तरह जन्म धारण नहीं किया जिस तरह अन्य जीव अपने कर्म भोगने के लिये धारण करते हैं, मैं तो केवल उपकार के हेतु भवसागर में तिलमिला रही आत्माओं के उद्धार के लिये आया हूँ। वह तो अपने आपको नीच, अधम, मतिहीन तथा और ऐसे विशेषणों से पुकारता रहता है : 'नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीच' (म.१, १५)। प्रभु को पा लेनेवाला तो अपनी प्राप्ति को छिपा-छिपा कर ही रखता है : 'जिनि हरि पाइओ तिनहि छपाइओ' (नामदेव, ७१८)।

हमें दो-चार रुपये की कोई चीज़ खरीदनी हो तो कई दुकानों से पूछताछ करके खरीदते हैं। गुरु धारण करना तो बड़ी से बड़ी जायदाद खरीदने से अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इससे वर्तमान जीवन ही नहीं बनता-बिगड़ता, अनेक अगले-पिछले जीवन भी प्रभावित होते हैं। इसलिये उसके चुनाव में जितनी भी सावधानी का प्रयोग किया जाये उतना ही कम है। परन्तु वह सावधानी किसी काम नहीं आती। उसका कारण यह है कि गुरु तो अथाह सागर होता है। हम नाटे-बौने लोग उसकी गहराई मापने का यत्न करेंगे तो कैसे सफल होंगे ? वास्तव में होता यह है कि हम गुरु को नहीं ढूँढते, वह हमें ढूँढता है। हम उसे नहीं पहचानते, वह हमारी पहचान कर लेता है। गुरु तब मिलता है जब परमेश्वर हम पर दयावान होकर उससे मिलने का संयोग बनाता है, जब वह इस बात की रेखा हमारे मस्तक पर खींचता है। गुरु इस रेखा पर दृष्टि डालता है और हमें अपना जानकर अपना लेता है। हमारी अपनी कोशिश कोई अर्थ नहीं रखती। गुरु का मिलाप एकमात्र बख़्शिश है—प्रभु की और गुरु की अपनी :

किरपा करे ता सतिगुरु भेटै नदरी मेलि मिलावणिआ। (म.३, १२७)

कृपा कृपा करि गुरू मिलाए हम पाहन सबदि गुर तारे। (म.४, ९८१)
जउ होइ कृपाल त सतिगुरु मेलै सभि सुख हरि के नाए। (म.५, २१३)

सृष्टि के अनेक अनन्त जीव हैं, चौरासी लाख योनियाँ और हर योनि में अनगिनत प्राणी। कौन अनुमान लगा सकता है उनकी पूरी गिनती का? इसकी कल्पना भी सम्भव नहीं। इतने जीवों में से किसी बिरले को ही सतगुरु मिलता है, दया-मेहर की बदौलत :

लख चउरासीह जीअ उपाए।
जिस नो नदरि करे तिसु गुरू मिलाए। (म.३, ११०)

दीक्षा :

होमियोपैथ डाक्टर के पास लाखों की गिनती में मीठी गोलियाँ होती हैं, छोटी-बड़ी जो दवाइयाँ बनाने में काम आती हैं। उनमें से अगर आप बीस, पचास या सौ गोलियाँ निकाल कर निगल लें तो कोई असर नहीं होगा। हां, अगर यह सोचकर अपने आपको यह विश्वास दे दिया जाये कि हम दवा खा चुके हैं तो इसका नुकसान ज़रूर हो सकता है। लाभ उन्हीं गोलियों से होता है जिनमें डाक्टर ने उचित प्रकार का टिंक्चर मिला दिया हो। सतगुरु के दिये नाम में उसकी अपनी कमाई का अंश उस टिंक्चर का असर रखता है। गुरु अर्जुनदेव जी के वचन हैं: 'गुरमुखि कोटि उधारदा भाई दे नावै एक कणी' (म.५, ६०८)। उस कण में उसकी निजी शक्ति का कमाल होता है।

अगर कोई चींटी कहे कि मैं मैदानों में चलते-फिरते कैलाश पर्वत का रास्ता खोज लूँगी, तो उसके साहस पर रोना आयेगा। इसी तरह किसी इन्सान का अलख अपार पारब्रह्म तक अपने उद्यम से पहुँच प्राप्त करने का ख़याल उससे कम हँसी की बात नहीं होगी। इसीलिये गुरु अर्जुन साहिब ने कहा है कि अपनी सूझ-बूझ, चतुराई और तरकीबों को छोड़कर सन्तों की शरण लो और श्रद्धा सहित उनके दिये हुए गुरु-मन्त्र की कमाई करो :

साधू की मन ओट गहु उकति सिआनप तिआगु।
गुर दीखिआ जिह मनि बसै नानक मसतकि भागु। (म.५, २६०)

सतगुरु की दीक्षा हर अँधेरी गुफा में, हर औघट घाटी में, हर गम्भीर संकट की घड़ी में शिष्य का मार्ग-दर्शन करती है। उसका प्रकाश निरन्तर शिष्य के कदमों को सीध देता रहता है। घण्टे, दो घण्टे जलकर खत्म हो जानेवाली मोमबत्ती के विपरीत गुरु की जलाई ज्योति कभी बुझती नहीं, वह तो परम ज्योति में लीन

होकर खुद परम ज्योति बन जाती है: 'सतिगुर गिआनु सदा घटि चानणु अमरु सिरि बादिसाहा' (म.३, ६००)। अगर तुच्छ होने के कारण जीव की अपनी बुद्धि परमेश्वर को समझने-जानने में असमर्थ होती है, तो ग्रन्थ-शास्त्र, पुस्तकें भी इस बारे में उसकी कोई सहायता नहीं करती। यह इसलिये कि वे अलग-अलग व्यक्तियों की रची भिन्न-भिन्न प्रकार की राय प्रकट करती हैं और अभ्यासी की सीमित बुद्धि यह निर्णय नहीं कर पाती कि वाद-विवाद के शोर में किसको सही माने, किसको स्वीकार करे। सतगुरु मनुष्यों जैसा मनुष्य दिखाई देते हुए भी निरन्तर परमेश्वर में घुला-मिला होता है; इसलिये उसका ज्ञान सम्पूर्ण और प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार विद्वान अध्यापक पहली कक्षा के विद्यार्थी को उसकी समझ-सूझ के स्तर की बात करके पढ़ाता है, उसी प्रकार पूर्ण सतगुरु अपना दिव्य ज्ञान शिष्य की पहुँच में लगाकर उस तक पहुँचाता है। इसके अलावा गुरु खुद एक आदर्श जीवन जी कर अपने शिष्य के लिये उदाहरण प्रस्तुत करता है, और जिस तरह एक पिता अपने घुटनों के बल चलने वाले बालक को अंगुली पकड़ाकर उसे चोट के डर से मुक्त करके, पैर उठाना सिखाता है, उसी तरह गुरु अपने शिष्य को परमार्थ के मार्ग पर चलाता है। इस तरह शिष्य के विश्वास को दृढ़ होने में पूरी सहायता मिलती है और कमाई के लिये उसका उत्साह बढ़ता है। फिर वह डोलता नहीं।

गुरु धारण करना और गुरु-मन्त्र लेना केवल रस्म पूरी करना मात्र नहीं होता। अगर गुरु पूरा नहीं तो वह सच्चे नाम अर्थात शब्द का भेद नहीं दे सकेगा, शब्द-धुन का अनुभव नहीं करा सकेगा और परिणामस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। किसी ढोंगी भेषधारी का पल्ला पकड़ने पर निराश या शर्मिन्दा होना और पछताना ही पल्ले पड़ता है :

बिनु गुर पूरे भगति न होइ। मनमुख रुंने अपनी पति खोइ।
गुर पूरे ते पूरा पाए। हिरदै सबदु सचु नामु वसाए। (म.३, ३६३)

यदि हम पूरे गुरु से दीक्षा के लिये जायें तो सफलता निश्चित हो जाती है। जो कुछ कुल-मालिक के मिलाप के लिये जानना ज़रूरी होता है वह सब पूरा गुरु बता देता है। गुरु-मन्त्र की प्रेम-प्रतीति से कमाई की तो सत्य स्वरूप का साक्षात्कार हो गया। जासूसी कहानियों के खजानों की खोज वाली दुर्गति नहीं होती कि कहीं से आधा नक्शा मिल गया और उसके पीछे भटकते हुए सारी उमर गँवा दी :

पूरे गुर की पूरी दीखिआ। जिसु मनि बसै तिसु साचु परीखिआ।

(म.५, २९३)

गुरु दीक्षा को अपनाने से अनेक जन्मों में इकट्ठे किये कर्मों के कर्ज़ माफ़ हो जाते हैं :

मेरै हीअरै रतनु नामु हरि बसिआ गुरि हाथु धरिओ मेरै माथा।
जनम जनम के किलबिख दुख उतरे गुरि नामु दीओ रिनु लाथा।

(म.४, ६९६)

दीक्षा के सम्बन्ध में गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

सतिगुरु देखिआ दीखिआ लीनी। मनु तनु अरपिओ अंतरगति कीनी।
गति मिति पाई आतमु चीनी। (म.१, २२७)

सतगुरु के दर्शन हुए, उनसे नाम की दात प्राप्त की, अपना तन और मन सतगुरु को भेंट कर दिया, इसके फलस्वरूप वृत्ति अन्तर्मुख हो गई, और इस तरह मुक्ति का रास्ता खुल गया। क्योंकि जब हम सुरत को एकाग्र करके अपने निज स्वरूप में पहुँच जाते हैं, अपना सच्चा मूल देख लेते हैं तो आत्म-ज्योति परम ज्योति में समा जाती है :

जोति भई जोती माहि समाना। (म.१, २२१)

अगर हम गुरु के चरणों में लगते हैं, उसकी सेवा में जुट जाते हैं, उसके दिये हुए मन्त्र को, शिक्षा को, आधार बनाकर, उसकी प्रीति में डूबकर, भक्ति करते हैं तो नाम में रचे शब्द से जुड़कर अपने निज घर पहुँच जाते हैं। यह है गुरु नानक साहिब का बताया हुआ आत्मिक-मार्ग :

गुर सेवी गुर लागउ पाइ। भगति करी राचउ हरिनाइ।
सिखिआ दीखिआ भोजन भाउ। हुकमि संजोगी निज घरि जाउ।

(म.१, २२१)

गुरु की दीक्षा सोये हुए भाग्य जगा देती है, हरि-परमेश्वर की दीदार करा देती है :

गुर कै बचनि जागिआ मेरा करमु। नानक गुरु भेटिआ पारब्रहमु।

(म.५, २३९)

'आसा की वार' की दसवीं पौड़ी के दूसरे श्लोक में गुरु नानक साहिब दो बार गुरु से शिक्षा लेने की हिदायत करते हैं क्योंकि सच या परमेश्वर का साक्षात्कार तभी हो सकता है (सच ता परु जाणीऐ) जब उससे जुड़ने का तरीका

आता हो (जा जुगति जाणै जीउ) और 'आतम तीरथि' पर निवास प्राप्त करना भी सतगुरु से पूछकर, उसके हुक्म के अनुसार ही किया जा सकता है : 'सतिगुरू नो पुछि कै बहि रहै करे निवासु' (म.१, ४६८)।

गुरु का यह युक्ति बताना किसी राह चलते अजनबी से सुनकर कान में पड़ी बात की तरह नहीं होता। यह सही विधि या तरीके तथा पूरी गम्भीरता के साथ समझाई जाती है—दीक्षा के रूप में, गुरु-मन्त्र के रूप में। गुरु अपना मन्त्र केवल बताता ही नहीं, उसे दृढ़ भी करवाता है और शिष्य उसे इस तरह सच्चे दिल से ग्रहण करता है कि वह फिर कभी उसे नहीं भूलता, किसी पल भी मन से नहीं बिसारता। गुरु का दिया शब्द शिष्य को निरन्तर सुनाई देता रहता है।

दीक्षा कोई ऐसा उपदेश भी नहीं होता जो भिन्न-भिन्न विचारों या मनोवृत्ति के लोगों के लाभ की आशा से बोलकर सुना दिया जाये या लिखकर प्रकाशित कर दिया जाये। भाई वीरसिंह के शब्दों में, "दीक्षा वह गुरु-मन्त्र है, ईश्वर का नाम है, जो गुरु शिष्य को सुमिरन के लिये देता है।" (संथ्या श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, १२९४)। आगे निरुक्त में उनके द्वारा दिये गये अर्थ इस प्रकार हैं : दीक्षा (संस्कृत दीक्षा—गुरु का गुरु-मन्त्र उपदेश) नाम देने का संस्कार। नाम का दान।" आपने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "दीक्षा को शिक्षा या उपदेश मानना, गुरु के आशय के अनुकूल नहीं।"

पूरे गुरु की दीक्षा के अनुसार निरंकार को हृदय में बसा लेने से शिष्य को अपने अन्दर अनहत शब्द सुनाई देने लगता है। इस शब्द को सुनना और इसके आनन्द का स्वाद लेना ही शब्द की साधना है। अभ्यासी को योगियों की भाँति मुँह से सिंगी नहीं बजानी पड़ती। यह सिंगी का शब्द प्रभु के द्वारा पैदा किया गया है, यह शिष्य को अपने अन्दर सुनाई देने लगता है : 'जह भउ नाही तहा आसनु बाधिओ सिंगी अनहद बानी' (म.५, २०८)।

गुरु अर्जुन साहिब बहुमुखी विद्वता के धनी थे। आपको सारे प्रचलित धर्मों, मज़हबों के दर्शन का ज्ञान प्राप्त था। आपने अपने घराने के अलावा और अनेक सन्तों महापुरुषों की अमूल्य रचनाएँ पढ़ीं और उनकी पड़ताल की थी। इस सब ज्ञान के बावजूद, आपके अपने कथन के अनुसार आपने गुरु रामदास जी महाराज से दीक्षा ली तब उसके सहारे कार्य पूर्ण हुए :

सतिगुरि मंत्रु दीओ हरिनाम। इह आसर पूरन भए काम। (म.५, १९६)

वे ऐसी योग्य युक्ति सिखाने वाली मूर्ति—अपने सतगुरु—की सेवा करते हैं,

उसकी पूजा करते हैं, उसके चरण चूमने की कामना करते हैं: 'सेवा पूज करउ तिसु मूरति की नानकु तिसु पग चाटै' (म.५, २०८)।

गुरु से दीक्षा लेकर, उसे हृदय में बसा कर उसकी कमाई की जाये तो फल की कोई कमी नहीं रहती। फिर न किसी भाँति का क्लेश बचता है, न डर या भय। सब शोक-सन्ताप मिट जाते हैं, चिन्ताओं से छुटकारा हो जाता है। माया की अग्नि निकट नहीं फटकती। गुरु-मन्त्र के कारण मति सम्पूर्ण हो जाती है, सच्ची शोभा, श्रेष्ठता प्राप्त हो जाती है तथा सही अर्थों में हम धनवान बन जाते हैं। गुरु-मन्त्र का जाप ही उत्तम करनी है, यही हरि-मार्ग पर चलना है। गुरु-मन्त्र मिल जाने के बाद प्रभु को वश में करने के लिये किसी और वशीकरण मन्त्र की ज़रूरत नहीं रहती:

दुखु कलेसु न भउ बिआपै गुरमंत्रु हिरदै होइ। (म.५, ५१)
हरि हरि नामु जा कउ गुरि दीआ। नानक ता का भउ गइआ। (वही, २११)
मिटि गइआ दूखु बिसारी चिंता। फलु पाइआ जपि सतिगुर मंता। (वही, ३८८)
हरि का नामु दीओ गुरि मंत्र। मिटे विसूरे उतरी चिंत। (वही, १९०)
जा कउ गुरु हरि मंत्रु दे। सो उबरिआ माइआ अगनि ते। (वही, २११)
मति पूरी परधान ते गुर पूरे मन मंत। (वही, २५९)
भली सु करनी सोभा धनवंत। हिरदै बसे पूरन गुरमंत। (वही, २९०)
हरि मारगु साधू दसिआ जपीऐ गुरमंतु। (वही, ३२१)
सुणि सखीए मिलि उदमु करेहा मनाइ लैहि हरि कंतै।
मानु तिआगि करि भगति ठगउरी मोहह साधू मंतै। (वही, २४९)

नाम का सौदा:

धन कमाने के लिये व्यापारी व्यापार करता है, और व्यापार करने के लिये उसे पूँजी की आवश्यकता होती है। वह पूँजी किसी सगे-सम्बन्धी से मिलती है, इससे वह माल खरीद कर बेचता है, लाभ कमाता है और धनवान होता चला जाता है। परमार्थ की पूँजी नाम है और उसे देनेवाले स्नेही-सम्बन्धी हैं

सन्त-सतगुरु। सुखमनि साहिब में लिखा है:

जिसु वखर कउ लैनि तू आइआ।
राम नामु संतन घरि पाइआ। (म.५, २८३)

सन्त-सतगुरुओं के बिना और कोई स्थान नहीं जहाँ नाम या शब्द की पूँजी मिल सके:

बिनु सतिगुर नाउ न पाईऐ बुझहु करि वीचारु। (म.३, ६४८)
सिध साधिक नावै नो सभि खोजदे थकि रहे लिव लाइ।
बिनु सतिगुर किनै न पाइओ गुरमुखि मिलै मिलाइ। (म.३, ६५०)
सतिगुरु साहु भंडारु नाम जिसु इहु रतनु तिसै ते पाइणा। (म.५, १०७८)
सतिगुरु साहु सिख वणजारे। पूँजी नामु लेखा साचु सम्हारे। (म.५, ४३०)

नाम सतगुरु के सिवाय कहीं और क्यों नहीं मिलता? कहा जा सकता है कि मालिक की रज़ा ऐसी ही है; जैसे पानी सदा नीचे की ओर ही बहता है, आग के शोले ऊपर की ओर ही उठते हैं। वह जो चाहता है करता है, उससे जवाब माँगने की गुंजायश नहीं। पर शायद सचाई यह है कि नाम या शब्द ऐसी अमूल्य वस्तु है कि वह बाँटे जाने के लिये हरएक को नहीं सौंपी जा सकती। वह इसे खुद ही गुरु का जामा पहन कर बाँटता है।

परमेश्वर अलख है, अगम है, और अगोचर है। वह हमारी भुजाओं के घेरे में नहीं आता, हमारी अँगुलियों के पोर उसे छू नहीं सकते, हमारी आँखें उसे देख नहीं सकतीं, किसी यन्त्र की सहायता से भी नहीं, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ उस तक पहुँचने में असमर्थ हैं। फिर उसका साक्षात्कार हो तो कैसे हो?

संसार के किसी व्यक्ति या वस्तु को देखने के लिये हमारे और उसके बीच अन्तर होना आवश्यक है, पर परमात्मा का दीदार तभी होता है जब सब अन्तर मिट जायें। इस प्रयोजन की पूर्ति का एक ही साधन है, सतगुरु।

सतगुरु जब किसी जिज्ञासु पर दयावान होता है तो उसे दीक्षित करता है, अपने दिये नाम या शब्द का अभ्यास करवा कर उसका अहं-भाव मिटाता है, और फिर उसे अपने शब्द-रूप में समा लेता है। परमेश्वर निरंजन है, कोई मैली वस्तु उसके अस्तित्व का अंग नहीं बन सकती। सतगुरु अपने सेवक का मैल उसी तरह दूर कर देता है जिस तरह किसी छप्पर या तालाब का गन्दा पानी बहती नदी में मिलकर निर्मल हो जाता है; और इस तरह सतगुरु के माध्यम

द्वारा जीवात्मा के परमात्मा में मिल जाने का रास्ता साफ हो जाता है। सतगुरु खुद परमेश्वर से समरूप होता है और जब शिष्य सतगुरु के अस्तित्व में रच जाता है तो वह सहज ही प्रभु से मिल कर एक हो जाता है :

गुरमुखि कृपा करे भगति कीजै बिनु गुर भगति न होई।
आपै आपु मिलाए बूझै ता निरमलु होवै सोई। (म.३, ३२)
नानक मैला ऊजलु ता थीऐ जा सतिगुर माहि समाइ। (म.३, ८७)

कबीर साहिब के वचन हैं :

अगम अगोचरु रहै निरंतरि गुर किरपा ते लहीऐ।
कहु कबीर बलि जाउ गुर अपुने सतसंगति मिलि रहीऐ। (कबीर, ३३३)

इस वचन की व्याख्या करते हुए भाई वीरसिंह जी लिखते हैं : "उसमें समाकर ही हम उसे लखते या पाते हैं। उसे ऐसे नहीं जाना जा सकता जैसे दृष्टमान पदार्थों को हम दृष्टा होकर देखते हैं, अर्थात खुद कर्ता होकर वस्तुओं को कारक के रूप में देखता है, पर जिसमें उसका रूप सत्य होकर, सत्य में समा जाता है, इस समाये बिना जो भी ज्ञान है वह साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।" (संथया श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, २०५२)।

यह सतगुरु में समाना स्थूल या शरीरिक स्तर पर नहीं होता, क्योंकि शरीरों का शरीरों में मिल जाना प्रकृति के नियम के विरुद्ध है। परमेश्वर शब्द-स्वरूप है। भाई काहनसिंह अपने 'महान कोश' में शब्द का एक अर्थ करतार बताते हैं। गुरु खुद अन्तर में शब्द-स्वरूप होता है, और सुरत या आत्मा उस शब्द या परमात्मा की धुन : 'सबदु गुरू सुरति धुनि चेला' (म.१, ९४३)। जब नाम के अभ्यास द्वारा माया के मैल कट जाते हैं, मन और आत्मा की गाँठ खुल जाती है तो सुरत (धुन) शब्द (गुरु) में समाने के योग्य हो जाती है। इस प्राप्ति के लिये ज़रूरी होता है सुरत का उद्यम और शब्द (गुरु) की दया।

यद्यपि वेद-शास्त्र, उपनिषद तथा अन्य अनेक धर्म-ग्रन्थ पहले ही जीवों के मार्ग-दर्शन के लिये मौजूद थे, फिर भी सत्पुरुष, सन्त-सतगुरुओं को संसार में बार-बार क्यों भेजता रहा : 'हरि जुगु जुगु भगत उपाइआ' (म.४, ४५१)। इस प्रश्न का उत्तर गुरु अमरदास जी ने बड़े सुन्दर रूपक के द्वारा दिया है :

जैसी धरती ऊपर मेघुला बरसतु है किआ धरती मधे पाणी नाही।
जैसे धरती मधे पाणी परगासिआ बिनु पगा वरसत फिराही।
(म.३, १६२)

धरती के गर्भ में पहले ही बड़ा पानी मौजूद है, और पानी के इस गुप्त भण्डार के अलावा कितना ही पानी नदियों, नालों, झरनों, कुओं से प्रकट रूप में भी मिल सकता है, किन्तु फिर भी वर्षा होती है। परमेश्वर उसकी ज़रूरत महसूस करता है, तभी न ? जो पानी धरती की गहराई में पड़ा रहता है, उसका किसी को लाभ नहीं होता। जो नज़र आता है और खेती तथा पीने आदि के उपयोग में लाया जा सकता है, वह भी कहाँ हो अगर वर्षा न हो ? एक साल बादल न बरसें तो नदियाँ रेत-स्थलों में बदल जाती हैं और कुएँ खाली गड्ढों की शक्ल बन जाते हैं। सारी वनस्पति जल और सूख जाती है, और इन्सान, पशु, जीव-जन्तु सब भूख-प्यास से मरने लगते हैं। और यों भी बरकत आकाश से गिरे पानी में होती है, वह ज़मीन के पानी में नहीं होती। इसी प्रकार जो लोग ग्रन्थों, पुस्तकों को पढ़ ही नहीं सकते (और बहुसंख्या उनकी ही है) यह ज्ञान भण्डार उनके किसी काम नहीं आता। जो पढ़ लेते हैं उनमें इनके भाव तथा अर्थ के बारे में अनेक मत-भेद पैदा हो जाते हैं और परिणाम मार्ग-दर्शन की बजाय वैर-विरोध में निकलता है। इसलिये पुस्तकों द्वारा दिया गया परमेश्वर का ज्ञान सन्तों के मुख द्वारा दिये गये ज्ञान की कभी भी बराबरी नहीं कर सकता।

सन्तों महात्माओं का आगमन बार-बार इस कारण नहीं होता कि परमेश्वर को हर बार अपने मिलने का कोई नया रास्ता बताना होता है। वह खुद एक है और उसके मिलने का मार्ग भी एक से अधिक नहीं। पर उसके भेजे पथ-प्रदर्शक के चले जाने के बाद कितने ही लोग माया द्वारा भ्रमित होकर वह रास्ता भूल जाते हैं और कितने ही दूसरों को निजी इच्छाओं की पूर्ति के हेतु पाखण्डी लोग गुमराह कर देते हैं। तब हमारा दयालु कर्तापुरुष उस अपने बनाये सच्चे मार्ग को फिर याद कराने के लिये विवश हो जाता है और नये सिरे से मनुष्य देह धारण करके हम संसारी जीवों में आ मिलता है :

बिनु गुर अरथु बीचारु न पाइआ। मुकति पदारथु भगति हरि पाइआ।
(म.१, १५४)

सिमृति सासत्र पड़हि पुराणा। वादु वखाणहि ततु न जाणा।
(म.१, १०३२)

साधारण मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार की आशा-तृष्णाओं का बहकाया हुआ अनेक घटिया कर्म करने में लगा रहता है। अगर वह चाहे कि मैं अपने आप अपनी प्रकृति में ऐसा परिवर्तन ले आऊँ कि भविष्य में हमेशा अच्छा ही सोचूँ,

शुभ कार्य ही करूँ, तो यह हो नहीं सकता। गुरु की दया ही उसके जीवन में ऐसा मोड़ लाती है कि वह मनुष्य होते हुए आदर्श व्यवहार करने लगता है, उसके जन्म-जन्मान्तरों के मन्दे, बुरे संस्कार ग़लत अक्षरों की भाँति मिटकर प्रभाव-हीन हो जाते हैं :

बलिहारी गुर आपणे दिउहाड़ी सद वार।
जिनि माणस ते देवते कीए करत न लागी वार। (म.१, ४६२)

गुरु एक विशेष प्रकार का पारस होता है। साधारण पारस अपने स्पर्श से लोहे या ताँबे को सोना बना देता है, उसे अपने जैसे पारस में नहीं बदल सकता। इसके विपरीत, गुरु से कृतार्थ शिष्य खुद गुरु के गुण धारण करके गुरु के तुल्य हो जाता है। गुरु उसे अपने स्तर पर लाकर सत्य-स्वरूप में समा देता है : 'गुरु भेटे पारसु भए जोती जोति मिलाए' (म.१,४२१), तथा : 'नानक गुर ते गुरु होइआ वेखहु तिस की रजाइ' (म.३, ४९०)।

पारस से स्पर्श का लाभ पहुँचने के लिये नीची धातु का निर्मल होना आवश्यक है। मनूर या लोहे के मैल में पारस के स्पर्श से सोने की चमक पैदा नहीं होती। पर सतगुरु शिष्य की सब त्रुटियों, कमज़ोरियों को नज़र-अन्दाज करके उसे कंचन बना देता है : 'भइआ मनूरु कंचनु फिरि होवै जे गुरु मिलै तिनेहा' (म.३, ९९०)। गुरु नानक साहिब की दी गई इस उपमा को अपने आप पर घटा कर गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं : 'मनूरै ते कंचन भए भाई गुरु पारसु मेलि मिलाइ' (म.३, ६३८)।

जैसे कमल की जड़ ज़मीन में होती है, नाल जल में, और फूल आकाश में वैसे ही गुरु परमेश्वर में समरूप होता हुआ मनुष्य-स्वरूप धारण किये रखता है और उन आत्माओं की सँभाल के लिये जो उसकी सुरक्षा में सौंपी गई हैं, ऊपर के मण्डलों में भी विचरता रहता है। गुरु ही वह दयावान है जिसके बारे में कहा गया है :

नानक कचड़िआ सिउ तोड़ि ढूढि सजण संत पकिआ।
ओइ जीवंदे विछुड़हि ओइ मुइआ न जाही छोड़ि। (म.५, ११०२)

वह जीवन में तो पद-पद पर साथ देता और रहनुमाई करता ही है, शरीर छोड़ने के बाद भी आत्मा के अंग-संग रहता है :

सजण सेई नालि मै चलदिआ नालि चलंन्हि।
जिथै लेखा मंगीए तिथै खड़े दिसंन्हि। (म.१, ७२९)

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरु किसी एक ही जीव का गुरु नहीं होता, वह अनेकों का गुरु होता है। उनमें से अलग-अलग उमर के होते हैं। एक को आज मरना है, दूसरे को दस वर्ष बाद। तीसरे को तीस वर्ष बाद। गुरु अगर पहले की बाँह पकड़े रखने के लिये शरीर त्याग दे तो उसकी बाकी आत्माएँ कहाँ जायें ? संसार छोड़ने के बाद अलग-अलग आत्माओं को अपने-अपने कर्मों के अनुसार पता नहीं कौन-कौन से रास्तों पर चलना है, कैसी-कैसी मुसीबतों में से गुज़रना है। ज़रूरी नहीं कि वे एक लम्बे काफ़िले के रूप में अपना रास्ता तय कर लें। उनमें से हरएक को गुरु के एकाकी ध्यान की आवश्यकता पड़ती है।

मौत के बाद जीव के लेखे का हिसाब इस संसार में नहीं किया जाता, यह ऊपर के मण्डलों में होता है, और गुरु का उस स्थान पर सहायक होना इसलिये सम्भव होता है कि स्थूल शरीर धारण करने के बावजूद अपने शब्द रूप में उसे सूक्ष्म, कारण या अरूप मण्डलों में कहीं भी जाने-आने में कोई रुकावट नहीं होती। मर्त्य-मण्डल से सचखण्ड तक उसके लिये सभी मार्ग खुले होते हैं। इसकी साक्षी गुरु नानक साहिब देते हैं : 'गुरमुखि आवै जाइ निसंगु' (म.१, ९३२)। वे खुद सुलतानपुर रहते कुल-मालिक से मिलने के लिये क्या संसार से अलोप नहीं हुए थे, और उसी शरीर में फिर नहीं लौट आये थे ?

हम पढ़ते-सुनते आये हैं कि जो लोग मोटे पाप करते हैं, वे नरकों में जाते हैं, जहाँ यमराज के दूत उन्हें तपते स्तम्भों से चिमटाते हैं, तिल की तरह कोल्हू में पेरते हैं। ग्रन्थ-शास्त्रों में और ऐसी कितनी ही यातनाओं का वर्णन मिलता है। इस न्याय-प्रबन्ध के विरुद्ध कोई विरोध नहीं किया जा सकता, क्योंकि धर्मराज को यह कार्य सत्पुरुष ने सौंपा है : 'धरमराइ नो हुकमु है बहि सचा धरमु बीचारि' (म.३, ३८)। वह सत्पुरुष के हुक्म के अधीन ही अपने निर्णय करता है। सन्तोष की बात यह है कि जो लोग सतगुरु की शरण में आ जाते हैं उनका यमराज से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। उस ओर से कर्मों का लेखा फाड़कर उनका सारा हिसाब सतगुरु के पास पहुँच जाता है : 'धरमराइ दरि कागद फारे जन नानक लेख समझा' (म.४, ६९८)। अगर धर्मराज के पढ़ने, विचारने के लिये सत्संगी के कर्मों के लेख दर्ज ही न होंगे तो वह उसे किस आधार पर अपने कठघरे में बुलायेगा, कौन-सी पूछताछ करेगा : 'धरमराइ अब कहा करैगो जउ फाटिओ सगलो लेखा' (म.५, ६१४)। इसका मतलब यह न समझ लिया जाये कि सन्तों की संगति कोई चोरों, डाकुओं, ठगों, दुराचारियों की शरणागार है, कि

उनकी ओट लेने के बाद कोई जो भी चाहे, किये जाये। नहीं। सन्तों की संगति अमृत-सरोवर है, जिसमें स्नान करने से जीव कौए से हंस बन जाते हैं : 'अंमृतसरु सतिगुरु सतिवादी जितु नातै कऊआ हंसु होहै' (म.४, ४९३)। अर्थात उनकी शिक्षा के अनुसार नाम की कमाई करने से नीची कामनाओं और वासनाओं से छुटकारा मिल जाता है, मन तथा बुद्धि की निर्मलता प्राप्त हो जाती है और अभ्यासी प्रभु की रज़ा में रहते हुए वही करता है जो प्रभु को भाता है। बुरे कर्म उससे हो ही नहीं सकते और उसका जीवन सहज जीवन बन जाता है।

सतगुरु से मिलने से सुखों की प्राप्ति होती है और दुःखों का नाश होता है :

(क) जिन्ही सतिगुरु पिआरा सेविआ तिना सुखु सद होई। (म.४, ४५१)

(ख) सरब सुखा का दाता सतिगुरु ता की सरनी पाईऐ। (म.१, ६३०)

काम, क्रोध आदि विकारों से छुटकारा हो जाता है :

(क) कामु क्रोधु लोभु तजि गए पिआरे सतिगुर चरनी पाइ। (म.५, ४३१)

(ख) सतिगुर दरसनि अगनि निवारी। सतिगुर भेटत हउमै भारी। (म.५, १८३)

तृष्णाएँ मिट जाती हैं और सन्तोष आ जाता है :

(क) सतिगुर मिलिऐ मनु संतोखीऐ ता फिरि तृसना भूख न होइ। (म.३, ४९२)

(ख) एह वडिआई सतिगुर निरवैर विचि
जितु मिलिऐ तिसना भुख उतरै हरि सांति तड़ आवै। (म.३, ८५५)

हर प्रकार के बन्धनों से छुटकारा हो जाता है :

(क) सतिगुर बंधन तोड़ि निरारे बहुड़ि न गरभ मझारी जीउ। (म.१, ५९८)

(ख) सतिगुरु सिख के बंधन काटै। (म.५, २८६)

जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है :

(क) कहु कबीर जिसु सतिगुरु भेटै पुनरपि जनमि न आवै। (कबीर, ४७६)

(ख) सतिगुरि मिलिऐ फेरु न पवै जनम मरण दुखु जाइ। (म.३, ६९)

यमदूतों का भय नहीं रहता :

(क) साजनि मिलिऐ सुख पाइआ जमदूत मुए बिखु खाइ। (म.१,५५)

(ख) कहु नानक जिनि जम ते काढे तिसु गुर कै कुरबाणी। (म.५, ६७१)

कई कुलों तक का उद्धार हो जाता है :

(क) सतिगुरु सेवहि से महा पुरख संसारे।
आपि उधरे कुल सगल निसतारे। (म.३, १६१)

(ख) तिन का जनमु सफलु है जो चलहि सतगुर भाइ।
कुलु उधारहि आपणा धंनु जणेदी माइ।। (म.३, २८)

दरगाह में आदर मिलता है :

(क) सतिगुरु पूजउ सदा सदा मनावउ।
ऐसी सेव दरगह सुखु पावउ। (कबीर, ११५८)

(ख) जिनी पूरा सतिगुरु सेविआ से दरगह सदा सुहेले। (म.५, ७८)

सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं :

(क) जितड़े फल मनि बाछीअहि तितड़े सतिगुर पासि। (म.५, ५२)

(ख) लख खुसीआ पातिसाहीआ जे सतिगुरु नदरि करेइ। (म.५, ४४)

गुरु की आवश्यकता :

यह तो हम देख ही चुके हैं कि गुरु मिलने के बहुत लाभ हैं। सच तो यह है कि उसके बिना जीवात्मा का कुछ नहीं बनता। प्रभु जब किसी को भक्ति की दात बख़्शता है तो गुरु के माध्यम द्वारा ही बख़्शता है। गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं : 'बिनु सतिगुर नाउ न पाईऐ बिनु नावै किआ सुआउ' (म.१, ५८) और 'बिनु सतिगुर नामु न पाईऐ भाई बिनु नामै भरमु न जाई' (म.१, ६३५)। यही गुरु अमरदास जी समझाते हैं कि गुरु के बिना नाम किसी को नहीं मिला :

'बिनु गुर हरिनामु न किनै पाइआ मेरे भाई' (म.३, ५९१) और अपने कथन की पुष्टि के लिये तीन उदाहरण देते हैं। एक, बाल-भक्त प्रह्लाद का, जिसके मुकाबले में हिरण्यकशिपु जैसे महान बली को मुँह की खानी पड़ी। दूसरा, राजा जनक का, जिससे सुखदेव जैसे ऋषियों ने शिक्षा प्राप्त की। और तीसरा, वशिष्ठ का, जिससे उस समय के अवतार श्री रामचन्द्र जी ने उपदेश लिया और जिसके उच्चारण किये गये मन्त्रों को ऋग्वेद जैसे ग्रन्थ में स्थान मिला है :

गुरमुखि प्रहिलादि जपि हरि गति पाई।
गुरमुखि जनकि हरिनामि लिव लाई।
गुरमुखि बसिसटि हरि उपदेसु सुणाई। (म.३, ५९१)

सतगुरु के बिना नाम का सुमिरन नहीं किया जा पाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह सृजनकार द्वारा खुद नियत किया गया विधान है :

धुरि खसमै का हुकमु पइआ विणु सतिगुर चेतिआ न जाइ। (म.३, ५५६)
बिनु सतिगुर को नाउ न पाए प्रभि ऐसी बणत बणाई हे। (म.३, १०४६)

इसीलिये इस नियम का उल्लंघन करना किसी के लिये भी सम्भव नहीं। अगर कोई सतगुरु की सहायता के बिना प्रभु के बारे में सोच ही न सके तो उसके उद्धार का मार्ग कैसे खुले? इस वास्तविकता से अनजान लोग तरह-तरह के यत्न करने में कसर नहीं छोड़ते, फिर भी उनको सफलता नसीब नहीं होती :

कोटि जतना करि रहे गुर बिनु तरिओ न कोइ। (म.५, ५१)
नानक मनमुखि अंधु पिआरु। बाझु गुरू डुबा संसारु। (म.१, १३८)

अपनी बुद्धि के पीछे लगकर शुभ भावना के साथ किये जानेवाले कर्मों में प्रवत्त रहना वैसा ही है जैसा कोल्हू के बैल का एक ही चक्कर में घूमते जाना। बैल को तो शायद अपनी आँखों की पट्टी में से अपने सफ़र की व्यर्थता का कुछ आभास हो भी जाता हो, मनुष्य को तो माया की गहन पट्टियाँ कुछ भी नज़र नहीं आने देती :

सतिगुर बाझु न पाइओ सभ मोही माइआ जालि जीउ। (म.१, ७१)
सतिगुर बाझु न पाइओ सभ थकी करम कमाइ जीउ। (म.१, ७२)

'आसा की वार' में गुरु नानक साहिब सूचित करते हैं कि सतगुरु की शरण लिये बिना परमेश्वर का मिलाप सम्भव नहीं : 'बिनु सतिगुर किनै न पाइओ' और एक बार फिर : 'बिनु सतिगुर किनै न पाइआ', जैसे कि इस दुहराने से दृढ़

करवाना चाहते हों कि सतगुरु के बगैर प्रभु नहीं मिलता, नहीं मिलता। अगर कोई फिर पूछे कि भला सतगुरु के पास ऐसा कौन-सा चमत्कार है उसका मिलाप करवाने के लिये, तो जवाब देते हैं :

सतिगुर विचि आपु रखिओनु कर परगटु आखि सुणाइआ। (म.१, ४६६)

कि वह प्रभु खुद ही तो सतगुरु का रूप धारण करके आता है। जब सतगुरु अपने मुख से कोई वचन उचारता है तो समझ लो कि प्रभु खुद बोल रहा है।

मन को सुख व शान्ति बख़्शनेवाली एक ही चीज़ है—शब्द; और सतगुरु के उपदेश के बिना शब्द की समझ नहीं आती। फलस्वरूप, जीवन अपनी ओर से बहुत-कुछ करते हुए भी तड़पते हुए बीत जाता है :

नानक बिनु सतिगुर भेटे जगु अंधु है अंधे करम कमाइ।
सबदै सिउ चितु न लावई जितु सुखु वसै मनि आइ।
तामसि लगा सदा फिरै अहिनिसि जलतु बिहाइ। (म.३, ५५४)
आतम देउ पूजीऐ बिनु सतिगुर बूझ न पाइ। (म.३, ८८)

बेशक परमेश्वर की ही पूजा की जाये, लेकिन अगर सतगुरु की दया साथ में शामिल नहीं तो उसकी प्राप्ति की दृष्टि से रत्ती-भर भी लाभ नहीं मिलेगा, क्योंकि सतगुरु के बीच में आये बिना प्रभु अपनी भक्ति भी स्वीकार नहीं करता। जो मार्ग साक्षात्कार करवाता है, सचखण्ड पहुँचाता है, उसका भेद सतगुरु की रहनुमाई के बिना नहीं मिलता, और मार्ग की सीध के बिना चाहे कितने ही लम्बे रास्ते तय किये जायें, मंज़िल मृग-तृष्णा या छल ही बनी रहती है :

बिनु सतिगुर को मगु न जाणै अंधे ठउर न काई। (म.३, ६५)
अंधे अकली बाहरे किआ तिन सिउ कहीऐ।
बिनु गुर पंथु न सूझई कितु बिधि निरबहीऐ। (म.१, २२९)

आत्मिक-मार्ग को प्रकट करनेवाली आँखें गुरु से ही मिलती हैं। अगर कोई इस सच्चाई से ही अनजान है तो वह अक्ल का अन्धा है, उसे कोई कुछ कहे तो क्या कहे।

परमार्थ की डगर बड़ी विकट है, खाँडे की धार पर चलने समान है : 'ऐहु मारगु खंडे धार' (म.५, ५३४)। उसे पार करने के लिये कदम-कदम पर गुरु की आवश्यकता पड़ती है, उसकी सहायता के बिना रजो, तमो, सतो गुणों के बँधन नहीं टूटते : 'किउ गुर बिनु त्रिकुटी छुटसी' (म.१, १८) मन की गन्दगी दूर नहीं

होती : 'बिनु गुर मैलु न उतरै' (म.१, १८); मूल की पहचान नहीं होती : 'गुर बिनु आपु न चीनीऐं' (म.१, ५८); 'नानक गुर बिनु मन का ताकु न उघड़ै' (म.२, १२३७); अज्ञान का नाश नहीं होता : 'जे लख करम कमावही बिनु गुर अंधिआरा' (म.१, २२९); परम पद की प्राप्ति नहीं होती : 'बिनु सतिगुर किनै न पाई परमगते' (म.५, १३४८)। सही बात तो यह है कि सतगुरु के बिना परेशानी ही परेशानी है, नरक भोगो या संसार में तड़पते रहो : 'बिनु सतिगुर सुखु न पावई' (म.३, २६)

गुरु

समुंदु विरोलि सरीरु हम देखिआ इकु वसतु अनूप दिखाई।
गुर गोविंदु गुोविंदु गुरू है नानक भेदु न भाई।
(म.४, ४४२)

गुरमुखि वरतै सभु आपे सचा गुरमुखि उपाइ समावणिआ।
(म.३, ११७)

गुरु करता गुरु करणहारु गुरमुखि सची सोइ।
गुरु ते बाहरि किछु नही गुरु कीता लोड़े सु होइ। (म.५, ५२)
गुरदेव माता गुरदेव पिता गुरदेव सुआमी परमेसुरा। (म.५, २५०)
नानक संत संत हरि एको जपि हरि हरि नामु सोहंदी। (म.१, ७९)
सतिगुर सति सरूप है धिआन मूल गुर मूरति जाणै।
(भाई गुरदास वार, ६–१९)

सो सतिगुरु जि सचु धिआइदा सचु सचा सतिगुरु इके।
(म.४, ३०४)

आपे सतिगुरु आपि हरि आपे मेलि मिलाइ।
आपि दइआ करि मेलसी गुर सतिगुर पीछै पाइ। (म.४, ४१)
हरि जन प्रभु रलि एको होए हरिजन प्रभु एक समानि जीउ।
(म.४, ४४७)

गुरु पारब्रहमु परमेसरु आपि।
आठ पहर नानक गुर जापि। (म.५, ३८७)
गुर नानक देव गोविंद रूप। (म.५, ११९२)
नानक प्रभ जनु एको जानु। (म.५, २८२)

सतिगुर विचि आपि वरतदा हरि आपे रखणहारु। (म.४, ३०२)
निरभउ निरंकारु अलखु है गुरमुखि प्रगटीआ। (म.३, ५९६)
इहु जगु अंधा सभु अंधु कमावै बिनु गुर मगु न पाए।
नानक सतिगुरु मिलै त अखी वेखै घरै अंदरि सचु पाए।
(म.३, ६०३)

गुरमति जिनी पछाणिआ से देखहि सदा हदूरि। (म.३, २७)
गुर के बचनि जागिआ मेरा करमु।
नानक गुरु भेटिआ पारब्रहमु। (म.५, २३९)
भाई रे साची सतिगुर सेव।
सतिगुर तुठै पाईऐ पूरन अलख अभेव। (म.५, ५२)
सतिगुरि पुरखि विखालिआ मसतकि धरि कै हथु जीउ। (म.५, ७३)
पिता जाति ता होईऐ गुरु तुठा करे पसाउ। (म.४, ८२)
अदिसटु अगोचरु अलखु निरंजनु सो देखिआ गुरमुखि आखी।
(म.४, ८७)

सतिगुरु साहु सिख वणजारे।
पूंजी नामु लेखा साचु सम्हारे। (म.५, ४३०)
नंनाकारु न होता ता कहु।
नामु मंत्रु गुरि दीनो जा कहु। (म.५, २५७)
गुर बिनु दूजा नाही थाउ। गुरु दाता गुरु देवै नाउ। (म.५, ३८७)
कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा। वाजे ता कै अनहद तूरा।
(म.५, ३९३)

गुरमुखि भगति जुग चारे होई।
होरतु भगति न पाए कोई। (म.३, १२२)
भाई रे गुर बिनु भगति न होइ। (म.३, ३१)
गुर का सबदु लगो मनि मीठा। पारब्रहमु ता ते मोहि डीठा।
(म.५, १८७)

गुरमति बाजै सबदु अनाहदु गुरमति मनूआ गावै। (म.४, १७२)
बंधन तोड़ि बोलावै रामु। मन महि लागै साचु धिआनु।
मिटहि कलेस सुखी होइ रहीऐ। ऐसा दाता सतिगुरु कहीऐ।
(म.५, १८३)

गुरु सुखदाता गुरु करतारु।
जीअ प्राण नानक गुरु आधारु। (म.५, १८७)
संत संगि तह गोसटि होइ।
कोटि जनम के किलविख खोइ। (म.५, १९९)
गुर हरि बिनु को न ब्रिथा दुखु काटै। (म.५, ४९७)
सतिगुरु गहिर गंभीरु है सुख सागरु अघ खंडु। (म.५, ५०)
मिलि सतिगुर सभु दुखु गइआ हरिसुखु वसिआ मनि आइ।
अंतरि जोति प्रगासीआ एकसु सिउ लिव लाइ। (म.५, ४६)
गुरु परमेसरु सेविआ भै भंजनु दुख लथु। (म.५, ४९)
लाख कोट खुसीआ रंग रावै जो गुर लागा पाई जीउ। (म.५, १०१)
सचु करणी सबदु है सारु। पूरै गुरि पाईऐ मोख दुआरु।
अनदिनु बाणी सबदि सुणाए सचि राते रंगि रंगावणिआ। (म.३, ११४)
आवणु जावणु तउ रहै पाईऐ गुरु पूरा। (म.१, ४२२)
सो मुकता संसारि जि गुरि उपदेसिआ। (म.५, ५१९)
जा कउ गुर हरिमंत्रु दे।
सो उबरिआ माइआ अगनि ते। (म.५, २११)
गुर के चरण रिदै उरिधारि।
अगनि सागरु जपि उतरहि पारि। (म.५, १९२)
गुरि काढिओ भुजा पसारि मोह कूपारीआ।
मै जीतिओ जनमु अपारु बहुरि न हारीआ। (म.५, २४१)
भए क्रिपाल सुआमी मेरे जीउ।
पतित पवित लगि गुर के पैरै जीउ। (म.५, २१६)
बाह पकड़ि गुरि काढिआ सोई उतरिआ पारि। (म.५, ४४)
गुरु परमेसरु पारब्रहमु गुरु डुबदा लए तराइ। (म.५, ४९)
आगै पूछ न होवई जिसु बेली गुरु करतारु।
आपि छडाए छुटीऐ आपे बखसणहारु। (म.१, ६२)

गुरसिख राखे गुर गोपालि।
काढि लीए महा भवजल ते अपनी नदरि निहालि। (म.५, ३८२)
गति होवै संतह लगि पाई। (म.५, ३८६)
नानक मैला ऊजलु ता थीऐ जा सतिगुर माहि समाइ। (म.३, ८७)
खुदी मिटी चूका भोलावा गुरि मन ही महि प्रगटाइआ जीउ। (म.५, १०४)
जिन कउ लिखतु लिखे धुरि मसतकि ते गुर संतोखसरि नाते। (म.४, १६९)
अठि सठि तीरथ गुर की चरणी पूजै सदा विसेखु। (म.१, १४७)
मन रे हउमै छोडि गुमानु।
हरि गुरु सरवरु सेवि तू पावहि दरगह मानु। (म.१, २१)
सतिगुरु पुरखु अम्रितसरु वडभागी नावहि आइ।
उन जनम जनम की मैलु उतरै निरमल नामु द्रिड़ाइ। (म.४, ४०)
तीरथ वरत लख संजमा पाईऐ साधू धूरि। (म.५, ४८)
नानक धूड़ि पुनीत साध लख कोटि पिरागे। (म.५, ३२२)
गुर की रेणु नित मजनु करउ। जनम जनम की हउमै मलु हरउ।
तिसु गुर कउ झूलावउ पाखा। महा अगनि ते हाथु दे राखा।
तिसु गुर कै गिृहि ढोवउ पाणी। जिसु गुर ते अकल गति जाणी।
तिसु गुर कै गिृहि पीसउ नीत। जिसु प्रसादि वैरी सभ मीत। (म.५, २३९)
संत का दरसु पूरन इसनानु। संत कृपा ते जपीऐ नामु।
संत के संगि मिटिआ अहंकारु। दृसटि आवै सभु एककारु।
संत सुप्रसंन आए वसि पंचा। अमृतु नामु रिदै लै संचा।
कहु नानक जा का पूरा करम। तिसु भेटे साधू के चरन। (म.५, १८९)
गुण पूजा गिआन धिआन नानक सगल घाल।
जिसु करि किरपा सतिगुरु मिलै दइआल। (म.५, १८७)
भए क्रिपाल गुसाईआ नठे सोग संताप।
तती वाउ न लगई सतिगुरि रखे आपि।

गुरु नाराइणु दयु गुरु गुरु सचा सिरजणहारु।
गुरि तुठै सभु किछु पाइआ जन नानक सद बलिहार।
(म.५, २१८)

सतिगुर मिलिऐ उलटी भई नव निधि खरचिउ खाउ।
अठारह सिधी पिछै लगीआ फिरनि निजघरि वसै निजथाइ।
अनहद धुनी सद वजदे उनमनि हरि लिव लाइ।
(म.५, ९१)

अंम्रितु वरखै अनहद बाणी। मन तन अंतरि सांति समाणी।
त्रिपति अघाइ रहे जन तेरे सतिगुरि कीआ दिलासा जीउ।
(म.५, १०५)

अखंड कीरतनु तिनि भोजनु चूरा।
कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा। (म.५, २३६)
कहै नानकु एहि नेत्र अंध से सतिगुरि मिलिऐ दिब द्रिसटि होई।
(म.३, ९२२)

जिउ जननी सुतु जणि पालती राखै नदरि मझारि।
अंतरि बाहरि मुखि दे गिरासु खिनु खिनु पोचारि।
तिउं सतिगुरु गुरुसिख राखता हरि प्रीति पिआरि।
(म.४, १६८)

गुर के चरन रिदै परवेसा।
रोग सोग सभि दूख बिनासे उतरे सगल कलेसा। (म.५, ५३१)
सतिगुर कै बलिहारणै मनसा सभ पूरेव। (म.५, ४४)
जितड़े फल मनि बाछीअहि तितड़े सतिगुर पासि। (म.५, ५२)
सतिगुर सरणी आइआं बाहुड़ि नही बिनासु। (म.५, ५२)
गुरु तीरथु गुरु पारजातु गुरु मनसा पूरणहारु।
गुरु दाता हरिनामु देइ उधरै सभु संसारु। (म.५, ५२)
सतिगुरु सेवे ता सभ किछु पाए।
जेही मनसा करि लागै तेहा फलु पाए।
सतिगुरु दाता सभना वथू का
पूरै भागि मिलावणिआ। (म.३, ११६)
चरन सेव संत साध के सगल मनोरथ पूरै। (म.३, १३३)

चारि पदारथ जे को मागै। साध जना की सेवा लागै।
(म.५, २६६)
जो चितु लाइ पूजे गुर मूरति सो मन इछे फल पावै। (म.४, ३०३)
कहु बेनंती अपुने सतिगुर पाहि।
काज तुमारे देइ निबाहि। (म.५, १८२)
गुर मूरति सिउ लाइ धिआनु।
ईहा ऊहा पावहि मानु। (म.५, १९२)
जउ होइ क्रिपाल त सतिगुरु मेलै सभि सुख हरि के नाए।
(म.५, २१३)

जे कृपा करे मेरा हरि प्रभु करता
तां सतिगुरु पारब्रहमु नदरी आवै। (म.४, ३०५)
पूरा सतिगुरु तां मिलै जां नदरि करेई। (म.३, ४२४)
गुरु समरथु अपारु गुरु वडभागी दरसनु होइ।
गुरु अगोचरु निरमला गुर जेवडु अवरु न कोइ। (म.५, ५२)
तूं सभना माहि समाइआ। तिनि करतै आपु लुकाइआ।
नानक गुरमुखि परगटु होइआ जा कउ जोति धरी करतारि जीउ।
(म.१, ७२)

किरपा करे जिसु पारब्रहमु होवै साधू संगु। (म.५, ७१)
साधू की मन ओट गहु उकति सिआनप तिआगु।
गुर दीखिआ जिह मनि बसै नानक मसतकि भागु। (म.३, २६०)

जिन कउ पूरबि लिखिआ तिन सतगुरु मिलिआ आइ।
(म.३, २७)

गुरु दाता जुग चारे होई। (म.३, २३०)
सभि सिआणपा छडि कै गुर की चरणी पाहु। (म.५, ४४)
बिनु सतिगुर किनै न पाइओ बिनु सतिगुर किनै न पाइआ।
(म.१, ४६६)

बिनु गुर किनै न पाइओ बिरथा जनमु गवाइ। (म.३, ३३)
हरि निरमलु अति ऊजला बिनु गुर पाइआ न जाइ। (म.३, ६६)
सतिगुर बाझु न पाइओ सभ थकी करम कमाइ जीउ।
(म.१, ७२)

हरि अउखधु सभ घट है भाई।
गुर पूरे बिनु बिधि न बनाई। (म.५, २५९)

बिनु सतिगुर हरिनामु न लभई लख कोटी करम कमाउ।
(म.४, ४०)

गुर सेवा ते हरिनामु पाइआ बिनु सतिगुर कोइ न पावणिआ।
(म.३, ११६)

सासत बेद सिमृति सभि सोधे सभ एका बात पुकारी।
बिनु गुर मुकति न कोऊ पावै मनि वेखहु करि बीचारी।
(म.३, ४९५)

बिनु सतिगुर भेटे नामु पाइआ न जाइ। (म.५, ९४६)

विणु सतिगुर परतीति न आवई नामि न लागो भाउ।
(म.३, ६५)

विणु सतिगुरु सेवे नाही सुखि निवासु फिरि फिरि आईऐ।
(म.१, १४४)

बिनु सतिगुर पचि मूए साकत निगुरे गलि जम फासा हे।
(म.५, १०७३)

सतिगुरु न सेवहि मूरख अंध गवारा। (म.३, ११५)

बिनु गुर न पावैगो हरि जी को दुआर। (म.५, ५३५)

बिनु सतिगुर भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिनु गुर मुआ जनमु हारि। (म.१, ९४६)

बाझु गुरू है अंध गबारा। अगिआनी अंधा अंधु अंधारा।
बिसटा के कीड़े बिसटा कमावहि फिरि बिसटा माहि पचावणिआ।
(म.३, ११६)

नानक मनमुखि अंधु पिआरु। बाझु गुरू डुबा संसारु।
(म.३, १३७)

बिनु सतिगुर भेटे महा दुखु पाइ। (म.१, ९४६)

बिनु सतिगुर सेवे बहुता दुखु लागा जुग चारे भरमाई।
(म.३, ६०३)

बिनु सतिगुर सभु जगु बउराना।
मनमुखि अंधा सबदु न जाणै झूठै भरमि भुलाना। (म.३, ६०४)

बिनु सतिगुरू जमकालु न छोडई दूजै भाइ खुआई।
(म.३, १४१४)

सतिगुरू न सेविओ सबदु न रखिओ उरधारि।
धिगु तिना का जीविआ कितु आए संसारि। (म.३, १४१४)

बिनु सतिगुर सेवे जीअ के
बंधना जेते करम कमाहि।
बिनु सतिगुर सेवे ठवर न पावही
मरि जंमहि आवहि जाहि।
बिनु सतिगुरु सेवे फिका बोलणा
नामु न वसै मनि आइ।
नानक बिनु सतिगुर सेवे जमपुरि बधे
मारीअहि मुहि कालै उठि जाहि। (म.४, ५५२)

नानक बिनु सतिगुर भेटे जगु अंधु है अंधे करम कमाइ।
सबदै सिउ चितु न लावई जितु सुखु वसै मनि आइ।
तामसि लगा सदा फिरै अहिनिसि जलतु बिहाइ।
(म.३, ५५४)

बरमी मारी सापु न मरै तिउ निगुरे करम कमाहि। (म.३, ५८८)

अगै गए न मंनीअनि मारि कढहु वेपीर। (म.१, ५९५)

नाम या शब्द

नामै ही ते सभु किछु होआ
बिनु सतिगुर नाम न जापै।
गुर का सबदु महा रसु मीठा
बिनु चाखे सादु न जापै।

—म.३, ७५२

सचै सबदि सची पति होई।
बिनु नावै मुकति न पावै कोई।
बिनु सतिगुर को नाउ न पाए
प्रभि ऐसी बणत बणाई हे।

—म.३, १०४६

नाम या शब्द

नाम :

अगर कोई नदी पार करना हो तो यात्री मल्लाह की शरण लेता है और मल्लाह उसे अपनी नाव में बैठा लेता है। जीवात्मा के खेवट–सतगुरु–के बारे में विचार किया जा चुका है। अब एक दृष्टि उसकी नाव–नाम–पर भी डाल ली जाये।

आम तौर से मात्राओं, स्वरों या व्यंजनों के उस समूह को नाम कहते हैं जिससे किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या स्थान की पहचान की जाती है, या यों कहें कि उसे उस जैसे अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं आदि से अलग किया जाता है।

नाम, नाम में कई तरह के अन्तर हैं। उदाहरण के तौर पर, एक वस्तु-वाचक नाम होते हैं, जैसे इन्सान, किला, मोती, तथा उसके विरुद्ध भाव-वाचक नाम, जैसे कृपालुता, सुन्दरता, बुद्धिमत्ता। नामों के इनके अलावा और प्रकार भी हैं, पर हमारे विचार का विषय सीमित है और उसके लिये एक ही नाम सुसंगत है, हमारे परमपिता का नाम।

आश्चर्य की बात यह है कि परमात्मा एक है, पर उसके नाम अनेक हैं : 'अनेक असंख नाम हरि तेरे न जाही जिहवा इतु गनणे' (म.४, ११३५)। जब से सृष्टि रची गई है तब से ही अलग-अलग बिरादरी, कौम, क्षेत्र, देश के लोग उसे अपनी-अपनी भाषा में अलग-अलग नामों से पूजते रहे हैं। मनुष्य की उमर तो कुछ भी नहीं होती। बिरादरियाँ, कौमें आदि भी हमेशा बनी नहीं रहतीं, समय के साथ मिट जाती हैं। उनके स्थान पर नई बिरादरियाँ और कौमों का जन्म हो जाता है, और वे फिर अपने मन-चाहे नाम रख लेती हैं। इस प्रकार अब तक न जाने उसके कितने नाम रखे जा चुके हैं और आगे कितने रखे जाते रहेंगे।

आज संसार में अनेक धर्म हैं, बहुत-से फ़िरके, बहुत-सी भाषाएँ हैं, और उन सबमें प्रचलित हैं प्रभु के अलग-अलग नाम। लगभग सौ साल से उसे 'राधास्वामी' (आत्मा का मालिक) पुकारा जाने लगा है, अकालपुरुष, वाहिगुरु लगभग पाँच सौ वर्ष से और अल्लाह लगभग चौदह सौ साल से। गॉड, राम,

आदि नाम कुछ और पुराने हैं। पर हमें पता है कि मानव-स्मृति की पहुँच कितनी है, उसकी पहुँच सृष्टि की उम्र के मुकाबले किसी भी गिनती में नहीं है। जाप साहिब में गुरु गोबिन्दसिंह जी ने प्रभु को हज़ार से अधिक नामों से याद किया है। विष्णु सहस्र नाम में भी उसके हज़ार नाम गिनाये गये हैं। कहा जाता है कि शेषनाग हज़ार मुखों से उसके अलग-अलग नाम उचारता है और वे फिर भी समाप्त नहीं होते। गुरु अर्जुनदेव जी ने फ़रमाया है कि उसके नये नाम रखनेवाले उपासक करोड़ों हैं : 'कई कोटि नवतन नाम धिआवहि' (म.५,२७५)। इस प्रकार उसके तो नये नामों का भी लेखा नहीं किया जा सकता, किसी बढ़िया कंप्यूटर की सहायता से भी नहीं ; जो नाम प्रयोग में आकर बिसर गये, उनका तो वर्णन ही क्या किया जाये।

कृत्रिम नाम :

ये जो लाखों-करोड़ों नामों की हमने बात की है, वे सब कृत्रिम नाम हैं, सभी मनुष्यों के सोचे और रखे हुए हैं। सो जिस तरह उनको पैदा करनेवाले मनुष्य नाशवान हैं, उसी तरह उनके रखे नाम भी मिट जानेवाले हैं। इनसे अलग एक नाम है जो प्रभु ने आप रचा है : 'आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ' (म.१, ४६३)। कृत्रिम नामों के विपरीत वह नाम आदि युगादि है, अनादि है : 'किरतम नाम कथे तेरे जिहबा। सतिनामु तेरा परा पूरबला' (म.५, १०८३)। सतनाम से तात्पर्य है सदा कायम रहनेवाला, अमर, अटल।

हम ऊपर देख आये हैं कि साधारण लोगों की भाषा में नाम मात्राओं का समूह होता है। और मात्राओं में आ जानेवाली सृष्टि 'देवनागरी' लिपि के बावन अक्षरों के घेरे में आ जाती है। अक्षरों की प्रकृति ही खिर जाना अथवा समाप्त हो जाना है, इसलिये उनकी सीमा में आ जानेवाला सबकुछ उनकी ही तरह काल का ग्रास बन जाता है। हाँ, परमेश्वर उन अक्षरों में नहीं आता : 'बावन अछर लोक त्रै सभु कछु इन ही माहि। ऐ अखर खिरि जाहिगे ओइ अखर इन महि नाहि। (कबीर, ३४०)। कबीर साहिब कहते हैं कि मुझे पता है कि आदि में ओंकार ही था ('ओअंकार आदि मैं जाना'), पर जो नाम 'ओंकार' लिखा और मिटाया जा सकता है, मैं उसे मानने के लिये तैयार नहीं, अर्थात यह ओंकार सच्चा नाम नहीं हो सकता : 'लिखि अरु मेटै ताहि न माना' (कबीर, ३४०)।

कृत्रिम नाम लिखने, पढ़ने और बोलने में आ जाते हैं, इसलिये उनका अन्त होना निश्चित होता है ; वे सतनाम नहीं होते। इस प्रकार के नामों में से हरएक

आगे-पीछे पूरी तरह भूला और भुला दिया जाता है।

सच्चा नाम :

कृत्रिम नाम, पाँच-दस तो कम से कम हर किसी को मालूम होते हैं, और अगर ज़रूरत हो तो वे चाहे किसी से भी पूछे जा सकते हैं। इसके अलावा अनेक पुस्तकों से उनके बारे में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। पर सच्चा नाम कृत्रिम नाम की भाँति प्रकट नहीं होता, लुप्त रहता है : 'अदृसट अगोचरु नामु अपारा' (म.१, १०४१)। आँखें तो क्या, यह किसी भी इन्द्रिय की पकड़ में नहीं आता, चाहे इस नाम का निवास हर हृदय में है : 'गुपता नामु वरतै विचि कलजुगि घटि घटि हरि भरपूरि रहिआ' (म.५, १३३४)। उसका भेद पूरा गुरु ही दया करके बख़्शता है : 'पूरे गुर ते नामु पलै पाई' (म.५, ११७५)। सतगुरु के बिना, अपने ही यत्न या किसी और की सहायता द्वारा यह अमूल्य वस्तु कदापि हाथ नहीं आती। प्रभु की रज़ा ही कुछ ऐसी है : 'बिनु सतिगुर को नाउ न पाए प्रभि ऐसी बणत बणाई हे' (म.३, १०४६)।

धुनात्मक नाम :

जिस प्रकार अक्षरों के अनुसार रचे गये छन्द पिंगल की भाषा में वर्णिक छन्द कहलाते हैं और मात्राओं के आधार पर रचे गये मात्रिक छन्द, इसी प्रकार अक्षरों द्वारा लिखे-पढ़े जानेवाले नाम को वर्णात्मक या अक्षरी नाम की संज्ञा दी जाती है और अन्तर में ध्वनि के रूप में आन्तरिक कानों द्वारा सुने जानेवाले को धुनात्मक नाम कहते हैं। गुरु नानक साहिब के वचन : 'हिरदै नामु सदा धुनि निहचल घटै न कीमति पाई' (म.१, १२३२) धुनात्मक नाम की ओर इशारा करते हैं।

यह नाम जीव को अपने अन्दर सुनाई ही नहीं देता बल्कि एक अमृत की प्रकृति वाली ज्योति के रूप में दिखाई भी देता है : 'निरमल जोति अंमृतु हरि नाम' (म.५, ८८७)। यह संगीतमय ज्योति या प्रकाशमय धुन परमेश्वर आप पैदा करता है : 'सचु नाउ करतार आप उपाइआ' (भाई गुरदास, वार २०, पौड़ी ९) और इसके द्वारा सृष्टि की रचना करता है : 'जेता कीता तेता नाउ' (जपुजी) तथा उसे अपना हाथ देकर चलाता भी रहता है : 'नाम के धारे सगले जंत। नाम के धारे खंड ब्रहमंड।' (म.५, २८४)। यह धुनात्मक नाम, अकाल नाम, अकालपुरुष की भाँति ही स्थायी है, अविनाशी है : 'साचा साहिब साच नाइ'

(जपुजी) या यों कहें कि खुद परमेश्वर ही है : 'घरि घरि नामु निरंजना सो ठाकुर मेरा' (म.१, २२९)। सारे खण्ड-ब्रह्माण्डों को रचने वाला नाम खुद हरि है : 'हरि हरि उतमु नामु है जिनि सिरिआ सभु कोइ जीउ' (म.४, ८१)। यह सर्वव्यापक है : 'राम नामु रमु रवि रहे रमु रामो रामु रमीति' (म.४, १३१६)।

निर्मल नाम :

प्रभु शुचि है, निर्मल है : 'सतगुरु सचु प्रभु निरमला' (म.३, २७) और उससे मिलाप के इच्छुक का खुद निर्मल होना ज़रूरी है : 'सुचि होवे ता सचु पाईऐ' (म.३, ४७२)। शुचि का मतलब यह नहीं कि कोई पानी की चार बाल्टियाँ शरीर पर डाल कर परमेश्वर के निकट आ जाता है : 'सूचे एहि न आखीअहि बहनि जि पिंडा धोइ' (म.१, ४७२)। शुद्धि अन्दर से होनी चाहिए : 'सूचे सेई नानका जिन मनि वसिआ सोइ' (म.१, ४७२), कुल मालिक के बसने के स्थान की शुद्धि : 'घटि घटि मै हरि जू बसै' (म.९, १४२६)।

एक बार किसी वैज्ञानिक ने एक रुपये के साधारण नोट का निरीक्षण किया तो उस पर उसे खून लगा मिला, नाक की लेश, मुँह का थूक, पान की पीक, पसीना, आदि, कई बीमारियों के कीटाणु तथा और बहुत कुछ। वह नोट, हो सकता है अपने जीवन के गिने हुए सालों में सैंकड़ों हाथों, जेबों या पर्सों में से गुज़रा हो। मन ने तो अपने लम्बे सफर के दौरान लाखों शरीरों के अन्दर वर्षों के वर्ष निवास किया है। जो गन्दगियाँ उस पर एक-एक करके चिपट गई हैं, उनको कौन गिनेगा। शुक्र की बात यह है कि चाहे ये मलिनताएँ कितनी भी हों, नाम के सामने खड़ी नहीं रहतीं, वैसे ही अलोप हो जाती हैं जैसे सूर्य के आगे धुंध :

भरीऐ हथु पैरु तनु देह। पाणी धोतै उतरसु खेह।
मूत पलीती कपड़ु होइ। दे साबूणु लईऐ ओहु धोइ।
भरीऐ मति पापा कै संगि। ओहु धोपै नावै कै रंगि। (म.१, ४)

जब नाम के सुमिरन से मन के मैल उतर जाते हैं : 'प्रभ कै सिमरनि मन की मलु जाइ' (म.५, २६३), तो वह कल्याण की खोज में आत्मा का हृदय से साथ देने लगता है। मन का मैल नाम के बिना और किसी से नहीं उतरता :

जतु सतु संजमु नामु है विणु नावै निरमलु न होइ। (म.३, ३३)

परोपकार :

ऐसे नासमझ लोगों की कमी नहीं जो प्रभु के प्रेमियों को स्वार्थी, खुदपरस्त

या अन्तरमुखी कहकर उनकी निन्दा करने में संकोच नहीं करते। उनकी दृष्टि में अपने सजातीय जीवों को भौतिक लाभ पहुँचाना ही उत्तम कर्म माना जा सकता है। पर वे भूल जाते हैं कि नाम का अभ्यास सब परोपकारों में से शिरोमणि परोपकार है, क्योंकि इसके द्वारा अभ्यासी के साथ अन्य अनेक प्राणियों का भी उद्धार हो जाता है :

जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि। (म.१, ८)

संसार के लोग अनेक बीमारियों के शिकार होते हैं, उनमें से कोई शरीर को पीड़ित करती है, कोई मन को, कोई आत्मा को। हर बीमारी की अपनी प्रकृति होती है और अलग-अलग प्रकृतियों के कारण उनके लिये अलग-अलग दवाइयों का प्रयोग किया जाता है। एक बीमारी के लिये आज़माई जा चुकी दवा दूसरी के लिये घातक सिद्ध हो सकती है। नाम ही एक अकसीर है जो हर बीमारी को दूर कर देती है, जैसा कि गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं :

सरब रोग का अउखदु नामु। (म.५, २७४)

यह अनुमान करना कठिन नहीं होना चाहिए कि इस प्रकार की रामबाण दवा किसी पंसारी की दुकान पर नहीं मिलती, वह राम से ही मिलती है, या कह लें, राम की दया से :

नामु अउखधु सोई जनु पावै।
करि किरपा जिसु आपि दिवावै। (म.५, १७९)

इसकी बख़्शिश सतगुरु के ज़रिये परमेश्वर करता है।

एकमात्र सहायक :

एक बार मौत की दहलीज़ पार कर जाने के बाद कोई माता, पिता, बहन, भाई, पत्नी, पुत्र, पुत्री, मित्र और सम्बन्धी साथ नहीं देते। जिस अँधेरे, एकान्त और विशाल सुनसान में से जीव को गुज़रना होता है, वहाँ रास्ता बताने के लिये कोई निशान नहीं होते, किसी मोड़ पर कोई हरी या लाल बत्ती नहीं जलती, चीख-पुकार करने पर कोई पल्ला पकड़ाने वाला नहीं आता। यहाँ, अपने घर में, चाहे छत्तीस प्रकार के भोजनों के भण्डार भरे पड़े हों, पर आटे की एक चुटकी तक साथ बाँध कर ले जाई नहीं जा सकती। वहाँ की असह्य तपिश में जान सूखती है और नीम का एक पत्ता तक सिर ढकने के लिये नहीं मिलता। उस संकट की घड़ी में केवल नाम ही सहायक होता है। वह तोशा या पाथेय भी बन

जाता है, मशाल भी, बड़ का छायादार वृक्ष भी और सर्वज्ञ पथ-प्रदर्शक भी बन जाता है। वह हर कमी से, कष्ट से, बाल-बाल बचा लेता है :

जिह मारग के गने जाहि न कोसा। हरि का नामु ऊहा संगि तोसा।
जिह पैडै महा अंध गुबारा। हरि का नामु संगि उजीआरा।
जहा पंथि तेरा को न सिञानू। हरि का नामु तह नालि पछानू।
जह महा भइआन तपति बहु घाम। तह हरि के नाम की तुम ऊपरि छाम।
(म.५, २६४)

नाम के तेज के आगे लोक और परलोक की बड़ी से बड़ी कठिनाई दूर हो जाती है :

जह मुसकल होवै अति भारी। हरि को नामु खिन माहि उधारी।
(म.५, २६४)

किसी न किसी तरह लगभग सभी लोगों को बोध हो जाता है कि नाम का अभ्यास बड़ा उत्तम कर्म है, मनुष्य का उद्धार ही इसकी कमाई करने से होता है। फिर वे क्या करते हैं? जैसे अपनी समझ में आये, प्रभु का कोई एक नाम चुन लेते हैं और उसकी आराधना शुरू कर देते हैं। वे सोचते हैं कि सब नाम उसी के हैं : 'नामु तेरा सभु कोई लेतु है जेती **आवण** जाणी। जा तुधु भावै ता गुरमुखि बूझै होर मनमुखि फिरै इआणी' (म.३, ४२३)। कि जब परमेश्वर किसी पर मेहरबान होता है तब वह गुरु से नाम का उपदेश लेकर उसका अभ्यास करता है; इस तरह किये गये नाम के अभ्यास के द्वारा ही सफलता प्राप्त होती है। जो नासमझ अपने मन के हठ के आधार पर खुद का चुना हुआ कोई नाम लेने में लगे रहते हैं, वे व्यर्थ समय बर्बाद करते हैं। उनके हाथ-पल्ले कुछ नहीं आता।

अगर कोई समझे कि मैं अपने मन की रुचि के अनुसार शुभ माने जाने वाले कर्मों (इन्द्रियों का निग्रह, प्राणायाम आदि) से नाम प्राप्त कर लूँगा, तो यह उसकी भूल होगी : 'अधिआतम करम जे करे नाम न कबही पाए' (म.३, ३३)। नाम, जो कि अनेकानेक सुखों का भण्डार है, केवल गुरु से ही मिलता है : 'सुख सागरु हरिनामु है गुरमुखि पाइआ जाइ' (म.३, २९)।

सच्चा नाम बहुत सुख देनेवाला है, अगर उसका अभ्यास निष्ठा के साथ किया जाये। यह निष्ठा अपने आप नहीं आती, गुरु से प्राप्त होती है :'सतिनामु प्रभ का सुखदाई। बिस्वासु सति नानक गुर ते पाई।'(म.५, २८४)।

नाम अनेक खजानों से मूल्यवान वस्तु है। यह देने या बख़्शने के लिये हरएक के पास नहीं होती। इसकी दांत केवल पूर्ण गुरु से मिल सकती है, और वह दी जाती है एक विशेष विधि से :

सुणि मन मेरे तुतु गिआनु।
देवण वाला सब बिधि जाणै गुरमुखि पाईऐ नामु निधानु। (म.३, ४२३)

वह विधि उसके सिवाय किसी और को मालूम नहीं होती :

विणु गुर पूरे कोइ न जाणी। (म.३, ४२३)

जो अक्षरी नाम सतगुरु अपने शिष्य को सुमिरन करने के लिये देता है, हो सकता है कि वह उनसे पहले ही परिचित रहा हो, उसने उन्हें कई बार सुना और पढ़ा हो, इसलिये वह सोचने लगे कि यह दान भी क्या दान हुआ। पर हम रोज़ देखते हैं कि ज़रा से मामूली निकल या गिलट पर जब सरकार की मोहर लग जाती है तो वह कीमती सिक्का बन जाती है; और एक कोरा कागज़ कुछ ही शब्द छप जाने पर सौ का करेंसी नोट। जैसे टकसाल एक साधारण धातु को सिक्का बना देती है और छापाखाना निरे कागज़ को करेंसी नोट, वैसे ही सतगुरु किसी भी बेअसर नाम या नामों को परमेश्वर रूप 'नाम' में बदल देता है। इसी महानता से उसके गुरुत्व की पहचान होती है।

पाँचवीं पातशाही,गुरु अर्जुन साहिब अपने आध्यात्मिक जीवन पर एक दृष्टि डालते हुए बताते हैं :

सूख सहज आनदु घणा हरि कीरतनु गाउ।
गरह निवारे सतिगुरू दे अपणा नाउ। (म.५, ४००)

कि मेरे सतगुरु ने 'अपना' नाम देकर मेरे सभी कष्टों का निवारण कर दिया और अब मुझे शब्द-अभ्यास करते हुए सहज सुख मिलता है, आनन्द की प्राप्ति होती है। 'अपना' नाम का यह अर्थ नहीं कि गुरु रामदास जी ने अपने पुत्र-शिष्य को अपना निजी नाम 'रामदास' जपने का आदेश दिया। 'अपना नाम' से तात्पर्य है उनका मोहर छाप वाला, उनका खुद कमाया हुआ कोई विशेष नाम। दीक्षा के समय दिये जानेवाला परमेश्वर का नाम सतगुरु की अपनी सम्पत्ति होता है।

जिज्ञासु का अपने आप ढूँढ कर सुमिरन किया हुआ नाम, किसी किनारे नहीं उतारता; किसी कच्चे गुरु का दिया हुआ भी नहीं।

फिर यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि अक्षरी या वर्णात्मक नाम का जाप

सुमिरन की साधना का पहला कदम है। सतगुरु दीक्षा के दौरान अपने शिष्य को शब्द से जोड़ता है और यह संयोग दीक्षा का मुख्य प्रयोजन होता है। कोई अपने घर में चाहे कितनी ही बत्तियों, पंखों और बिजली के अन्य उपकरणों का प्रबन्ध कर ले पर उनमें से कोई भी सुविधा तब तक क्रियाशील नहीं होती जब तक उस घर की लाईन पावर-स्टेशन से न जोड़ दी जाये। नाम के सुमिरन द्वारा अभ्यासी अनहद शब्द प्रकट होने के महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुँचता है। उससे ऊँची मंज़िलें सुरत-शब्द के अभ्यास से प्राप्त होती हैं :

प्रभ कै सिमरनि अनहद झुनकार। (म.५, २६३)

नामु न विसरै संत प्रसादि। नामु लैत अनहद पूरे नाद। (म.५, ११४४)

नाम के अभ्यास के लिये कौन-सा समय शुभ होता है? तीसरी पातशाही गुरु अमरदास जी बताते हैं : 'वेला वखत सभि सुहाइआ। जितु सचा मेरे मनि भाइआ' (म.३, ११५)। गुरु साहिबान ने कितने ही स्थानों पर हर साँस, हर ग्रास के साथ अभ्यास जारी रखने का उपदेश दिया है : 'हरि सासि गिरासि न बिसरै कबहूं गुर सबदी रंगु माणीऐ' (म.५, ४५४)। ध्रुव और प्रह्लाद के उदाहरण पेश किये हैं, जिन्होंने अपनी बाल्यावस्था में ही परमेश्वर को रिझा लिया था। यह चेतावनी भी दी गई है कि अगर जवानी के समय भजन-सुमिरन की ओर से लापरवाही करोगे तो बुढ़ापे में अभ्यास करना और भी कठिन हो जायेगा : 'फरीदा कालीं जिनी न राविआ धउली रावै कोइ' (फरीद, १३७८)। शरीर से सहयोग नहीं मिलेगा, बीमारियाँ साँस नहीं लेने देंगी।

हमारे जीवन का दुखान्त यह है कि हम अन्य कार्यों में इतने व्यस्त रहते हैं कि नाम के अभ्यास के लिये तो कोई समय ही नहीं बचता। सवेरे उठकर शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं से निपटना, नाश्ता करना, खेतों, दफ्तरों, फैक्टरियों आदि में अपनी जीविका से सम्बन्धित कर्तव्य निभाना, शाम को थक कर घर लौट कर स्नान करना, ज़रूरी वस्तुएँ खरीदने के लिये बाज़ार का चक्कर लगाना, परिवार के अन्य धन्धों की ओर ध्यान देना, आनेवालों का स्वागत करना, विवाह, सगाई, जन्म-मरण के अवसरों पर पहुँचना, वृद्ध माता-पिता से सहानुभूति जताना, बच्चों को बहलाना, पत्नी के साथ दुःख-सुख बाँटना। पुरुषों का यह हाल है तो बेचारी स्त्रियाँ तो सुबह उनसे भी पहले जागती हैं और सबके बाद सोने की फ़ुर्सत पाती हैं।

एक बार किसी बुज़ुर्ग से प्रश्न किया गया, "खाना किस वक्त खाना

चाहिए?" उसने उत्तर दिया, "अमीर को जब भूख लगे, गरीब को जब मिल जाये।" इसलिये अगर व्यस्तता के कारण किसी खास वक्त ही समय मिले तो तभी नाम का अभ्यास कर लेना चाहिये। अगर अभ्यास के लिये समय चुनने की सुविधा हो तो प्रातःकाल का समय चुनना चाहिए; क्योंकि इस समय तक पिछले दिन का खाना हज़म हो जाता है, इससे पेट हलका होता है, और ठीक तरह बैठने में कठिनाई नहीं आती। इसके अलावा पूरी नींद सो लेने के बाद मन भी शान्त होता है; पिछले दिन की समस्याएँ हम बहुत-कुछ भूल चुके होते हैं, आज की अभी पैदा नहीं हुई होतीं। न यातायात का शोर और न ही मिलनेवालों की ओर से विघ्न पड़ने का डर होता है। यह सबकुछ सोचकर ही गुरु नानक साहिब ने कहा है :

अंम्रित वेला सचु नाउ वडिआई वीचारु। (म.१, २)

और गुरु रामदास जी महाराज बताते हैं :

हरि धनु अंमृत वेलै वतै का बीजिआ।
भगत खाइ खरचि रहे निखुटै नाही। (म.४, ७३४)

नाम या शब्द कर्मों को मिटाने और जन्मों से छुटकारा दिलाने वाला है, अनन्त सुखों का भण्डार है, मुक्ति का दाता है, अमृत जैसा मीठा है, कल्याणकारी है और इसलिये हृदय में बसाने योग्य एकमात्र वस्तु है। पर हम अपना हृदय पूरे का पूरा संसार के झूठे रसों को समर्पित किये रखते हैं; जैसे, धन-दौलत की लालसा, स्वादिष्ट भोजन की कामना, स्त्री का मोह, बढ़िया सवारी, सुन्दर मकान, आरामदायक सेज, सगुन्धित तेल या इत्र। फिर बेचारा नाम समाये तो किस स्थान पर?

रसु सुइना रसु रुपा कामणि रसु परमल की वासु।
रसु घोड़े रसु सेजा मंदर रसु मीठा रसु मासु।
एते रस सरीर के कै घटि नामु निवासु। (म.१, १५)

क्योंकि हमारा इन रसों का लोभ कभी सन्तुष्ट नहीं होता, इसलिये वह हमें निरन्तर इस नरक रूपी संसार में चक्कर दिलाता रहता है :

देदा दे लैदे थकि पाहि। जुगा जुगंतरि खाही खाहि। (म.१, २)

नाम की ओर से विमुख होकर चाहे करोड़ों ही कर्म कर लिये जायें, वे अभ्यासी को मोक्ष का अधिकारी नहीं बनायेंगे, बल्कि उसके अहं को और उकसा कर उसे नरकों में धकेल देंगे :

नाम संगि मनि प्रीति न लावै। कोटि करम करतो नरकि जावै। (म.५, २४०)

इस प्रकार के लोगों को परलोक में आदर-मान तो क्या मिलना था, चोरों की तरह उनकी मुश्कें बाँधकर उन्हें यमपुरी ले जाया जाता है :

हरि का नामु जिनि मनि न आराधा।
चोर की निआई जम पुरि बाधा। (म.५, २४०)

उसका इस संसार में खाना-पहनना भी वैसे है जैसे कोई कुत्ता इधर-उधर बिखरी जूठन में मुँह मारता फिरता है :

नाम बिना जो पहिरै खाइ। जिउ कूकरु जूठन महि पाइ। (म.५, २४०)

नाम से ख़ाली प्राणियों के अस्तित्व का क्या मूल्य है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फ़रीद साहिब कहते हैं : 'विसरिआ जिन्ह नाम ते भुइ भारु थीए' (फ़रीद, ४८८)। वे निरा बोझ हैं जिसे धरती को उठाना पड़ता है, न होनेवालों से भी बुरा।

देनदारियाँ :

हम नाम का अभ्यास शुरू करते हैं तो तुरन्त ही उसके फल के लिये झोली फैला देते हैं। इस अभ्यास के फल बहुत हैं, पर पत्तों की तरह बीज के अंकुरित होते ही नहीं लग जाते। हथेली पर सरसों नहीं जमती। हम लोगों के खाते हमेशा घाटे के खाते होते हैं। पता नहीं किस-किस तरह के हीन कर्म करके हम कौन-कौन-सी देनदारियाँ इकट्ठी किये हुए हैं। जब अभ्यास करते रहेंगे तो पहले ये देनदारियाँ समाप्त होंगी, जब ये खत्म होंगी तो खाते में कुछ जमा होने लगेगा। नाम की कमाई के द्वारा पहले हम पुराने कर्ज़ भुगताते हैं, फिर ऊपर की ओर चढ़ाई शुरू होती है। जो किसी समय अलोनी सिल होती थी, वह मिश्री बन जाती है : 'अमृत नामु महारसु मीठा गुरसबदी चखि जापै' (म.४, ६०५)।

मन जब सीधे रास्ते चलता है तब कोई शुभ कर्म करने में आते हैं। उन कर्मों के बीज अंकुरित होते हैं तो प्रभु की दया से सतगुरु का मिलाप प्राप्त होता है और सतगुरु नाम की दात बख़्शता है। नाम की कमाई से परमेश्वर के खुद पैदा किये शब्द की धुन सुनाई देने लगती है। इस शब्द का बाहर के कानों को कोई अहसास या अनुभव नहीं होता, इसका महारस सुरत ही अन्तर में प्राप्त करती है :

करम करतूति बेलि बिसथारी रामनामु फलु हूआ।
तिसु रुपु न रेख अनाहदु वाजै सबदु निरंजनि कीआ। (म.१, ३५१)

नाम के अभ्यास के बाद और कोई कर्म-धर्म करना बाकी नहीं रहता और नाम से लोक में, परलोक में, हर स्थान में सबकुछ प्राप्त हो जाता है, इसलिये नाम का अभ्यास ही क्या एकमात्र करने योग्य कार्य नहीं है ? :

अवरि काज तेरै कितै न काम।
मिलु साध संगति भजु केवल नाम। (म.५, १२)

माँगने योग्य दात :

सन्तान, सम्पत्ति, शोभा, आदर आदि कई चीज़ों के लिये हमारे हाथ प्रार्थना में उठते रहते हैं, पर इस दिशा में प्राप्तियों का परिणाम अन्त में दुःखों, क्लेशों में निकलता है : 'देदा दे लैदे थकि पाहि' (म.१, २)। अगर दातार प्रभु से कुछ माँगने की कामना हो तो और सबकुछ छोड़कर एक नाम ही माँगना चाहिए, क्योंकि नाम के मिलने से सबकुछ मिल जाता है, हर प्रकार की भूख मिट जाती है :

विणु तुधु होरु जि मंगणा सिरि दूखा कै दुख।
देहि नामु संतोखीआ उतरै मन की भुख। (म.५, ९५७)

धर्म-पुस्तकों ने अमृत पदार्थ की बहुत ही बड़ाई की है, खास कर इसलिये कि उसे पीनेवाला मरता नहीं, उसकी आयु लम्बी हो जाती है, जबकि नाम एक साधारण मनुष्य को देवता, निरा देवता ही क्यों, खुद प्रभु-परमेश्वर बना देने की सामर्थ्य रखता है, और यह उसके अनेक गुणों में से एक गुण है। उसका ज़िक्र करते समय नाम को साधारण नामों से अलग करने के लिये अमृत नाम कहा जाता है क्योंकि उसके योग्य, उस पर पूरी तरह फबने वाला कोई विशेषण आज तक किसी को सूझा ही नहीं।

शब्द :

जैसे-जैसे मनुष्य-जाति की समझ का विकास होता रहा है और उसकी जानकारी का घेरा और विशाल होता गया है, वैसे-वैसे ही अलग-अलग पदार्थों, स्थितियों, मनोभावों आदि से सम्बन्धित अपने विचारों का, अपने भावों का अन्य मनुष्यों के साथ आदान-प्रदान करने के लिये उसे और-और शब्दों की ज़रूरत पड़ती रही है। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग क्षेत्रों में रहनेवाले लोग अपनी ज़रूरतों के अनुसार नये-नये शब्द बनाते गये, और जो बोलियाँ उनका प्रयोग

करनेवालों की तरह अधिक विकसित नहीं हुईं, उनके भण्डारों में जुड़े शब्दों की गिनती भी अब तक लाखों में पहुँच गई है। असल में भाषा की टकसालों के अत्यन्त तत्पर और व्यस्त, रहने के बावजूद माँग और पूर्ति के कारण आज भी अनेक शब्द ऐसे मिल जायेंगे जिनको किसी एक विशेष अर्थ के लिये ही निश्चित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार धूप और वर्षा से रक्षा करनेवाले छाते का कोई लाठी के तौर पर प्रयोग कर ले, उसी प्रकार अनगिनत पद एक से अधिक कई-कई अर्थ देने लगे हैं। 'शब्द' इस तरह के लफ़्ज़ों में से एक है।

भाई काहनसिंह के 'गुरु शब्द रत्नाकर महान कोश' में शब्द के ग्यारह अलग-अलग अर्थ बताये गये हैं, जैसे (क) पद, लफ्ज़, (ख) बातचीत, (ग) गुरु-उपदेश, (घ) ब्रह्म, करतार, (ङ) धर्म, मज़हब, (च) सन्देश, (छ) श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में दिये छन्द, रूप-वाक्य, इत्यादि। जो अर्थ उन्होंने सबसे पहले दिया है, वह है 'धुन आवाज़, स्वर', और इसी भाव को प्रकट करने के लिये गुरु साहिबान और अन्य सन्तों, महापुरुषों ने इसका सबसे अधिक प्रयोग किया है।

बृहत हिन्दी शब्द कोश (सम्पादक कालिका प्रसाद तथा अन्य) के अनुसार शब्द दो प्रकार का होता है : वर्णात्मक और धुनात्मक। वाक् यन्त्र से पैदा हुए शब्द को वर्णात्मक कहा जाता है और ढोल, मृदंग आदि से उत्पन्न हुए को धुनात्मक।

वर्णात्मक शब्द लिखने में आ जाता है और आँखों से पढ़ा, मुँह से बोला तथा कानों से सुना जा सकता है, जबकि धुनात्मक लिखे-पढ़े अक्षरों से अतीत होता है, और ज़बान से भी।

परन्तु सच्चा शब्द या अनाहत शब्द न लिखा-पढ़ा जा सकता है, न बोला जा सकता है, और न ही शरीर के कानों से सुना जा सकता है। इसका हृदय या अन्तःकरण में, आँखों के पीछे सुरत द्वारा अनुभव किया जाता है। इसलिये इसे आन्तरिक शब्द कहा जाता है ; और इन्द्रियों के द्वारा सुन और पढ़ लिये जानेवाले को बाहरी शब्द कहा जाता है।

अनहद शब्द :

इस विषय पर थोड़ा और विस्तार से विचार करें तो देखेंगे कि एक आवाज़ वह होती है जो किसी एक वस्तु के किसी दूसरी वस्तु से टकराने से उत्पन्न होती है। ऐसी आवाज़ आहत शब्द है। हवा के बहने, बिजली के कड़कने से स्वाभाविक ही आवाज़ें उत्पन्न होती हैं। धोबी कपड़े धोते हुए, ठठेरा बरतन बनाते हुए , एक

अलग प्रकार के शोर को जन्म देते हैं। इसके सिवाय मनुष्य अपनी कलात्मक रुचियों की सन्तुष्टि या मनोरंजन के लिये कई प्रकार के साज़ बजा कर ध्वनियाँ पैदा करता है, जैसे बाँसुरी में फूँक मारकर, मिज़राब या अंगुली से सितार के तार टुनका कर, मृदंग के चमड़े को थाप देकर, झाँझ या मजीरे की धातु को खटखटा कर या खाली मटके पर हाथ या अंगुली मार कर। इन शब्दों से अलग एक और भी शब्द है, अनाहत शब्द, वह शब्द जिसके उत्पन्न होने के लिये किसी टकराव, चोट, हत या प्रहार की ज़रूरत नहीं पड़ती ; जिसे उत्पन्न करने के लिये कोई बाहरमुखी शक्ति ज़िम्मेदार नहीं होती, जिसे सिर के दोनों ओर लगे कान सुन भी नहीं सकते।

यह वह शब्द है जिसे सृष्टि का सृजनहार खुद पैदा करता है, जिस शब्द के रूप में वह अपने आपको स्वयं प्रकट करता है, जिसके द्वारा वह अपनी रचनात्मक सत्ता को क्रियाशील करता है और सृष्टि के खेल को जारी रखता है। इस शब्द को अनहद शब्द भी कहा जाता है, क्योंकि इसकी लगातारता पर समय की कोई पाबन्दी लागू नहीं होती, यह किसी निश्चत समय के लिये अस्तित्व में नहीं आता, बल्कि बिना किसी रोक या रुकावट के निरन्तर धुनकार देता रहता है।

जिस प्रकार प्रभु-परमेश्वर एक अकेला होते हुए भी अलग-अलग स्थानों पर अनेक अलग-अलग नामों से जाना जाता है और अपनी सृष्टि में अनेक सुन्दर रूपों में प्रकट होता है, उसी प्रकार उसका शब्द भी रूहानी मंज़िल के भिन्न-भिन्न पड़ावों पर अलग-अलग ध्वनियों में सुनाई देता है। इसीलिये गुरु अर्जुन साहिब ने उसके अनहद नाद की जीव को हर्षित करनेवाली अनगिनत धुनकारों का ज़िक्र किया है : 'अनिक अनाहद आनंद झुनकार' (म.५, १२३६)। महापुरुषों ने शब्द के असंख्य प्रकारों में से पाँच को विशेष महत्व दिया है। इसलिये शब्द-अभ्यास का उपदेश देने के समय पाँच शब्द पर ही ज़ोर दिया जाता है।

श्री गुरु रामदास जी कहते हैं कि जब अच्छे भाग्य के फलस्वरूप गुरु की शिक्षा के अनुसार अभ्यास करने पर अनहद नाद सुनाई देने लगता है तो उसका अनुभव पाँच शब्दों के रूप में होता है : 'पंचे सबद वजे मति गुरमति वडभागी अनहदु वजिआ' (म.४, १३१५)। कबीर साहिब कहते हैं कि निरंकार निरंजन की असली आरती पाँच अगम आवाज़ों की धुनकार का रूप ग्रहण करती है, और अपने हस्त-कमल में पृथ्वी को धारण करनेवाला हरि खुद इस मधुर धुन के संग या साथ रहता है : 'पंचे सबद अनाहद बाजे संगे सारिंग पानी। कबीरदास तेरी

आरती कीनी निरंकार निरबानी' (कबीर, १३५०)।

वास्तव में शब्द तो एक ही है, आत्मिक-मार्ग के अलग-अलग स्थानों पर उसकी आवाज़ में अन्तर आ जाता है। फलस्वरूप, अभ्यासी को कहीं किंगरी बजने का अहसास होता है : 'घटि घटि वाजै किंगुरी' (म.१, ६२),कहीं भेरी का : 'अनहता सबद वाजंत भेरी' (म.१, १३) तो कहीं शंख का : 'पंच सबद निरमाइल वाजे। ढुलके चवर संख घन गाजे।' (बेणी, ९७४)।

जब किसी साधक के हृदय-गगन में सच्चे शब्द की गुंजार सुनाई देने लगती है तो उसका अर्थ होता है कि उसके अन्तर में उसके साजन, उसके प्रियतम प्रभु का आगमन हुआ है : 'पंच सबद धुनि अनहद वाजे हम घरि साजन आए' (म.१, ७६४)।

वास्तव में वह साजन मिलता ही तब है जब सत्संगी अपने अभ्यास द्वारा इन शब्दों की धुन को अपनी काया में प्रत्यक्ष करके इन शब्दों के जनक या उत्पन्न करनेवाले को रिझा लेता है। तब आत्मा पंच शब्द को बजाते हुए अर्थात उनका अभ्यास करते हुए उस दयाल पुरुष से मिलती है : 'मिलउगी दइआल पंच सबद वजाई' (म.३, ११२८)।

अगर कोई व्यक्ति किसी विशेष गुण को धारण करता हो तो कितनी ही बार उस गुण के कारण उसका अलग नाम पड़ जाता है। जैसे पाँच हज़ार फौज का नायक पाँच हज़ारी कहलाता है, तीस हज़ार पर हुक्म चलानेवाला तीस हज़ारी। इसी तरह ऊपर बताये पाँच शब्द का विचित्र और कल्याणकारी संगीत पैदा करने तथा सुनाने वाले कुल मालिक को पंच-शब्दी कहा गया है। गुरु नानक साहिब ने खुद उसे इस नाम से याद किया है : 'वीवाहु होआ सोभ सेती पंच सबदी आइआ' (म.१, ७६५)।

प्रभु की आवाज़ :

गुरु नानक साहिब ने कहा है कि जिस अक्षर या शब्द का मैं प्रचार करता हूँ, वह परमेश्वर का अपना उचारा हुआ है : 'अखर नानक अखिओ आपि' (म.१, १५०)। शब्द परमपिता परमात्मा के अपने मुख से निकली सच्ची वाणी है।

यह वाणी जो परमेश्वर का रूप है, शब्द (प्रभु) के द्वारा बजाने से बजती है : 'अनहद बाणी सबदु वजाए' (म.३, २३१)। शब्द के सन्दर्भ में गुरु अमरदास जी हरि-प्रभु को सम्बोधित करते हुए कहते हैं : 'तेरा सबदु तू है हहि आपे भरमु कहा ही' (म.३, १६२)। जो तेरा शब्द है वह तू ही तो है, खुद तू ही। इसमें शंका की

कोई गुंजायश कहाँ है।

वाणी :

शब्द (अनहत या अनहद शब्द) के बारे में हम काफी विस्तापूर्वक विचार कर चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि गुरुमत साहित्य में कई स्थानों पर 'नाम' और 'हुक्म' पदों का शब्द के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। उनके साथ का ही एक और पद है, 'वाणी'।

गुरु साहिबान तथा अन्य सन्तों-महात्माओं के वचनों में 'वाणी' का ज़िक्र कई बार आया है। वैसे तो इस शब्द के अलग-अलग दृष्टिकोण से कई अर्थ लगाये जाते हैं; पर मुख्य रूप से 'वाणी' को किसी के द्वारा उच्चारण की गई, कही, रची या बनाई गई चीज़ के भाव में समझा जाता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक साहित्य में वाणी से तात्पर्य किसी भी व्यक्ति की वाक्य या पद रचना नहीं होता, बल्कि शब्द होता है, ईश्वरीय वाणी होता है।

पाँचवी पातशाही गुरु अर्जुन साहिब अपने मन को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं : 'जपि मन मेरे गोविंद की बाणी। साधू जन रामु रसन वखाणी' (म.५, १९२)। कि हे मेरे मन, गोबिन्द की वाणी को जप, अर्थात शब्द में लिव को जोड़, साध-जन बताते आये हैं कि यह शब्द राम ने, परमेश्वर ने अपनी रसना से उच्चारा है। गुरु अमरदास जी का वचन है : 'सची बाणी सचु धुनि सचु सबदु वीचारा। अनदिनु सचु सलाहणा धनु धनु वडभाग हमारा' (म.३, ५६४)। कि हम सच, प्रभु की वाणी, शब्द या उस वाणी शब्द की धुन के ज़रिये उसका गुण-गान अर्थात उसकी आराधना, उसकी पूजा कर पाते हैं। यह हमारा सौभाग्य है। आपने एक अन्य स्थान पर शब्द के लिये 'अमृत वाणी' और 'हरि वाणी' के नामों का प्रयोग किया है 'अंमृत सबदु अंमृत हरि बाणी। सतिगुरि सेविऐ रिदै समाणी।' (म.३, ११९)। चाहे यह वाणी सतगुरु की सेवा करने से हृदय में समा जाती है, यह प्रकट होती है परमेश्वर के हुक्म से। सतगुरु यह अमृत परमेश्वर के हुक्म के अधीन ही अपने शिष्यों को पिलाता है : 'हुकमे वरतै अंमृत बाणी हुकमे अंमृतु पीआवणिआ' (म.३, ११८)। इस हरि वाणी, नाम या शब्द का भेद केवल सतगुरु से ही प्राप्त हो सकता है। और किसी को भी इसका पता नहीं। माया-मोह के जाल में फँसे शक्ति के उपासकों को इसकी क्या खबर !

विणु गुर पूरे कोइ न जाणी।
माइआ मोहि दूजै लोभाणी।

गुरमुखि नामु मिलै हरि बाणी। (म.३, ४२३)

हरि की वाणी और प्रभु की वाणी तो एक ही चीज़ है :

सो प्रभु जत कत पेखिओ नैणी।
सुखदाई जीअन को दाता अंमृतु जा की बैणी। (म.५, ५३०)

प्रभ बाणी सबदु सुभाखिआ। (म.५, ६११)

यह जो अमर पद बख़्शने वाली वाणी है, कबीर साहिब ने इसे 'अनत जीवन वाणी' भी कहा है : 'रमईआ जपहु प्राणी अनत जीवण बाणी इन बिधि भवसागरु तरणा' (कबीर, ९२)। अमृत वाणी केवल हरि की वाणी है। किसी और की नहीं। यही भाव गुरु अर्जुन साहिब का अपने निम्नलिखित वचन में दो बार 'हरि' प्रयोग करने का है :

अंम्रित बाणी हरि हरि तेरी। सुणि सुणि होवै परम गति मेरी।
(म.५, १०३)

यह वाणी कहीं पुस्तकों में दर्ज नहीं। पुस्तकों में लिखी हो तो उसे सब कोई पढ़ लें। यह वाणी गुप्त है, और जब यह गुरु की दया से किसी अभ्यासी की पकड़ में आ जाती है, तो वह सहज ही प्रभु का साक्षात्कार कर लेता है :

गुपती बाणी परगटु होइ। नानक परखि लए सचु सोइ। (म.१, ९४४)

यह वाणी (अनहद शब्द) बहुत मूल्यवान वस्तु है, दुकानों, बाज़ारों से न मिलनेवाला रत्न, बड़ा सँभाल कर ताले में रखा हुआ, जिसकी कुंजी केवल सन्त-सतगुरुओं को ही सौंपी गई है :

अनहद बाणी पूंजी। संतन हथि राखी कूंजी। (म.५, ८९३)

शब्द (वाणी) सच्चे प्रभु-प्रेमी के जीवन का आधार बन जाता है। इसलिये अगर उसे किसी समय उसकी ध्वनि सुनाई देना बन्द हो जाये तो वह ऐसे तड़पने, विलाप करने लगता है जैसे कठिन बीमारियों के मरीज़ अक्सर करते हैं। जितना आनन्द वह पहले हरि-रस का ले रहा था, उतनी ही तीव्र पीड़ा उसे इसके बगैर होने लगती है :

जै तनि बाणी विसरि जाइ। जिउ पका रोगी विललाइ। (म.१, ६६१)

यह वाणी का बिसरना अपने वश से परे की बात होती है, यह उसने खुद नहीं बिसारी है, क्योंकि अगर प्रेमी खुद उस वाणी को पढ़ या याद कर सकता हो तो वह इस प्रकार तड़पाने वाली पीड़ा क्यों सहेगा, उसको पढ़ या याद क्यों न कर लेगा ?

जिस वाणी या शब्द के साथ सतगुरु अपने सत्संगी को जोड़ता है वह सत्य-स्वरूप परमेश्वर ही होती है : 'वाहु वाहु बाणी निरंकार है तिसु जेवडु अवरु न कोइ' (म.३, ५१५)। इसलिये उस वाणी का अभ्यास करनेवाला व्यक्ति सत्य-स्वरूप में लीन होकर स्वयं सत्य का स्वरूप बन जाता है : 'सतिगुर की बाणी सति सरूपु है गुरबाणी बणीऐ' (म.४, ३०४)।

यह महान वाणी किसी विशेष देश या भाषा तक सीमित नहीं, यह सम्पूर्ण जगत के लाभ के लिये संसार के कोने-कोने में बरताई जा रही है :'गुरबाणी वरती जग अंतरि इसु बाणी ते हरि नामु पाइदा' (म.३, १०६६)। जो कोई इसकी कमाई करता है, उसे नाम या प्रभु मिल जाता है।

यह वाणी लिखने में नहीं आती, न बोलकर सुनाई जा सकती है। यह तो अमृत बनकर अन्तःकरण के अन्दर बरसती है : 'अंमृतु वरखै अनहद बाणी' (म.५, १०५), और इसके द्वारा मन तथा तन दोनों शान्त हो जाते हैं : 'मन तन अंतरि सांति समाणी' (म.५, १०५)। यह वाणी तो अनहत है, निर्मल शब्द है और बजती है : 'अनहत बाणी निरमल सबदु वजाए' (म.३, ११५)। इसकी अनहद ध्वनि को केवल आत्मा के आन्तरिक कान ही ग्रहण कर सकते हैं : 'निरमल वाजै अनहद धुनि बाणी दरि सचै सोभा पावणिआ' (म.३, १२१)। यह तो परमात्मा रूपी शब्द के द्वारा बजाये जाने से बजती है : 'बाणी वजै सबदि वजाए' (म.३, १२२)।

जो वाणियाँ हमें सुनने और पढ़ने को मिलती हैं, उनको अस्तित्व में आये तो कुछ ही सौ या हज़ार वर्ष हुए हैं : जबकि वह वाणी जो गुरु साहिबान के विचार और अनुभव में थी, आदि युगादि है। गुरु अमरदास जी का वचन है :

आखणु वेखणु बोलणा सबदे रहिआ समाइ।
बाणी वजी चहु जुगी सचो सचु सुणाइ। (म.३, ३५)

अर्थात, सन्त-महात्मा जो कुछ अपने अनुभव से कहें या जो कुछ देख या सुनकर उचारें उस पर शब्द की छाप होती है, क्योंकि वे निरन्तर शब्द-धुन से जुड़े रहते हैं। शब्द वह अनहत वाणी है जो सभी युगों में आन्तरिक संगीत के रूप में सुनाई देती चली आ रही है और सच्चे प्रभु की सच्ची कथा सुनाती रही है, उस प्रियतम की याद ताज़ा कराती रही है : 'जुगि जुगि बाणी सबदि पछाणी नाउ मीठा मनहि पिआरा' (म.३, ६०२)।

सच्ची वाणी जिसका भेद सतगुरु खोलते हैं, हमारे अन्दर सुखमना में

निरन्तर गूँज रही है :

पूरे गुर की साची बाणी। सुखमन अंतरि सहजि समाणी।

(म.३, ६६३)

शब्द गुरु है : 'सबदु गुरू सुरति धुनि चेला।' (म.१, ९४३), शब्द अमृत है : 'अंमृतु सबदु पीवै जनु कोइ' (म.५, ३९४) और यही वाणी है : 'बाणी गुरू गुरू है बाणी विचि बाणी अंमृतु सारे' (म.४, ९८२)। सो गुरु का असली रूप वाणी या शब्द होता है। शब्द और वाणी दाता की एक ही दया के लिये प्रयुक्त दो नाम हैं। इस तरह ज़रा भी शंका नहीं रह जाती कि गुरु साहिबान की भाषा में वाणी और शब्द समानार्थक हैं :

सचु बाणी सचु सबदु है जा सचि धरे पिआरु। (म.३, ३३)
सचु बाणी सचु धुनि सचु सबदु वीचारा। (म.३, ५६४)
सचु बाणी सचु सबदु है भाई गुर किरपा ते होइ। (म.३, ६३८)
इका बाणी इकु गुरु इको सबदु वीचारि। (म.३, ६४६)

हरि-कीर्तन :

संसार के जीवों के लिये इस जग में सब करनियों में से श्रेष्ठ करनी का प्रश्न उठने पर गुरु रामदास जी ने बताया है कि वह करनी नाम है, नाम भी कौन-सा ? संगीतमय नाम, अनहद शब्द के रूप में नाम। और हमें इसी नाम के कीर्तन की सहायता से हरि को अपने हृदय में धारण करने का यत्न करना चाहिए : 'जगि सुकृतु कीरति नामु है मेरी जिंदुड़ीए हरि कीरति हरि मनि धारे राम' (म.४, ५३९)

अगर कोई कहे कि यह तो हुआ आम समय में की जानेवाली भक्ति का रूप, आज का युग अपनी विशेष परिस्थितियाँ साथ लेकर आया है, उनके सामने जिज्ञासु को अभ्यास की क्या कोई और युक्ति अपनानी नहीं पड़ेगी ? इस प्रश्न का भी गुरु साहिब की ओर से यही उत्तर मिलेगा : 'हरि कीरति उतमु नामु है विचि कलिजुग करणी सारु' (म.४, १३१४)।

साधारण लोगों की बोली में कीर्तन का अर्थ तीन या चार व्यक्तियों के धार्मिक भावनापूर्ण किसी छन्द-बद्ध पद के गाने से लिया जाता है, और वे केवल गाये ही नहीं जाते बल्कि उनके साथ हारमोनियम, सितार, सारंगी, तबले जैसे साज़ भी बजाये जाते हैं। यह बिलकुल सही है कि संगीत की सहायता मिलने से बात अधिक रस देती और प्रभाव डालती है। संगीत का आकर्षण सभी मानते

हैं। इसकी सहायता से शिकारी जंगल के मृगों को और सँपेरे कोबरा, वाइपर जैसे ज़हरीले साँपों को वश में कर लेते हैं। अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि सुरीले साज़ सुनकर बेल-बूटों तक को प्रसन्नता प्राप्त होती है और वे खूब फलते-फूलते हैं। पर इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कई बार संगीत अपने आपमें इतना रसीला बन जाता है कि वह गीत के अर्थ या भाव की ओर ध्यान नहीं जाने देता। इसके विपरीत, संगीत का स्तर आशा से नीचे रह जाने की हालत में श्रोता कानों में तेल डाल लेते हैं, बातें करने लगते हैं या उठकर चले ही जाते हैं। इस तरह के कीर्तन में कर्ण-रस की प्रधानता होती है और कर्ण-रस इन्द्रियों के रसों में से एक रस है।

गुरुवाणी में कई बार कीर्तन का वर्णन आता है। उससे भाव उपरोक्त तरह के बाहरमुखी कीर्तन का नहीं है, बल्कि 'शब्द' द्वारा किया गया कीर्तन होता है :

कलि कीरति सबदु पछानु। एहा भगति चूकै अभिमानु।

(म.३, ४२४)

यह कीर्तन हर रोज़ किया जाता है : 'मन महि सिंचहु हरि हरि नाम। अनदिनु कीरतनु हरि गुण गाम।' (म.५, ८०७)। हर रोज़ क्यों, हर वक्त, दिन और रात निरन्तर किया जाता है : 'कथा कीरतनु आनंद मंगल धुनि पूरि रही दिनसु अरु राति' (म.५, ८२०)।

गूजरी राग में गुरु अर्जुन साहिब का हुक्म है : 'मन महि चितवउ चितवनी उदमु करउ उठि नीत। हरि कीरतन का आहरो हरि देहु नानक के मीत।' (म.५, ५१९)। इस श्लोक का भावार्थ बताते हुए भाई वीरसिंह जी लिखते हैं : 'उठि' पद बताता है कि बिस्तर से उठ, क्योंकि साथ ही 'उदम' (उद्यम) पद है जो उठकर ही किया जाता है, इसलिये इससे पहले बिस्तरे में नींद या जागते लेटे होने की ओर संकेत है, उस वक्त उद्यम नहीं चेतावनी कहा है, उठकर उद्यम कहा है। भाव यह है कि सोते-जागते हर समय कीर्तन की लगन में रहें (संथया श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, ३२४३)। स्पष्ट है कि जो कीर्तन उठने से पहले बिस्तर में लेटे होने पर भी होता रहता है, जागते ही नहीं बल्कि सोते हुए भी, वह साज़ और गले का प्रयोग करनेवाला कीर्तन नहीं हो सकता। वह इन दोनों से स्वतन्त्र है, अनहद-नाद, शब्द-धुन है।

मनुष्य-बुद्धि के विस्मयपूर्ण सीमा तक विकसित होने के बावजूद ऐसा कोई साज़ आज तक नहीं बना जो दिन और रात, हर पल, सदैव अत्यन्त मनमोहक

संगीत पैदा करता रहे। तार घिस जाते हैं, चमड़े फट जाते हैं, धातु चाहे वे कितनी ही मज़बूत क्यों न हों, एक दिन स्वाभाविक तौर पर खत्म हो जाती हैं। बीन, बाँसुरी अधिक सँभाल कर रखने पर भी आखिर टूट जाती हैं, घड़े बेचारे की तो बिसात ही क्या हो सकती है। यही बात साज़ बजाने या गाने, अलापने वालों की नश्वरता के बारे में भी कही जा सकती है। जिस रूहानी खुराक की हमारे सतगुरु अपने शिष्यों-सेवकों के लिये सिफारिश करते हैं, वह कीर्तन और है : 'अखंड कीरतनु तिनि भोजनु चूरा। कहु नानक जिसु सतिगुरु पूरा' (म.५, २३६)। इस तरह का अखण्ड, अटूट कीर्तन किसी गवैये या साज़िंदे से पैदा नहीं होता, वह तो परमपिता परमात्मा का सृजन है : 'तिसु रूपु न रेख अनाहदु वाजै सबदु निरंजनि कीआ' (म.१, ३५१)। इस कर्तार के बनाये कीर्तन का क्या लाभ ? इस कीर्तन का कर्ता प्रभु निरन्तर याद आता रहता है : 'चीति आवै सद कीरतनु करता' और इसके साथ उसकी निश्चित तथा दृढ़ प्रतीति आ जाती है : 'मनु मानिआ नानक भगवंता' (म.५, ११४१)।

शब्द अभ्यासी के ध्यान देने पर सुनाई देने लगता है और ध्यान हटाने से लुप्त हो जाता है, इसलिये कह दिया जाता है कि उसने कीर्तन कर लिया, जप लिया, गा लिया या सुन लिया :

मन हरि कीरति करि सदहूं।
गावत सुनत जपत उधारै बरन अबरना सभहूं। (म.५, ५२९)

असल में तो हम उसे अपनी ओर से पूरा ध्यान ही देते हैं या कहें कि उसके प्रति सजग होते हैं और इतना ही काफी होता है, और कुछ नहीं करना होता :

जीवत से परवाणु होए हरि कीरतनि जागे। (म.५, ३२२)
संतह संगु संत सभाखनु हरि कीरतनि मनु जागे। (म.५, ६७४)

इसी को कीर्तन या शब्द की कमाई का नाम दिया जाता है : 'जिन कंउ सतिगुरु भेटिआ से हरि कीरति सदा कमाहि' (म.३, ५९२)।

एक अन्तर और है। गाने-बजाने वाले बाहरमुखी संगीत का ज्ञान ग्वालियर, लखनऊ, पटियाला जैसे घराने के किसी उस्ताद से होता है, जबकि इस दिव्य कीर्तन का सन्त-सतगुरु से : 'हरि कीरति कलजुगि पदु ऊतमु हरि पाईऐ सतिगुर माझा' (म.४, ६९७)। इसकी तकनीकी जानकारी न कहीं ग्रन्थों में लिखी मिलती है, न किसी स्कूल-कालेज में इसकी शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। इसका गुप्त

भेद तो परमात्मा के चुने हुए प्रतिनिधियों को ही मालूम होता है और वे ही इसे प्रकट कर सकते हैं : 'हउ बलिहारी सतिगुर अपुने जिनि गुपतु नामु परगाझा' (म.४, ६९७)।

गुरु अर्जुन साहिब अपने मन के प्रति फ़रमाते हैं, ऐसा कीर्तन कर जोकि लोक और परलोक दोनों में तेरे लिये उपयोगी हो :

ऐसा कीरतनु करि मन मेरै। ईहा ऊहा जो कामि तेरै। (म.५, २३६)

वह कीर्तन अखण्ड है और सूर्य के प्रकाश और रात के अँधेरे में महीने के तीस दिन और साल के बारह महीने, हर पल जारी रहता है। यह कीर्तन इतनी प्यारी वस्तु है कि इसके अभ्यासी इसे अपने जीवन का आधार बना लेते हैं। वे इसके बिना जी नहीं सकते।

अकथ कथा :

प्रभु निराकार है, उसकी कोई शक्ल, सूरत या पहचान नहीं, उसके बारे में कोई बात की जाये तो कैसे ? इसलिये उसे अकथ कहा जाता है। पर यदि कोई और उसकी बात नहीं कह सकता तो वह खुद तो अपनी बात कह सकता है। यह उसकी अपनी खुद कही बात, खुद ही कही कहानी, उसकी अकथ-कथा कहलाती है—उसका अनहद शब्द : 'आपि परविरति आपि निरविरती आपे अकथु कथीजै' (म.३, ५५१)।

किसी गुणवान के दो श्रद्धालु इकट्ठे होते हैं और उसका गुणवान करते हैं, इस प्रकार कि एक उसकी बड़ाई का प्रसंग छेड़ता है, दूसरा उसे श्रद्धा से सुनता है। यह ज़रूरी नहीं कि वे बारी-बारी एक ही बात कहें। श्रोता प्रशंसा को सुनकर, मानकर, प्रशंसा करने में शरीक हो जाता है। गुरु नानक साहिब बताते हैं : 'धुनि महि धिआनु धिआन महि जानिआ गुरमुखि अकथ कहानी' (म.१, ८७९)। जब शब्द की धुन में ध्यान जोड़ा जाता है तब इस ध्यान के द्वारा प्रभु का ज्ञान हो जाता है, उसका साक्षात्कार, उसकी प्राप्ति हो जाती है। यही है अकथ की कहानी कथना। पर यह कहानी अपने आप नहीं कही जा सकती। इसके लिये सतगुरु की सहायता की आवश्यकता होती है :

गुरपरसादी अकथउ कथीऐ कहउ कहावै सोई॥ (म.१, १२३३)
गिआनु धिआनु धुनि जाणीऐ अकथु कहावै सोइ॥ (म.१, ५९)

इस प्रकार शब्द के लिये वाणी, कीर्तन, अकथ-कथा आदि कई नामों का प्रयोग किया जाना सिद्ध होता है।

ज्योति :

यह बात ध्यानपूर्वक समझने योग्य है कि अनहद शब्द में केवल आवाज़ ही नहीं होती, उसमें प्रकाश भी होता है। गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं : 'मंदरि मैरै सबदि उजारा। अनद बिनोदी खसमु हमारा' (म.५, ३८४)। कि मेरे अन्तर में शब्द ने उजाला किया हुआ है और उस उजाले में मेरी आत्मा को अपने आनन्द-स्वरूप पति परमेश्वर का दीदार होता रहता है।

इसी प्रकाश के बारे में गुरु अमरदास जी का वचन है : 'कलि कीरति परगटु चानणु संसारि' (म.३, १४५)। कलियुग में कीर्तन, प्रभु का अपना किया कीर्तन, अनहद शब्द, सांसारिक जीवों का मार्ग दिखाने के लिये प्रत्यक्ष प्रकाश है। शब्द या आवाज़ द्वारा प्रकाश करने से हैरानी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि निरंकार शब्द-स्वरूप भी है और ज्योति-स्वरूप भी। उस 'एक' में शब्द का गुण है और प्रकाश का भी। वास्तव में जो जीवन-सत्ता हर प्राणी के अन्दर कार्य करती है, उसको जीवित रखती है, चलाती है, वह उसी निरंकार, परम ज्योति का एक अंश होता है : 'सरब जोति महि जा की जोति' (म.५, २९४)। एक भी अन्तःकरण उससे खाली नहीं, और एक भी क्षण ऐसा नहीं जब वह जल न रही हो : 'घटि घटि जोति निरंतरी बूझै गुरमति सारु' (म.१, २०)।

हालाँकि यह ज्योति हर हृदय में जलती है, पर उसके प्रकाश का लाभ सम्बन्धित व्यक्ति को नहीं पहुँचता, क्योंकि मन की विकारात्मक इच्छाएँ, यौवन का मद, मैं-मेरी, तू-तेरी के भाव आदि उसके मार्ग में मैले परदों की तरह तने हुए हैं। ये परदे जला दिये जायें, तभी वह अगम ज्योति दिखाई देती है :

जजा जउ तन जीवत जरावै। जोबन जारि जुगति सो पावै।
अस जरि पर जरि जरि जब रहै। तब जाइ जोति उजारउ लहै।
(कबीर, ३४०)

अगर हमारी काया के अन्दर ईश्वरीय ज्योति कार्यशील न हो तो यह काया निरा रक्त-माँस का लोथड़ा ही बन कर रह जाये। इसके अन्दर की सारी गति, प्रवाह या प्रकाश उसी ज्योति के कारण है : 'सभ महि जोति जोति है सोइ। तिस दै चानणि सभ महि चानणु होइ।' (म.१, १३)। यह देह कितनी गन्दी है, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि उस अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालने के लिये एक नहीं, दो नहीं, नौ मल द्वार हैं। इसके बावजूद यह देह हरि-मन्दिर कहकर सम्मानित की गई है, क्योंकि इसमें सच्चे प्रभु की ज्योति विद्यमान है : 'इहु

सरीरु सभु धरमु है जिसु अंदरि सचे की विचि जोति' (म.४, ३०९)।

अगम, अगोचर, अदृश्य प्रभु को उसकी ज्योति के रूप में देखा और अनुभव किया जा सकता है, और किसी तरह नहीं : 'जोती हू प्रभु जापदा' (म.३, ३५), और जब तक अपने अन्दर ज्योति प्रकाशित या प्रकट न हो, तब एक परमेश्वर के प्रति मन का विश्वास ठीक तरह दृढ़ नहीं होता : 'अंतरि जोति प्रगटी मनु मानिआ हरि सहजि समाधि लगाइ' (म.४, ११९९)। उसके बिना सहज समाधि की अवस्था तक पहुँचना सम्भव नहीं होता।

सरसरी बात करें तो शब्द सुना जाता है, ज्योति देखी जाती है, पर जब गुरु नानक साहिब कहते हैं : 'सबदु साचा गुरि दिखाइआ मनमुखी पछुताणीआ' (म.१, २४२), तो वह कोई विरोधभास नहीं बन जाता, क्योंकि शब्द और ज्योति में वही सम्बन्ध है जो एक सिक्के के आगे और पीछे में होता है।

हाँ, ज्योति सतगुरु के दिखाने पर दिखाई देती है, मनमुख तो अपना अवसर गँवा कर हाथ मलते ही रह जाते हैं।

जब तक अन्तर का गुफ़ा में शब्द न सुनाई देने लगे, तब तक प्रकाश भी नहीं होता, क्योंकि प्रकाश शब्द में ही है और शब्द की ज्योति जाग्रत न कर ली जाये तो अन्दर अँधेरे में कुछ भी दिखाई नहीं देगा और उसमें कुछ नहीं मिलेगा : 'बिनु सबदै अंतरि आनेरा। न वसतु लहै न चूकै फेरा' (म.३, १२४), चाहे आन्तरिक गुफ़ा के अँधेरे में नाम जैसे रत्नों के अटूट भण्डार हैं और वहाँ हरि खुद बिराजमान है : 'इसु गुफा महि अखुट भंडारा। तिसु विचि वसै हरि अलख अपारा' (म.३, १२४)। इसलिये पहले गुरु से इस गुफ़ा की कुंजी प्राप्त की जाती है : 'सतिगुर हथि कुंजी होरतु दरु खुल्है नाही' (म.३, १२४)। कुंजी से मतलब लोहे, पीतल या चाँदी-सोने के दाँतेवाली मेख नहीं, गुफ़ा के खुलने का भेद है। गुरु इस गुफ़ा का दरवाज़ा खोलने की विधि बताता है और अन्दर शब्द का दीपक जलाने की युक्ति भी। फिर अन्य वस्तुओं की क्या परवाह रह सकती है, खुद जगत का मालिक भी मिल जाता है।

हरि की प्रेमपूर्ण सुहागिन अपने प्रियतम का कैसे स्वागत करती है ? :

साचु घड़ी धन माडीऐ कापडु प्रेम सीगारु।
चंदनु चीति वसाइआ मंदरु दसवा दुआरु।
दीपकु सबदि विगासिआ राम नामु उरहारु। (म.१, ५४)

वह सदाचार का सिंदूर अपनी माँग से भरती है, प्रीति के वस्त्रों से अपने

तन को सजाती है, प्रभु-प्रियतम की याद को हृदय में बसाने के चन्दन का लेप करती है, नाम के सुमिरन का मंगल-सूत्र पहनती है, और फिर शब्द की ज्योति जला कर प्रियतम की पूजा करने के लिये दसवें द्वार के मन्दिर में आकर खड़ी हो जाती है। हृदय के अन्धकार तक किसी तारे, चन्द्र, सूर्य, लालटेन, गैस आदि का प्रकाश नहीं पहुँचता, गुरु का जलाया दीपक ही उसे प्रकाशित करता है : 'अंधकारु मिटिओ तिह तन ते गुरि सबदि दीपकु परगासा' (म.५, २०८)।

गुरु रामदास जी के अपने अन्दर जब शब्द की ज्योति जाग उठी तो आप अपने मन को परदेस में भटकते फिरते ऊँट की तरह प्यार से समझाते हुए फ़रमाते हैं :

मन करहला मेरे पिआरिआ विचि देही जोति समालि।
गुरि नउ निधि नामु विखालिआ हरि दाति करी दइआलि।
(म.४, २३५)

दयालु हरि ने बख़्शिश की तो सतगुरु ने अमूल्य नाम तेरी अपनी काया के अन्दर ज्योति के रूप में प्रत्यक्ष तेरी आँखों से दिखा दिया है, अब तू इसी की पूजा में लग जा, इसी ज्योति को सँभाल। यहाँ नाम से भाव परमेश्वर है।

जैसे कोई अनजान पथिक किसी भयानक वन में अपने मार्ग से भटक जाये तो कोई मार्ग का भेदी उसे उसकी कठिनाई से निकाल लेता है, वैसे ही जब किसी पूरे गुरु का सत्संग प्राप्त होता है तो वह दीक्षा देकर शिष्य के अन्दर परमेश्वर की उस ज्योति को प्रकट कर देता है, जो उसके मार्ग-दर्शन के लिये हर समय उसके हृदय में जाग्रत रहती है पर उसके मन के मैल के कारण उसे नज़र नहीं आती :

जिउ महा उदिआन महि मारगु पावै।
तिउ साधू संगि मिलि जोति प्रगटावै। (म.५, २८२)

इस ज्योति का प्रकाश प्राप्त कर लेने पर आत्मिक-मार्ग में आनेवाले घोर अन्धकार से निकलने में कोई कठिनाई नहीं आती।

सागर से बूँद बिछुड़ जाती है तो सागर का कुछ नहीं बिगड़ता। वह पहले जैसा ही भरा-पूरा रहता है। दूसरी ओर, उससे अलग होकर गन्दा होना, कीचड़ बनना, तपना बूँद का भाग्य बन जाता है। पर जब कभी उसे वापस सागर में मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता है, वह फिर उस जैसी सम्पूर्ण हो जाती है। इसी हालत में विचरती है हमारी आत्म-ज्योति :

जोती जोति रली संपूरनु थीआ राम। (म.५, ८४६)

सुनहु लोका मै प्रेम रसु पाइआ। (म.५, ३७०)

गुरु अर्जुन साहिब हमें इस प्रकार सचेत करके अपने निजी अनुभव का वर्णन करते हैं :

सहज गुफा महि आसणु बाधिआ। जोति सरूप अनाहदु वाजिआ।
महा अनंदु गुर सबदु वीचारि। प्रिअ सिउ राती धन सोहागणि नारि।
(म.५, ३७०)

जब आत्मा को सांसारिक धन्धों में से निकालकर गुफा जैसे एकान्त स्थान पर शान्त, सहज अवस्था में ले आये तो उस ज्योति-स्वरूप का अनहद शब्द बजने लगा। गुरु की दया से प्राप्त हुए इस प्रकाशमय शब्द में वृत्ति को जोड़ने से अकथनीय खुशी प्राप्त हुई, मानों कोई विरहणी अपने प्रियतम में लीन होकर सुहागिन हो गई हो।

एक अन्य स्थान पर भी आपने स्वीकार किया है यह सतगुरु की दया का ही प्रताप था कि मेरे मन-मन्दिर में दीपक जल उठा : 'करि किरपा जउ सतिगुरु मिलिओ। मन मंदर महि दीपकु जलिओ' (म.५, २३५)।

गुरु नानक साहिब के अनुसार किसी आत्मा का अपने शरीर के अन्दर जगमगाती परम ज्योति से मिलना कोई अकस्मात मुलाकात नहीं होती। इस प्रकार मिलने पर वह फिर से वियोग का दुःख नहीं सहती :

मिलिआ होइ न विछुड़ै जिसु अंतरि जोति अपार। (म.१, ५६)

जब कोई नदी जाकर समुद्र में मिल जाती है तो फिर वह किसी हालत में भी उससे अलग नहीं होती। इसी तरह का मिलाप अंश ज्योति का अपनी मूल ज्योति से होता है : 'जिउ जल महि जलु आइ खटाना। तिउ जोती संगि जोति समाना' (म.५, २७८)। इस प्रकार उसका आवागमन का चक्कर सदा के लिये समाप्त हो जाता है : 'मिटि गए गवन पाए बिस्राम' (म.५, २७८)।

ज्योति के सम्बन्ध में कुछ और मार्मिक वचन :

निरमल जोति सरब जगजीवनु गुरि अनहद सबदि दिखाइआ।
(म.१, १०३८)

सारी सृष्टि के अन्दर ज़िन्दगी के रूप में धड़कने वाला प्रभु खुद निर्मल ज्योति है। गुरु जिस ज्योति का दीदार अनहद शब्द द्वारा करवा देता है :

जिह मंदरि दीपकु परगासिआ अंधकारु तह नासा। (कबीर, ११२३)

अज्ञान का अन्धकार तभी दूर होता है जब हृदय में शब्द का दीपक

प्रकाशमान हो जाये :

जोती अंदरि जोति समाणी आपु पछाता आपै। (म.१, ११११)

जब आत्म-ज्योति परमात्म-ज्योति में समा जाती है, तभी आत्मा अपने मूल को सही रूप में जान पाती है।

गुरु नानक साहिब कहते हैं :

प्रगटी जोति जोति महि जाता मनमुखि भरमि भुलाणी।

(म.१, ११११)

कि हमारे अन्दर ज्योति प्रकट हुई और हमने उसमें प्रभु का साक्षात्कार कर लिया, जबकि मनमुख अपने भ्रमों, भूलों में ही उलझे रहे :

अगम दुगम गड़ि रचिओ बास। जा महि जोति करे परगास।

(कबीर, ११६२)

जिस किले में पृथ्वी के पालनहार प्रभु ने अपना वास रखा है, वहाँ पहुँचना सरल नहीं, अति कठिन है। उसके उस निवास-स्थान को एक ज्योति प्रकाशमान करती रहती है और वहाँ अनहद शब्द के मीठे स्वर सुनने में आते हैं :

कासट महि जिउ है बैसंतरु मथि संजमि काढि कढीजै।
राम नामु है जोति सबाई ततु गुरमति काढि लईजै।

(म.४, १३२३)

लकड़ी में अग्नि होती है, पर छिपी रहती है। अगर कोई चाहे तो युक्ति से उस लकड़ी को रगड़कर उस अग्नि को प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार परमेश्वर की ज्योति हर घट में गुप्त रूप में मौजूद है। वह गुरु की शिक्षा के अनुसार अभ्यास करने से प्रकट हो जाती है :

भांडा धोवै कउणु जि कचा साजिआ।
धातू पंजि रलाइ कूड़ा पाजिआ।
भांडा आणगु रासि जां तिसु भावसी।
परम जोति जागाइ वाजा वावसी। (म.१, १४११)

मनुष्य शरीर पाँच तत्वों को मिलाकर बनाया गया कच्चा भाँडा है। इसकी बनावट ही ऐसी है कि इसे धो-माँज कर शुद्ध नहीं किया जा सकता। पर अगर सतगुरु की ऐसी मौज हो तो इस जैसे कितने ही बरतनों में प्रभु की परम ज्योति जाग उठती है और अनहद शब्द के स्वर गूँजना शुरू कर देते हैं।

शब्द सत्य है, सत्य-स्वरूप है :

सत्य-स्वरूप परमात्मा का एक नाम 'सच' है :

आदि सचु जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी भी सचु। (म.१, १)

और सच है शब्द भी : 'एको सबदु सचा नीसाणु' (म.१, ११८८)।

दीक्षा के समय जो मन्त्र सतगुरु देते हैं वह उस सच्चे के शब्द का ही मन्त्र होता है :

गुरि मंत्रु सबदु सचु दीता राम। (म.५, ५७६)

सत्य-स्वरूप को प्यार करनेवाले जीवों पर यह भली-भाँति प्रत्यक्ष हो जाता है कि वाणी या शब्द उसी का रूप है :

सचु बाणी सचु सबदु है जा सचि धरे पिआर। (म.३, ३३)

गुरु नानक साहिब के अनुसार शब्द की पाँच प्रकार की मीठी धुनें प्रभु खुद ही बजाकर सुनाता है : 'पंच सबद झुणकारु निरालमु प्रभि आपे वाइ सुणाइआ' (म.१, १०४०)। गुरु अमरदास जी अनहत शब्द को कर्तापुरुष का एक अनोखा चमत्कार कहते हैं : 'तिनि करतै इकु चलतु उपाइआ। अनहद बाणी सबदु सुणाइआ' (म.३, ११५४)। गुरु रामदास जी फ़रमाते हैं कि गुरु के माध्यम से जो शब्द की धुन सुनाई देने लगती है, वह किसी साज़ या यन्त्र की आवाज़ नहीं होती, गोबिन्द की अपनी गरज होती है : 'आनद मूलु रामु सभु देखिआ गुर सबदी गोविदु गाजिआ' (म.४, १३१५)। गुरु अर्जुन साहिब के शब्दों में अनहद शब्द परमेश्वर की अति सुन्दर, रसमय, उपमाओं से अतीत वाणी है, और वह सन्तों को प्रिय ही नहीं, उनके जीवन का आधार है : 'तेरे बचन अनूप अपार संतन आधार बाणी बीचारीऐ जीउ' (म.५, ८०)। यही वह साधन है जिसके द्वारा वह अपने अस्तित्व, अपनी मौजूदगी, हाज़िरी, व्यापकता को प्रकट करता और उसका अनुभव कराता है :

जै जै सबदु अनाहदु वाजै। सुनि सुनि अनद करे प्रभु गाजै।
प्रगटे गुपाल महांत कै माथे। नानक उधरे तिन कै साथे।

(म.५, २९५)

कबीर साहिब उसे अपने राम-राजा की बजाई किंगरी कहते हैं :

राजा राम अनहद किंगुरी बाजै। (कबीर, ९२)

प्रभु ही शब्द है :

चाहे कहने-सुनने में यही आता है कि प्रभु सचखण्ड में बसता है, वह हमसे कदापि दूर नहीं। हमारे मुख से निकला हर लफ्ज़ उसके कानों में पड़ता है, हमारी की गई कोई हरकत उसकी दृष्टि से ओझल नहीं रहती। वह हर समय हमारे सम्मुख होता है, शब्द के रूप में, तो भी हम अभागे जीव उसके अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकते :

ए मन मत जाणहि हरि दूरि है सदा वेखु हदूरि।
सद सुणदा सद वेखदा सबदि रहिआ भरपूरि। (म.३, ४२९)

उसने प्रत्येक हृदय में अपने शब्द का दीपक जलाया हुआ है : 'जह कह तह भरपूरु सबदु दीपकि दीपायउ' (म.३, १३९५)। यही भाव गुरु अमरदास जी के इस वाक्य का है : 'नानक घटि घटि एको वरतदा सबदि करे परगास' (म.३, १४२०)। ऐसा कौन-सा जीव है जिसके अन्दर वह मौजूद नहीं : 'सभ महि सबदु वरतै प्रभ साचा' (म.१, १२७५) तथा हम खुद 'सब' की गिनती से बाहर नहीं हो सकते।

प्रभु की सच्ची वाणी, उस शब्द के रूप में, जिसका भेद गुरु बताता है, संसार के कण-कण में समाई हुई है : 'तिसु जन की है साची वाणी। गुर कै सबदि जग माहि समाणी' (म.३, ११७४)। इसी वाणी के बारे में कहा गया है : 'वाहु वाहु बाणी निरंकार है तिसु जेवडु अवरु न कोइ' (म.३, ५१५)। जो शब्द गुरु अपने शिष्य के मन में बसाता है वह अविगत, अगोचर, अपरम्पर परमेश्वर ही तो होता है : 'अबिगत अगोचरु अपरंपरु मनि गुर सबदु वसाइअऊ' (म.४, १३९७)।

शब्द कर्ता की सृजन-शक्ति है। जितनी भी सृष्टि दिखाई देती है, (और पता नहीं कितनी और देखने में आती भी नहीं) शब्द द्वारा रची गई है। जब उसकी ऐसी मौज होगी, शब्द की प्रलय लाकर इसको मिटा देगा, और जब इसे फिर नये सिरे से रची जानी होगी, शब्द द्वारा ही रची जायेगी। गुरु अमरदास जी के कथन के अनुसार : 'उतपति परलउ सबदे होवै। सबदे ही फिरि ओपति होवै' (म.३, ११७)। इस सम्पूर्ण दृश्य और अदृश्य आकार को बनाने और सँवारने-सजाने वाली शक्ति की महानता पर विचार करते हुए उसके लिये विशेषण 'अपार' का प्रयोग किया गया है : 'नानक सबदु अपारु तिनि सभु किछु सारिआ' (म.५, ३२०)।

चाहें तो कह लें कि शब्द ने सृष्टि की रचना की या चाहे कह लें कि रचनाकार प्रभु ने यह रचना की, एक ही बात है, क्योंकि वे दोनों जो एक हैं। और उत्पत्ति का कार्य भी उसी एक से होता है। इसमें किसी दूसरे की कोई दख़ल नहीं :

एको सबद एको प्रभु वरतै सभ एकसु ते उतपति चलै। (म.३, १३३४)
तेरा सबदु सभु तूंहै वरतहि तूं आपे करहि सु होई। (म.४, ४४८)

कर्तापुरुष खण्ड-ब्रह्माण्डों की रचना करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, उनको गतिशील भी वही रख रहा है। इतना विशाल ताना तन कर वह बुनाई किसी और को कैसे सौंप सकता था। सारी उत्पत्ति में व्याप्त भी वह आप ही हो रहा है। उसकी रचना में अनेक धरतियाँ हैं, अनेक ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि हैं। उन्हें यदि कोई सहारा न दिया जाता तो उनके आपस में टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो जाने में एक पल भी न लगता। जो स्तम्भ उन्हें अपने-अपने स्थान पर अपनी-अपनी सीध में टिकाये रखता है, वह शब्द है : 'विणु थंम्हा गगनु रहाइ सबदु नीसाणिआ' (म.१, १२७९)।

सो शब्द ही सृष्टि बनानेवाला है, शब्द ही उसे चलानेवाला है और शब्द ही चलाये रखनेवाला है। जिस शब्द का जिक्र किया जा रहा है, यह वही है जो हम सबके अन्तर में अपना निजी महल बनाकर बिराजमान है, हम सब उसी के जिलाये जी रहे हैं।

सबदे धरती सबदे आगास। सबदे सबद भइआ परगास।
सगली स्रिसटि सबद के पाछे। नानक सबद घटे घटि आछे।
(जन्म-साखी, १९)

वेद 'नाद' को सृष्टि का कर्ता मानते हैं। बाइबिल 'वर्ड' को रचना के लिये जिम्मेदार कहती है। इस्लाम के यकीन के अनुसार यह 'कलमा' या 'कुन' से अस्तित्व में आई है। इन सब लफ्ज़ों का एक ही भाव है–शब्द। गुरु साहिबान ने खुद इस सृजनात्मक शक्ति के लिये एक से अधिक नामों का प्रयोग किया है जैसे, शब्द, नाम, हुक्म। इस दृष्टि से शब्द, नाम और हुक्म में कोई अन्तर नहीं। देखें :

जेता कीता तेता नाउ। (म.१, ४)
हरि हरि उतमु नामु है जिनि सिरिआ सभु कोइ जीउ। (म.१, ८१)
नाम के धारे सगले जंत। नाम के धारे खंड ब्रहमंड। (म.५, २८४)
हुकमी सभे ऊपजहि हुकमी कार कमाहि। (म.१, ५५)

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई। (म.१, १)

हुकमी सृसटि साजी अनु बहु भिति संसारा। (म.३, ७८६)

निम्नलिखित वचनों से इस कथन की और पुष्टि होती है :

हुकमु मंने सो जनु परवाणु। गुर कै सबदि नामि नीसाणु।

(म.३, ११७५)

गुर का सबदु दारू हरि नाउ। (म.१, ११८९)

कर्ता और शब्द :

जब मूर्तिकार किसी मूर्ति का सृजन करता है या चित्रकार किसी चित्र का, तो पत्थर पर मारी हर चोट और केनवस पर खींची हर रेखा हाथ द्वारा खींची जाती है। अगर कोई पूछे कि इस कला-कृति को पैदा करनेवाला कौन था, कलाकार या उसका हाथ, तो हम क्या उत्तर देंगे ? कलाकार की प्रतिभा और प्रेरणा के बिना हाथ कुछ नहीं कर सकता था, न हाथ की अमली सहायता के बिना कलाकार। यही सोचकर कभी परमेश्वर को सृष्टि का कर्ता कह दिया जाता है, कभी शब्द को ; कर्ता हैं वे दोनों ही, अगर वे दो हैं।

सुरत-शब्द :

सूर्य से किरणें फूटती हैं और उसके चारों ओर, ऊपर-नीचे हर ओर फैल जाती हैं। किरणों का यह फैलाव किसी प्रकार के अलगपन में नहीं पड़ता, कोई भेद-भाव नहीं करता। किरणें समुद्र पर भी गिरती हैं, पहाड़ पर भी, मैदान पर भी। ये गन्दगी के ढेर को भी वैसे ही लाभ और कृपा प्रदान करती हैं जैसे दूध-से सफेद बर्फ के ढेर को। जिस तल पर किरणें गिरती हैं अगर वह साफ-सुथरा चमकता हो तो वह किरणों का रूप बन जाता है, उसमें से प्रकाश फूटने लगता है। अगर वह काला-कलूटा मैला हो तो वह किरणों के प्रकाश पर भी परदा डाल देता है। किरणों के सार्थक न होने के लिये सतह या तल दोषी होता है, किरणों की अपनी उज्ज्वलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। इसी प्रकार शब्द हर हृदय पर समान रूप से अनुग्रह या कृपा करता है, अगर कोई उसे सुनने की ओर से लापरवाह रहे तो उसका दुर्भाग्य।

जिस प्रकार प्रकाश की धारा सूर्य से निरन्तर निकलती रहती है, उसी प्रकार शब्द की धारा सतुपुरुष से सदा बहती रहती है। किरणें सूर्य का ही विस्तार होती हैं। सूर्य से अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। इसी प्रकार शब्द सतुपुरुष

का विस्तार है, सतुपुरुष का ही अंश और सतुपुरुष का ही रूप है। सूर्य के प्रकाश की तरह शब्द के फैलाव की भी कोई सीमा नहीं। यह भी सृष्टि के कण-कण तक पहुँचता है, हर प्राणी के अन्दर गूँजता है। जब हम अपनी कोठरी का दरवाज़ा, खिड़की और रोशनदान पूरी तरह बन्द कर लेते हैं तो उसके अन्दर सूर्य का प्रकाश प्रवेश नहीं कर सकता। इसी प्रकार अगर हम अपनी सुरत के कान बन्द रखें तो हमें शब्द सुनाई नहीं देता। चाहे कमरों के द्वार लगभग प्रतिदिन खोल दिये जाते हैं, सुरत के कानों पर से कोई भाग्यशाली ही अंगुली हटाता है।

आम लोगों की बोली में सुरत होश को कहते हैं। आध्यात्मिक भाषा में सुरत का अर्थ आत्मा लिया जाता है, या आत्मा की शब्द-धुन को सुनने की शक्ति।

मनुष्य-जन्म का एकमात्र मनोरथ आत्मा को परमात्मा में लीन करना है, और इस मनोरथ की पूर्ति होती है सुरत को शब्द में लीन कर देने से। इस लीनता की प्राप्ति के लिये की गई कमाई को सुरत-शब्द योग कहना अधिक सही है।

सुरत-शब्द योग की सामर्थ्य के बारे में कोई शंका नहीं हो सकती। इसकी सफलता की दर शत प्रतिशत है। अचूक होने के साथ-साथ यह अभ्यास आसान भी बहुत है। फिर भी कोई बिरला भाग्यशाली इस राह पर आता है।

जन्म-जन्मान्तरों में किये मन्द-कर्मों के फलस्वरूप हमारे अज्ञानी मन और बुद्धि हमारे शरीर को ही हमारा सबकुछ समझने और मानने लगते हैं। शरीर का तापमान एक-दो दरजे बढ़ जाये तो हम कहते हैं कि मुझे बुखार हो गया है। किसी कारण माँस या चर्बी में कमी आती दिखाई दे तो अपने मिलने वालों से कहेंगे कि मैं तो सूखता जा रहा हूँ। यथार्थ में तन आत्मा का ओढ़ना है। आम तौर पर हम अपनी खुराक और पोशाक रोज़ ही बदलते हैं। इसी तरह आत्मा को अपना चोला बदलने में अधिक देर नहीं लगती। अगर कोई एक योनि भोगते हुए कुछ वर्ष बीत जाते हैं (सदैव के सन्दर्भ में वर्षों का क्या महत्व है), तो कीड़ों-कीटाणुओं जैसी योनियाँ कुछ दिनों में ही ख़त्म हो जाती हैं। भ्रमों में उलझा मन नश्वर शरीर और क्षणभंगुर सुखों, स्वादों के लिये तरह-तरह से भटकता फिरता है। मार्ग-भ्रष्ट होने की सुविधा के लिये नौ दरवाज़े हर समय खुले रहते हैं ; वह कभी भी चला जाये, कहीं भी चला जाये। इसके विपरीत, उसकी सही मंज़िल का एक ही रास्ता वज्र के कपाटों से बन्द है। प्रभु की दया से

कोई पूर्ण सतगुरु मिलता है तभी उसके खुलने का योग बनता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सुरत-शब्द के अभ्यास की विधि बड़ी सरल है। मन को, गलत दिशाओं में भटकाने वाले नौ द्वारों से होकर, बाहर भागने से रोका जाता है, और तब वह अपने सही स्थान और केन्द्र में, आँखों के पीछे, टिक कर बैठ जाता है। इस स्थान को सन्त-महात्माओं ने अलग-अलग नाम दिये हैं जैसे, दसवाँ, तिल, घर-दर, मुक्ति द्वार, शिव-नेत्र आदि। पर अभिप्राय सबका एक ही है। यह वह स्थान है जहाँ सत्पुरुष से उत्पन्न शब्द हर क्षण, हर पल धुनकारें देता है : 'तेरे दुआरै धुनि सहज की माथै मेरे दगाई'(कबीर, ९७०)।

जिस प्रकार आग में प्रकाश होता है और गरमी भी, शब्द में प्रकाशित करने या चमकाने की सामर्थ्य होती है और जलाने की भी। इसका अभ्यास करने से इसकी शीतल आग जीव के अनेक जन्मों में इकट्ठे किये कर्मों को जलाती जाती है। उसका मन निर्मल होता चला जाता है, और ऊँचे मण्डलों की ओर उड़ान भरने के लिये हलका हो जाता है। आन्तरिक आँख पर से अज्ञान का मोतियाबिन्द अलोप होकर उसे शब्द के प्रकाश का अनुभव होने लगता है। शब्द की धुन से उसे सीध या दिशा तथा ज्योति से मार्ग-दर्शन मिलता है, और इस तरह वह सहज ही अपने मार्ग के पड़ाव बारी-बारी पार करते हुए अपने निश्चित मुकाम, शब्द के स्रोत पर पहुँच जाता है, अर्थात सत्पुरुष की दरगाह में पहुँच जाता है। किरण का पीछा करने से सूर्य तक पहुँचा जा सकता है। मार्ग भूलने का कोई डर नहीं हो सकता। इसी प्रकार सच्चे शब्द के पीछे लगने पर कहीं खो जाने की कोई गुंजायश नहीं होती।

जिस प्रकार जड़ों के चारों ओर लिपटा कीचड़ कमल के फूल को जरा भी गन्दा नहीं करता और कई प्रहर तालाब में तैरते रहने पर भी मुरगाबी के पंख उड़ते समय पानी से तनिक भी बोझिल नहीं होते, उसी प्रकार शब्द की शरण में आई आत्मा बड़ी आसानी से संसार-सागर को पार कर जाती है : 'जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नैसाणे। सुरति सबदि भव सागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे' (म.१, ९३८)। गुरु नानक साहिब आगे कहते हैं कि जब गुरु की बख्शिश के फलस्वरूप सुरत और शब्द का मेल होता है तो जीव हर तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसकी जन्म-मरण की कैद समाप्त हो जाती है और

वह धुर दरगाह में सम्मान का पात्र बन जाता है : 'मुकति भई बंधन गुरि खोल्हे सबदि सुरति पति पाई' (म.१, १२५५)। अगर सुरत को शब्द में स्थिर कर लिया जाये तो सत्य-स्वरूप हरि के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं : 'नानक दासु हरि कीरतनि राता सबदु सुरति सचु साखी' (म.५, १२२७)।

गुरु नानक साहिब के समय आत्मिक जगत से सम्बन्धित कुछ विशेष शब्दों का अक्सर काफी प्रयोग किया जाता था और वे हर ज़बान पर चढ़े हुए थे। इसलिये उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। इसीलिये गुरु नानक साहिब और उनके उत्तराधिकारियों ने उन लफ़्ज़ों का बिना संकोच के प्रयोग किया है, और उनकी व्याख्या की कोशिश नहीं की है। सुरत-शब्द या शब्द-सुरत उन्हीं लफ़्ज़ों में से एक है। आज 'टी.वी.' लफ़्ज़ मुँह से निकालें तो कोई अनपढ़ व्यक्ति भी जान जायेगा कि इसका अर्थ टेलीविज़न है—वह यन्त्र जिसके द्वारा दूर के स्थानों से दिखाई-सुनाई चीज़ें अपने घर बैठकर देखी-सुनी जा सकती हैं। सुरत-शब्द से सूचित होता है सुरत का शब्द में समाना। सुरत पूर्ण एकाग्रता से शब्द में लिव जोड़ती है तो हर प्रकार के संकल्प शान्त हो जाते हैं और इस अभ्यास को जारी रखने से सुरत का अस्तित्व मानों एक सिरे से मिट जाता है और केवल शब्द ही शब्द बाकी रह जाता है। सुरत को शब्द से कैसा जोड़ना है, मनमुखों को इसका ज्ञान नहीं होता और इसकी विधि जाने बिना, इसका अभ्यास किये बिना, उनका जन्म-मरण कभी खत्म नहीं होता : 'साकत नरि सबद सुरति किउ पाईऐ। सबद सुरति बिनु आईऐ जाईऐ' (म.१, १०४२)।

सहज-धुन :

शब्द-अभ्यास का पहला कदम नाम जपना है, सतगुरु द्वारा बताये गये नाम या नामों का रसना से उच्चारण करना। यह उच्चारण मन की सहायता से होना चाहिए। पर मन अपनी स्वाभाविक चंचलता के कारण उच्चारण की प्रक्रिया में कभी शामिल नहीं होता। थोड़ी-सी रुचि घटते ही वह जीभ को जाप के काम में जुटा छोड़कर आप भाग जाता है। अभ्यासी उसे बार-बार घेर कर वापस लाता है और वह मौका पाते ही फिर दूर चला जाता है।

नाम-अभ्यास के किसी सीमा तक पक जाने से ज़बान की आवश्यकता नहीं रहती। जब तक पाठ कच्चा हो विद्यार्थी उसे ऊँचे-ऊँचे बोलकर याद करते हैं। पके हुए को दुहराना, बिना बोले, मन के द्वारा खुद ही हो जाता है। मन से नाम जपना सुमिरन कहलाता है। सुमिरन का मूल पद 'स्मरण' है, और स्मरण होता है

याद करना। सुमिरन के लिये मन का जाप के प्रति गहरा रुचिपूर्ण सहयोग चाहिए। वह जाप से अलग हो जाता है तब कम से कम ज़बान मशीनी तौर से नाम दुहराती रहती है। सुमिरन में मन की अनुपस्थिति एक प्रत्यक्ष दरार पैदा कर देती है, जैसे कैमरा कलिक करने पर भी फोटो आने से रह जाये या घोड़ा दबाने के बावजूद कारतूस न चले।

जब सुमिरन के पैर जमते हैं तो मन का मैल उतरने लगता है, जब मन निर्मल होता चला जाता है तो अन्तर में अनहद शब्द की धुन का अनुभव आरम्भ होता है। यह शब्द खुद परमेश्वर का पैदा किया हुआ संगीत है और हर अन्तर में बिना किसी भेद-भाव के पहुँचता है; पर यह तब तक सुनाई नहीं देता जब तक मन पर जमी भोगों की गन्दगी सुरत को अचेत या गाफ़िल किये रखती है। शब्द में अगम का संगीत होता है जो अत्यन्त रसीला है। यह चित्त को अच्छा लगता है, पर फिर भी आवश्यक एकाग्रता से नहीं सुना जाता, क्योंकि मन को जन्म-जन्मान्तरों से इन्द्रियों के रस का स्वाद लेने का चसका लगा हुआ है, उसे यही अच्छे लगते हैं और आसानी से उससे छोड़े नहीं जाते। अगर किसी को अफीम खाने की आदत पड़ी हुई है, तो वह यह जानते हुए भी कि यह नशा शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, हर पक्ष से हानिकारक है, उसके बिना रह नहीं पाता। इसी प्रकार मन यह समझते-बूझते भी कि इन्द्रियों के स्वाद लोक और परलोक दोनों के लिये घातक हैं, अपने आपको उनसे अलग नहीं कर पाता। पर दृढ़ता से की गई साधना मन के पंख काट देती है। वह स्थिर हो जाता है और तब उसे शब्द के अमृतमय रस की कदर मालूम होने लगती है। आखिर वह इसी को अपने जीवन का आधार बना लेता है तथा क्षण-भर भी शब्द से अलग नहीं रहना चाहता। फिर वही शब्द जो सुनाई देने लगता था, हट जाता था, फिर सुनाई देने लगता था, बन्द हो जाता था, निरन्तर सुनाई देने लगता है, एक-रस और बिना यत्न : 'अंतरि जोति निरंतरि बाणी' (म.१, ६३४)। शब्द की इस आवाज़ या गूँज को गुरुवाणी में सहज-धुन कहा गया है : 'सतिगुर सेवे ता सहज धुनि उपजै गति मति तदही पाए' (म.३, ६०४)।

नाम और शब्द :

नाम के सुमिरन में उद्यम अभ्यासी का होता है, शब्द के अभ्यास में पहल परमेश्वर की होती है। नाम-सुमिरन करते हुए अभ्यासी मानों परमेश्वर से मिलने चल पड़ा हो, शब्द के अभ्यास में परमेश्वर खुद शब्द-रूप में उसकी ओर चलकर

आता है। वह अभ्यासी के घर, उसके अन्तर में, पहले पहुँचता है, अभ्यासी बाद में। शिष्य के अपने एक कदम उठाने से पहले परमेश्वर करोड़ कदम उठा चुका होता है। भाई गुरदास ने यही कहा है : 'चरन सरन गुर एक पैंडा जाए, चल सतगुरु कोट पैंडा आगे होए लेत है।'

अक्षरी नाम और शब्द :

जिस अनहद शब्द के द्वारा हरि जीव को अपने घर बुला सकता है : 'अनहद सबद वजाए हरि जीउ घरि आए' (म.३, ७७०), उस शब्द को सुनने के लिये सुमिरन की सहायता लेनी पड़ती है। जेट हवाई जहाज़ उड़ने के लिये बनाये जाते हैं। वे एक बार उड़ान भर लेते हैं तो मीलों तक बिना साँस लिये उड़ते चले जाते हैं। पर वे एकदम ज़मीन से उठकर आकाश में नहीं पहुँच जाते। उनको ऊँचा उठने के लिये हवाई-पट्टी पर दौड़ लगानी पड़ती है। इस दौड़ का प्रयोजन सफर खत्म करना नहीं होता, धरती की पकड़ को तोड़ना होता है। अक्षरी नाम का सुमिरन प्रभु-प्राप्ति के सफ़र के लिये उक्त दौड़ का कार्य करता है। इस सुमिरन से सच्चे शब्द तक रसाई मिलती है, और शब्द आगे ले जाकर परमपिता की गोद में बिठा देता है। सुमिरन की इस अमूल्य उपयोगिता के बारे में गुरु अर्जुन साहिब ने सुखमनी में कहा है : 'प्रभ कै सिमरनि अनहद झुनकार' (म.५, २६३)। जब शब्द सुनाई देने लगता है तो उसके बाद जो नाम का अभ्यास किया जाता है, वह शब्द की कमाई के रूप में ही किया जाता है : 'सबदे नामु धिआईऐ सबदे सचि समाइ' (म.३, ६७)। सुमिरन का कार्य शब्द में समाने के लिये मन के बरतन को साफ करने के बाद पूरा हो जाता है।

गुरु नानक साहिब का वचन है कि जो व्यक्ति गुरु के उपदेश के अनुसार नाम का सुमिरन करता है उसे सच्चा हरि-भक्त समझो, उसको अपने हृदय में अनहद शब्द की ध्वनि का अनुभव होता है :

गुरमति रामु जपै जनु पूरा। तितु घट अनहत बाजे तूरा। (म.१, २२८)

प्रभु के नाम को दुहराकर उसे याद (स्मरण) करना, सुमिरन है, और अन्तर में सुनाई देनेवाली धुन में लिव जोड़ना और उस पर ध्यान केन्द्रित करना शब्द-अभ्यास है। यह अन्तर गुरु अमरदास जी के निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हो जाता है :

नामु न चेतहि सबदु न वीचारहि इहु मनमुख का आचारु।
(म.३, ५०९)

यह सही है कि अधिकतर स्थानों पर नाम और शब्द का समान अर्थों में प्रयोग किया गया है। ऐसा करते हुए यह मान लिया जाता है कि जो अभ्यासी अनहद शब्द की कमाई कर रहा है, वह नाम-सुमिरन के रास्ते से ही वहाँ तक पहुँचता है और जो ध्यानपूर्वक नाम-सुमिरन कर रहा है, वह शब्द-अभ्यास तक पहुँच ही जायेगा। वैसे नाम भी प्रभु का, शब्द भी प्रभु का, इस दृष्टि से उनमें अन्तर है भी नहीं।

'सबदि मरै' :

गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं : 'सबदि मरै फिरि मरणु न होइ' (म.१, १५३)। जब सुरत-शब्द के अभ्यास से सत्संगी को यह अनुभव हो जाता है कि मैं अपने शरीर का ही कोई अंग या अंश नहीं, इससे कोई अलग और ऊँची चीज़ हूँ, मेरा सच्चा आदि और स्थायी नाता इस लहू और मिट्टी के आकार से नहीं, इस आकार के अन्दर व्याप्त, इसमें कार्य करती ईश्वरीय सत्ता से है, तो वह अपने त्रिगुणात्मक शरीर के लिये मर जाता है और उस सत्ता में जी उठता है। इस प्रकार जीवित होने पर उसे फिर नहीं मरना पड़ता : 'सबदि मरै सो मरि रहै फिरि मरै न दूजी वार' (पृ.५८)। यह कल्याणकारी मौत उसे मुक्ति का अधिकारी बना देती है : 'सबदि मरै ता उधरै पाए मोख दुआरु' (म.३, ३३)। उसका जन्म-मरण का सिलसिला सदा के लिये खत्म हो जाता है :

सबदि मरै मनु मारै अपुना मुकती का दरु पावणिआ। (म.३, ११७)
सबदि मरहु फिरि जीवहु सद ही ता फिरि मरणु न होई। (म.३, ६०४)

'सबद नीसाण' :

सच्चे मालिक की दरगाह सच्ची है। उस दरगाह में पापों, दुष्कर्मों से मलिन आत्माएँ प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकतीं। जिस आत्मा पर शब्द की मोहर-छाप लगी हो, वही उसमें दाखिल होने के लिए स्वीकार की जाती है, अर्थात केवल शब्द के अभ्यास से ही उसके साथ समरूप हुआ जा सकता है :

सचु तेरा दरबारु सबदु नीसाणिआ।
सचा सबदु वीचारि सचि समाणिआ। (म.१, १४४)

कर्मों का हिसाब हरएक को देना पड़ता है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। पर जो जीव यहीं पर परवान अथवा स्वीकृत होकर जाते हैं, उनसे किसी प्रकार की पूछताछ नहीं होती। जैसे कि गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

अगै पुछ न होवई जे सणु नीसाणै जाइ। (म.१, ७३०)

किसी की क्या मजाल कि इस तरह निशानें या अंकित प्राणी का मार्ग रोक ले :

सचै सबदि नीसाणि ठाक न पाईऐ। (म.१, १४६)

यह 'निशान' या परवाना शब्द का भेद जानने और उसका अभ्यास करने से प्राप्त होता है :

हुकमु बूझै सोई परवाणु। साचु सबदु जा का नीसानु। (म.५, ३८६)

जिन सौभाग्यशाली अभ्यासियों के अन्तर में शब्द की धुन सुनाई देने लगती है, उनका हरि के दर पर आदर पाना निश्चित हो जाता है :

नानक ते मुख उजले धुनि उपजै सबदु नीसाणु। (म.१, २२)

कल्पना करें उस अलौकिक रंग की, जिसके प्रभाव के अधीन कोई महापुरुष विवश हो पुकार उठता है : 'तूं मेरा बहु माणु करते तूं मेरा बहु माणु। जोरि तुमारै सुखि वसा सचु सबदु नीसाणु' (म.५, २१७)।

'सच सबद नीसाण' की व्याख्या करते हुए भाई वीरसिंह जी लिखते हैं : मुराद है कि सच्चा शब्द नीसाण होकर मुझ पर पड़ा हुआ है, इसलिये आपसे मेरा निरन्तर सम्बन्ध प्रकट है। नीसाण से भाव है कि मुझ पर आपका जन होने का एक निशान पड़ गया है, वह है शब्द (संथया श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, १३५५)। कई बार दो-दो, चार-चार चरवाहों की भेड़ें एक ही चरागाह में इकट्ठी हो जाती हैं, पर वे आपस में मिल नहीं जातीं, क्योंकि हर मालिक ने अपने स्वामित्व के जानवरों पर अलग रंग छिड़क रखा है और उस रंग के होते हुए पहचान करने में कोई कठिनाई नहीं आती।

चाहे प्रभु के शब्द का संगीत हर प्राणी के अन्तर गूँजता है फिर भी यह अनुभव उसी को होता है जिस पर प्रभु कृपालु हो। शब्द अनहद होता है, निरन्तर होता है, इसलिये वह हर पल इस बात की साक्षी देता है कि यह जीव कुल-मालिक का अपनाया हुआ है, उसकी शरण में है। इस अपनत्व की सनद का जितना भी मान किया जाये, कम है।

मन पर काबू :

मन की चंचलता का यह हाल है कि वह किसी समय भी स्थिर नहीं होता, हर समय मस्त हाथी की भाँति झूमता हुआ घूमता-फिरता है। अभी पश्चिम की

ओर दौड़ रहा है तो अगले पल पूर्व की ओर दौड़ पड़ेगा। समुद्र की लहरें भी हवा के रुकने पर किसी समय शान्त हो सकती हैं, पर मन की तरंगे एक क्षण भी नहीं रुकतीं। इसे वश में करना आध्यात्मिक मार्ग पर पहला कदम उठाना है, और यह कदम उठाया जाता है शब्द की लाठी पकड़ कर :

मनु मैगलु गुर सबदि वसि आइआ राम। (म.४, ५७६)

मन के तरंग सबदि निवारे रसना सहजि सुभाई। (म.३,१२३३)

किसी अभ्यासी का मन को मारने का यत्न सफल हुआ है कि नहीं, और अगर हुआ है तो कितना, इसकी परख शब्द की कसौटी से की जा सकती है। अगर शब्द रूपी अमृत का स्वाद लेते हुए किसी अन्य रस का लोभ न सताये तो विश्वास किया जा सकता है कि मन निर्मल हो गया है, अन्यथा नहीं :

गुरमुखि आपणा मनु मारिआ सबदि कसवटी लाइ। (म.३, ८७)

मैल और चोर :

पीतल या काँसे के बरतन को आग पर चढ़ाने के बाद हर बार माँज लिया जाये तो वह बड़ी आसानी से साफ हो जाता है, क्योंकि धुआँ, चिकनाई और किसी भी अन्य प्रकार के मैल धातु के अन्दर समा नहीं सकते। पर ऐसे आलसी लोग भी होते हैं जो बरतन को काम में लेने के बाद अन्दर से तो पोंछ लेते हैं पर उसके पैंदे को हाथ तक नहीं लगाते। समय पाकर पैंदे की कालिख इतनी पक्की हो जाती है कि वह किसी तरह नहीं उतरती। इस जन्म में आने से पहले मनुष्य ने पता नहीं कौन-कौन सी योनियां भोगी हैं और कौन-कौन से कर्म इकट्ठे कर लिये हैं। यहाँ भी वह काम, क्रोध आदि का बन्दी बन कर दुराचार में डूबा रहता है; उसके दुष्कर्म संस्कारों के रूप में संचित होते रहते हैं। अनेक बार आत्म-शुद्धि के लिये किये गये उपचार भी रस्मी धर्म की रीतियाँ पूर्ण करने के रूप में किये जाते हैं और उनके कारण हृदय और अधिक मलिन हो जाता है। अगर गुरु से सुमति लेकर शब्द का अभ्यास किया जाये तो जन्म-जन्मांतरों की एकत्रित मलिनताएँ ही दूर नहीं होतीं, बल्कि बुरे कर्मों के प्रेरक पाँच चोरों से भी छुटकारा मिल जाता है।

किसी दलदल भरे पोखरे के किनारे बैठकर उसके गन्दे पानी से कपड़े धोने लगें तो उनके और अधिक गन्दे हो जाने का भय बन जाता है। जूठ जूठ से नहीं मिटाई जा सकती। मन के अन्तर में जमे घने मैल की परतों को केवल शब्द का खार ही उतार सकता है :

बिनु अभ सबद न मांजीऐ साचे ते सचु होइ। (म.१,५६)

बिनु सबदै मैलु न उतरै मरि जंमहि होइ खुआरु। (म.३,२९)

शब्द का अपना रंग ऐसा कल्याणकारी है कि उसके सम्पर्क में आकर जीव की सम्पूर्ण मलिनता दूर हो जाती है, और वह साफ़-सुथरा हो जाता है :

सबदि रते से निरमले हउ सद बलिहारै जासु। (म.३,२७)

शब्द की समझ आने पर ही मदमस्त मन से पंजा लड़ाने की सामर्थ्य पैदा होती है, और आशा-तृष्णा को मारकर प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चला जा सकता है :

सबदु सूझै ता मन सिउ लूझै मनसा मारि समावणिआ। (म.३,१२३)

शब्द के प्रकट होने पर काम, क्रोध आदि पाँचों विकार चुपचाप चले जाते हैं। वे इस समर्थ का तेज सह नहीं सकते :

सबदि रते से निरमले तजि काम क्रोधु अहंकारु। (म.१,५८)

देही नगरि तसकर पंच धातू गुर सबदी हरि काढे मारि। (म.४, ११३५)

और अन्तर में जितनी भी गन्दगी पैदा होती है, काम, क्रोध आदि वासनाओं से ही पैदा होती है।

तृष्णा :

एक साधारण अग्नि होती है, हानिरहित अग्नि, जो सारी वनस्पति में छिपी रहती है और जो पानी, रेत, ऊन के कम्बल आदि से कैसे भी बुझा ली जाती है। एक और आग है जो बड़ी विकराल है, वह मनुष्य के हृदय में शोले बनकर जलती है और बिना शब्द के किसी तरीके से वश में नहीं आती, जैसा कि गुरु नानक साहिब ने कहा है:

तृसना अगनि सबदि बुझाए। (म.१,२२२)

अगर कोई सोचता हो कि किसी विशेष पदार्थ की प्राप्ति से या उसका प्रयोग करके, उस पदार्थ के प्रति उसकी तृष्णा समाप्त हो जायेगी तो वह अपने आपको धोखा दे रहा है। इस प्रकार तृष्णा को मिटाने का यत्न उलटा उसे भड़काने का कारण बनता है। परन्तु शब्द रूपी अमृत का सेवन तृष्णा को निर्मूल कर देता है, उसे सदा के लिये शान्त कर देता है, चाहे वह तृष्णा किसी भी प्रकार की हो :

गुर का सबदु अंमृतु है जितु पीतै तिख जाइ। (म.३,३५)

गुरु के शब्द से केवल प्यास ही नहीं बुझती, वह सुख मिलता है, परम सुख, सहज सुख, जिसमें कभी कमी नहीं आती :

गुर कै सबदि तिखा निवारी सहजे सूखि समावणिआ। (म.३,११३)

पापों का नाश :

अहं या हौंमैं के अधीन कर्म करना, उन कर्मों की फसल काटने के लिये जन्म लेना, इसी प्रकार और कर्म करना तथा और जन्म लेना—इसी चक्र-व्यूह में उलझा रहता है हम सबका जीवन। इन्सान कमज़ोरियों का पुतला है और काल ने उसे फँसाने के लिये कदम-कदम पर वासनाओं के अनेक जाल फैलाये हुए हैं। बार-बार भोगे स्वादों के आदी हुए मन को विषयों का मीठा ज़हर मिले, तो वह उसे खाने में बिलकुल नहीं हिचकचाता और बार-बार मुँह की खा लेने के बाद हारी हुई बुद्धि भी उसे इस रास्ते से रोकने का यत्न नहीं करती। इसलिये अपनी आयु के प्रतिदिन उससे भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म होते रहते हैं। कर्म अक्सर किये जाते हैं बहुत और भुगताये जा सकते हैं कम, इसलिये वे इकट्ठे होते चले जाते हैं और इस तरह कर्मों की तह के ऊपर तह जुड़ती चली जाती है। यह प्रभु की अपार दया है कि उसने इस प्रकार के अनन्त छोटे-बड़े पापों और आवागमन का भागी बनानेवाले अन्य कर्मों को बिना भोगे मिटाने की विधि रची है—वह है शब्द की कमाई :

मेरा प्रभु है गुण का दाता अवगण सबदि जलाए। (म.३,११३२)
साच सबदु हिरदे मन माहि। जनम जनम के किलविख जाहि। (म.५,११४३)

ज्यों-ज्यों शब्द का अभ्यास किया जाता है, अहंकार जोकि जन्म-रोग बनकर जीव से चिपटा हुआ है, धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है : 'गुर कै सबदि कमलु परगासिआ हउमै दुरमति खोई' (म.३,१३३४)। माया-नागिन के तेज डंक बेअसर हो जाते हैं : 'माइआ भुइअंगमु सरपु है जगु घेरिआ बिखु माइ। बिखु का मारणु हरिनामु है गुर गरुड़ सबदु मुखि पाई (म.३,१४१५)। सुरत का शब्द से संयोग होने पर कथीर-सी कच्ची धातु जैसा गुणहीन मनुष्य सोने जैसा मूल्यवान बन जाता है : 'कचहु कंचनु भइअउ सबदु गुर स्रवणहि सुणिओ' (म.४,१३९९)। वह मानों किसी पवित्र मण्डल में जा बैठता है और उसके सब भटकन व क्लेश दूर हो जाते हैं; उसका जीवन स्थायी सुख, शान्ति और आनन्द में बीतता है :

'कलि कलेस गुर सबदि निवारे' (म.५,१९१), 'गुर कै सबदि सुखु सांति सरीर' (म.३, ३६१), 'सदा अनंदि रहै दिन राती पूरे गुर कै सबदि समाणे' (म.४, ७३२)। उसके दिन ऐसा चमन बन जाते हैं जिसमें पतझड़ कभी नहीं आता, सदा बसन्त ही खिला रहता है : 'सदा बसंतु गुर सबदु वीचारे' (म.३,११७६)। अभ्यासी की इस लोक में जय-जयकार होती है : 'जै जै कारु होतु जग भीतरि सबदु गुरू रसु चाखै' (म.५,६३०) और परलोक में भी उसे आदर प्राप्त होता है : 'सबदि मिले से सूचाचारी साची दरगह माने' (म.१,१३३२)। ऐसे व्यक्तियों को ही जीवन-मुक्त कहा जाता है : 'जीवन मुकतु जा सबदु सुणाए' (म.१,१३४३)।

यम :

जिस अभ्यासी की वृत्ति एकाग्र हो जाये और लिव अन्तर में लग जाये तथा इसके परिणामस्वरूप उसे अनहद शब्द सुनाई देने लगे, तो उसका यम से कोई सरोकार नहीं रहता : 'घुंघरू वाजै जे मनु लागै। तउ जमु कहा करे मो सिउ आगै।' (म.१,३५६)। असल में जिस स्थान पर कोई साधु मौजूद हो और सुमिरन तथा शब्द-अभ्यास किया जाता हो वहाँ यम के दूत पैर नहीं रखते, क्योंकि धर्मराज ने अपने दूतों को चेतावनी दे रखी है कि अगर तुम उस जगह के निकट भी पहुँचोगे तो न तुम बच पाओगे, न मैं खुद : 'जह साधू गोबिद भजनु कीरतनु नानक नीत। णा हउ णा तूं णह छुटहि निकटि न जाईअहु दूत' (म.५,२५६) 'सचा सबदु बीचारि कालु विधउसिआ' (म.१,१४९)।

'सबदि समावणिआ' :

हम देख चुके हैं कि शब्द कर्तापुरुष का विस्तार है, उसी का रूप है। जो भाग्यशाली जीव अभ्यास करके शब्द में समा जाते हैं, शब्द से अभेद हो जाते हैं, उनको दुबारा वियोग नहीं सहना पड़ता, क्योंकि यह मेल स्थायी होता है और सम्पूर्ण भी। वे प्रभु में भी स्वाभाविक ही मिल जाते हैं। शब्द में इस तरह कौन-से जीव समाते हैं? वे जिनका प्रभु में मिलना, उससे समरूप होना धुर से, सच्ची दरगाह से निश्चित किया गया है : 'जो धुरि राखिअनु मेलि मिलाइ। कदे न विछुड़हि सबदि समाइ।' (म.३,१५९)। गुरु अमरदास जी एक और स्थान पर कहते हैं : 'जिसु सतिगुरु मेले सो मिलै सचै सबदि समाइ' (म.३,३७)। जिस जीवात्मा को परमात्मा अपने साथ मिलाना चाहता है, उसे वह सतगुरु की संगति में लाता है और सतगुरु उसे सच्चे शब्द में समाने के मार्ग पर लाकर परमेश्वर से समरूप कर देता है।

अगर अहंभाव को त्याग कर खुद को शब्द में मिटा दिया जाये, शब्द में लीन कर दिया जाये तो ऐसा अनन्त जीवन प्राप्त हो जाता है कि फिर मरना नहीं पड़ता, मनुष्य जीते-जी मुक्त हो जाता है : 'हम सबदि मुए सबदि मारि जीवाले भाई सबदे ही मुकति पाई' (म.३,६०१)। यह गुरु अमरदास जी का वचन है, परमेश्वर में अभेद हो जाने और अनन्त जीवन के अधिकारी बन जाने के बाद उच्चारण किया हुआ।

शब्द सुरत का गुरु है, बड़ा ही दयालु और उदारहृदय गुरु। अगर मन में इस गुरु का प्रेम जाग उठे, अगर मन पर प्रेम का रंग चढ़ जाये तो जीवात्मा को गुरु के द्वारा हरि-परमेश्वर में लीनता प्राप्त हो जाती है : 'सबदु गुर दाता जितु मनु राता हरि सिउ रहिआ समाई' (म.३,६०१)।

शब्द में रच जाने की, समा जाने की अवस्था कितनी रसमय है, कबीर साहिब ने बताना चाहा, पर बता न पाये :

पिंडि मूऐ जीउ किह घरि जाता। सबदि अतीति अनाहदि राता।
जिनि रामु जानिआ तिनहि पछानिआ। जिउ गूंगे साकर मनु मानिआ।

(कबीर, ३२७)

देश-काल के सीमाबद्ध जगत में अगम देश की बातें कोई कैसे समझेगा, समझाने वाला कैसे समझायेगा !

शब्द का भेदन :

परमात्मा से बिछुड़ी और मन के वश में पड़ी आत्मा दुष्कर्मों में लथपथ हो जाती है, और जो कभी खुद ऊँचे से ऊँची थी, पतन के गहरे गर्त में जा गिरती है। पर जब सतगुरु शब्द द्वारा हौंमै और द्वैत के परदे उतार देता है तो वह वापस निर्मल हो जाती है, सत्य-स्वरूप में समाने के योग्य हो जाती है :

तुम साचे हम तुम ही राचे सबदि भेदि फुनि साचे।

(म.१, ५९७)

जब तक वह शब्द द्वारा बिंधी नहीं जाती, प्रभु के दरबार में प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकती :

जब लगु सबदि न भेदीऐ किउ सोहै गुरदुआरि। (म.१,१९)

हृदय में शब्द के बस जाने पर आत्मा को अपने सच्चे मूल की पहचान हो जाती है और वह खुद पुकार उठती है, 'मैं वही हूँ' :

सोहं आपु पछाणीऐ सबदि भेदि पतिआइ। (म.१,६०)

हालाँकि यह छलांग हरएक नहीं लगा सकता, लेकिन जो भी शब्द को भेदने में सफल हो जाता है, उसे सचखण्ड का स्वामी अवश्य अपने महल में बुला लेता है :

सबदि भेदि कोई महलु पाए महले महलि बुलावणिआ। (म.३,११७)

शब्द (प्रभु) की पहचान :

प्रभु अभ्यासी के सामने आकर खड़ा हो जाये, वह तो भी नहीं जान सकेगा कि यह प्रभु है, क्योंकि जैसा हमें बताया गया है, उसका न कोई चिन्ह है, न रंग-रूप है, न वर्ण या जाति : 'चकर चिहन अर वरण जात अर पात नहिन जिह। रूप रंग अर रेख भेख कोउ कहन सकत किह' (पातशाही १०)। सो उसकी पहचान तब ही हो सकती है जब कोई पास खड़ा होकर बताये कि यह 'वह' है और बतानेवाले ने खुद उसे देखा हो। गुरु खुद शब्द का रूप होता है, प्रभु में समाया होता है, इसलिये ऐसी पहचान उसी से मिल सकती है :

गुरमुखि सबदु पछाणीऐ हरि अंम्रित नामि समाइ। (म.३,२९)

शब्द का अर्थ है परमेश्वर। उपरोक्त पहचान हो जाने पर जीवात्मा और परमात्मा का भेद समाप्त हो जाता है। आत्मा नामी से, उस प्रभु से, समरूप हो जाती है :

हरि अंम्रित नामि समाइ। (म.३,२९)

शब्द अमृत :

हरि-रस, नाम-रस, शब्द-अमृत की महिमा में बहुत कुछ कहा गया है, सुना-सुनाया नहीं, उन महापुरुषों द्वारा जिन्होंने इसका स्वाद लिया है, इसे जी भर कर पीया है।

सांसारिक लोगों द्वारा बड़ी से बड़ी इच्छित वस्तु राज अथवा सत्ता है, क्योंकि राज से बहुत कुछ अपने आप मिल जाता है; जैसे, अपार धन, बहुमूल्य वाहन, आलीशान निवास-स्थान, नौकर-चाकर आदि सुख-सुविधाएँ, मान, ऐश्वर्य। इसके विपरीत, रूहानी पथ के पथिक विशेषकर मुक्ति माँगते हैं, क्योंकि मुक्ति जन्म-मरण और जन्म-मरण से सम्बन्धित अनेक दुःखों, झंझटों से सदा के लिये छुटकारा दिला देती है। पर जिन हरि के जनों को उसके चरण-कमलों का प्यार मिल जाता है, वे राज और मुक्ति दोनों को ठुकरा देते है, क्योंकि कोई किसी

प्रकार का भी अन्य रस इस परम रस का मुकाबला नहीं कर सकता। गुरु अर्जुन साहिब, जिनसे शब्द के रूप में प्रभु बोलता था, फ़रमाते हैं :

अंम्रिता प्रिअ बचन तुहारे।
अति सुंदर मनमोहन पिआरे सभ हू मधि निरारे।
राजु न चाहउ मुकति न चाहउ मनि प्रीति चरन कमलारे। (म.५,५३४)

गुरु अमरदास जी के अनुसार : 'गुर का सबदु अंम्रितु है जितु पीतै तिख जाइ' (म.३,३५), और वह इतना मीठा है कि उसे महारस कहे बिना न्याय नहीं हो सकता : 'गुर का सबदु महारसु मीठा हरि कै नामि मुकति गति पाई' (म.३,१२६२)। गुरु अमरदास जी ने इसके लिये 'अमृत' का ही प्रयोग किया है : 'अंमृत एको सबदु है नानक गुरमुखि पाइआ' (म.३,६४४)। गुरु नानक साहिब ने इसकी महारस कहकर बड़ाई की है : 'गुर का सबदु महारसु मीठा' (म.१, १३३१)। वे कहते हैं : 'कूजा मेवा मै सभ किछु चाखिआ इकु अंमृतु नामु तुमारा।'[1] (म.१,१५५)।

मैंने प्रकृति की प्रचुरता और मनुष्य के हुनर से बनी मीठी से मीठी चीज़ें, फल और मिसरी खाकर देखी हैं, पर उनमें से कोई भी नाम के रस को नहीं पहुँचता, क्योंकि नाम केवल मीठा ही नहीं है, वह तो अमर जीवन प्रदान करने वाला अमृत है।

हरि-रस पीने से तृप्ति तो आती ही है, अमर जीवन भी प्राप्त हो जाता है : 'जो जो पीवै सो त्रिपतावै। अमरु होवै जो नाम रसु पावै' (म.५,१०१)।

हरि-रस अनुभव किया जा सकता है, उसकी कथा नहीं कही जा सकती, उसके गीत नहीं गाये जा सकते। यह वैसे ही है जैसे गूँगा गुड़ खाकर अपने आप में चाहे झूम तो ले, उसकी प्रशंसा में कह कुछ नहीं सकता। कबीर साहिब कहते हैं : 'कहु कबीर गूंगै गुड़ु खाइआ, पूछे ते किआ कहीऐ' (कबीर,३३४)।

शब्द का अमृत हर हृदय में बिना किसी भेद-भाव के, प्रतिदिन, प्रति-पल बरसता है, पर उसे सतगुरु की अपार कृपा से कोई-कोई ही पीता है :

अंमृतु वरसै सहजि सुभाए। गुरमुखि विरला कोई जनु पाए।
(म.३,११९)

१. अवरि साद चखि सगले देखे मन हरिरसु सभ ते मीठा जीउ। (म.५,१००)

मनमुखों के अन्तःकरण तो उलटे किये हुए बरतन हैं। अमृत के हज़ार बादल बरस जायें, उनमें तब भी एक छींटा नहीं पड़ता : 'ऊंधै भांडै कछु न समावै सीधै अंमृतु परै निहार' (म.१,५०४), गुरु नानक साहिब कहते हैं कि शब्द की सँवारी हुई आत्माओं को ही केवल हरि-रस का स्वाद मिलता है : 'सबदि सवारीआ सु अंमृतु पीविआ' (म.१,१४८)।

अभ्यास के आरम्भ में अभ्यासी को ऐसा महसूस होता है कि वह शब्द या नाम के स्वाद से बिलकुल खाली हो। अगर कड़वा नहीं तो खट्टा-सलोना भी नहीं। मानों अभ्यासी को पत्थर की सिल चाटने का हुक्म दे दिया गया हो : 'सिल जोगु अलूणी चटीऐ' (म.५,९६६)। नाम की नीरसता का यह भ्रम मन के पिछले संस्कार पैदा करते हैं। अफीम कड़ुवी होती है, तम्बाकू बदबूदार, पर उनके व्यसनियों को दोनों में कोई खराबी नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि इन नशों का प्रयोग करते-करते उनके अनुभव करने की शक्ति मर जाती है, फिर न एक का कड़ुवापन अखरता है, न दूसरे की बदबू। इसी प्रकार घटिआ पदार्थों का आदी हुआ मन, नाम के सूक्ष्म रस की ओर से बेसुध हो जाता है :

फरीदा सकर खंडु निवात गुड़ु माखिउ मांझा दुधु।
सभे वसतू मिठीआं रब न पुजनि तुधु।
(फरीद,१३७९)

अनहद धुनी मेरा मनु मोहिओ अचरज ता के स्वाद। (म.५,१२२६)

भवजल तरना :

यह संसार माया है, जो ब्रह्म की पैदा की हुई है और जिसमें विषय-वासनाओं का भँवर-जाल है। जिस प्रकार जीव या निर्जीव कोई भी चीज़ भँवर में फँस जाये तो उससे बाहर निकल नहीं सकती, इसी प्रकार विषय चाहे कितने ही भोग लिये जायें, उनकी तृप्ति नहीं होती और भोगने की प्रकिया का अन्त नहीं आता। इसलिये माया के अथाह समुद्र को तैर कर किनारे लगना असम्भव माना जाता है। गुरु अर्जुन साहिब जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिये, प्रश्न पूछते हैं : 'त्रैगुण माइआ ब्रहम की कीन्ही कहहु कवन विधि तरीऐ रे।' फिर आप ही जवाब देते हैं : 'घूमन घेर अगाह गाखरी गुर सबदी पारि उतरीऐ रे' (म.५,४०४)। बेशक वह अथाह है, तैरने में इतना कठिन कि भँवर की तरह बार-बार एक ही स्थान पर गोते खिलाता जाता है, तो भी उसे गुरु के शब्द की सहायता से सहज ही पार किया जा सकता है। आपका ही एक और वचन है : 'सतिगुर सचा है बोहिथा

सबदे भवजलु तरणा' (म.३,७०)। इसके अलावा बच निकलने का और कोई तरीका ही नहीं : 'भवजलु बिन सबदै किउ तरीऐ' (म.१,११२५)। सारा संसार इस सत्य से अनजान है, इसलिये उसी भँवर में डूबता चला जा रहा है : 'नाम बिना जगु रोगि बिआपिआ दुबिधा डुबि डुबि मरीऐ' (म.१,११२५)।

प्रभु-मिलाप :

सांसारिक जीव पूजा-पाठ, जप-तप, व्रत, पुण्य-दान आदि कर्म करते हैं और बदले में धन-दौलत, मान-ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, सन्तान आदि प्राप्त करने की कामना करते हैं। कभी कोई निष्कामता की दिशा में छलांग लगायेगा तो वह स्वर्ग या बैकुण्ठ पर नज़र ठहरा लेगा। नहीं तो इच्छा मुख्य रूप से सांसारिक सुख भोगने की ही होती है। पर सच्चा सुख इन उपायों में से किसी के द्वारा नहीं मिलता क्योंकि : 'हउमै सभा गणत है गणतै नउ सुखु नाहि' (म.३,३६)। भोगों के रसिकों को आखिर उनके भोग ही ले डूबते हैं : 'बिखु की कार कमावणी बिखु ही माहि समाहि' (म.३,३६)। सच्चा, सम्पूर्ण और स्थायी सुख तो आत्मा को अपने घर, हरि के दर पहुँचकर ही मिलता है, और इसका साधन शब्द है : 'गुर सबदी हरि पाईऐ बिनु सबदै भरमि भुलाइ' (म.३,३६)। गुरु अमरदास जी अपने मन को सम्बोधित करते हुए फ़रमाते हैं : 'मन मेरे गुर सबदी हरि पाइआ जाइ। बिनु सबदै जगु भुलदा फिरदा दरगह मिलै सजाइ।'(म.३,६००)। हरि को पाने के लिये शब्द की कमाई करना आवश्यक है, पर अज्ञानी लोग वहमों और भ्रमों में भटकते हुए ऐसे कर्मों के भागी बन जाते हैं जिनके लिये दरगाह में सजाएँ भोगनी पड़ती हैं।

परमात्मा के दरबार में प्रवेश प्राप्त करने के लिये शब्द की मोहर-छाप लगना ज़रूरी है। इसलिये प्रभु के प्रेमी शब्द का अभ्यास करते हैं और इस तरह उसके साथ एक-रूप हो जाते हैं। जो कोई भी शब्द से मिल जाता है, वह परमेश्वर से भी मिल जाता है; इतना गूढ़ नाता है शब्द और परमेश्वर के बीच। वास्तव में परमेश्वर से मिलाप ही शब्द में मिल कर होता है : 'सबदि मिलै सो मिलि रहै जिस नउ आपे लए मिलाइ' (म.३,२७)। शब्द की कमाई करने से हौमैं मर जाता है और हौमैं के मरने पर परम ज्योति में समाने के लिये राह खुल जाती है : 'गुर सबदु सेवे सचि समावै विचहु हउमै मारे' (म.३, २४४)। मन एकाग्र होता है तथा अभ्यासी की वृत्ति ठहर जाती है, और तब उसके अन्तर में सहज ही अनहद शब्द रुनझुनकार या एक-रस संगीत के रूप में शोभायमान हो जाता है; शब्द ही

क्यों, पारब्रह्म परमेश्वर स्वयं आ बिराजता है :

सहजे आसणु असथिरु भाइआ।
सहजे अनहत सबदु वजाइआ।
सहजे रुण झुणकारु सुहाइआ।
ता कै घरि पारब्रहमु समाइआ। (म.५,२३७)

गुरु अमरदास जी का निजी अनुभव इस प्रकार है : 'नानक आपि मिलाइअनु पूरै सबदि अपार' (म.३,३२), अर्थात मुझे निरंकार प्रभु ने अपने पूरे और पार-रहित शब्द की सहायता से अपने में समा लिया है। मन में नामी (प्रभु) का निवास शब्द के साधन से होता है और शब्द की प्यास उस हृदय में पैदा होती है जो निर्मल हो :

गुर सबदी मनि नामि निवासु। नानक सचु भांडा जिसु सबद पिआस।
(म.३,१५८)

प्रियतम का आगमन :

प्रभु-परमेश्वर की उसके अन्दर धुर-दरगाह से बह रही जीवन-धारा के कारण ही जगत का दिल धड़क रहा है, वह जी रहा है। इसीलिये गुरु नानक साहिब उसे जगजीवन के रूप में याद करते हैं : 'हमरै घरि आइआ जगजीवनु भतारु' (म.१,३५१)। उस सचखण्ड के मालिक का हमारे अन्तःकरण में शब्द रूप में मौजूद होना जगजीवन का हमारे घर आना है।

सतगुरु इस घर आनेवाले भरतार के साथ आत्मा का विवाह दीक्षा द्वारा रचा देता है—उसे शब्द के साथ ऐसे जोड़कर जैसे विवाह के मंडप में वर-वधू के पल्लों को बाँधा जाता है : 'गुरूदुआरै हमरा वीआहु जि होआ जां सहु मिलिआ तां जानिआ' (म.१,३५१)। विवाह के फलस्वरूप सेज एक हो जाती है, अन्तिम मिलाप हो जाता है।

प्रभु को जाना जा सकता है अपनापन मिटाकर, उसके अन्दर समाकर, उस जैसा नहीं, बल्कि वही बनकर। इस तरह उसमें समा कर उसे जान लेने के बाद ही आत्मा रूपी कामिनी को यकीन आता है कि जिस शब्द रूपी पति का सतगुरु ने पल्ला पकड़ाया था, वह और इस सेज वाला कन्त (प्रभु) वास्तव में एक ही हैं।

शब्द से खाली :

नाम या शब्द के गुण और लाभ पर विचार करते हुए यह भुलावा पैदा हो सकता है कि शायद कई रास्तों में से इस एक रास्ते को अधिक आसान या

निश्चित होने के लिये सराहा गया हो ; औरों की तुलना में अधिक अच्छे मार्ग के रूप में इसकी सिफारिश की गई हो। पर ऐसा नहीं है। महापुरुषों ने स्पष्ट किया है कि सत्य की प्राप्ति का जो लक्ष्य जीव के सामने है, उसके लिये नाम या शब्द की शरण लिये बिना और कोई चारा नहीं। जो अभ्यासी कोई और लीक पकड़कर शब्द से विमुख हो जाते हैं, उनको कहीं आसरा नहीं मिलता, उनका खेल लोक और परलोक दोनों में हार का मुँह देखता है और उनकी बेसमझी के परिणाम-स्वरूप उनका जन्म-जन्मान्तरों में, योनियों में भटकना ऐसे ही व्यर्थ होता है जैसे किसी कौए का सूने घर में खाने के लिये कुछ ढूँढते फिरना :

सबदु विसारनि तिना ठउरु न ठाउ।
भ्रमि भूले जिउ सुंञै घरि काउ।
हलतु पलतु तिनी दोवै गवाए दुखे दुखि विहावणिआ। (म.३,१२३)

गुरु के शब्द को छोड़कर वे चाहे कोई भी साधन अपना लें, वासनाएँ उनका पीछा नहीं छोड़तीं और वे रातदिन तरह-तरह के संतापों में जलते रहेंगे :

गुर का सबदु विसारिआ दूजै भाइ रचंनि।
तिसना भुख न उतरै अनदिनु जलत फिरंनि (म.३, ७५५)

उनको मनुष्य की अमूल्य देह भी मिली पर न वे अपनी आँखों से सच का दीदार कर सके, न ही उसकी कोई भनक उनके कानों में पड़ी, न संसार में सुलभ पदार्थों में से महा-पदार्थ, हरि-रस, उनको चखने को मिला। इस प्रकार उनका यह जन्म ही व्यर्थ नहीं गया, आगे भी बार-बार यम की चौरासी लाख योनियाँ भोगना उनके लिये बाध्य हो गया :

सबदु न जाणहि से अंने बोले से कितु आए संसारा।
हरि रसु न पाइआ बिरथा जनमु गवाइआ जंमहि वारोवारा।
(म.३,६०१)

हम कृतघ्न :

परमेश्वर ने सभी जीवों के हृदय में उनके उद्धार के लिये शब्द के अनमोल अमृत की झड़ी लगाई है। पर वे इस ओर से बिलकुल बेखबर हैं, इसे ढूँढते ही नहीं।

विचारणीय बात है कि अगर कोई दाना हितैषी हमारे भले के लिये, केवल परोपकार के लिये, यत्नशील हो और हम उसकी ओर बिलकुल ध्यान न दें, कहीं और ही देखते रहें, किसी और ही की सुनते रहें तो क्या वह हमारे व्यवहार का

बुरा न मानेगा, हमसे नाराज़ न होगा ? बस इतना अन्तर है कि यत्नशील दाना पुरुष कोई पराया नहीं, हमारा सिरजनहार है, हमारा परमपिता है। इसलिये उससे हमें—अपनी सन्तान को—धोखा नहीं दिया जाता, हमें भुलाया नहीं जाता। वह हमारी कृतघ्नता को नज़र-अन्दाज़ करके अपनी अमृत-वर्षा में विघ्न नहीं डालता ; वह तो इस ओर से भी बेपरवाह है कि कोई उस अमृत को चखता भी है कि नहीं। और कोई न कोई भाग्यशाली उस अमृत से लाभ भी प्राप्त कर लेता है।

हरि-प्रभु कृपालु है, उसका इस बात से अनुमान लग सकता है कि उसका शब्द साल के हर मौसम में, हर महीने की हर तिथि और वार को, सुबह-शाम, हर समय सुना जा सकता है। जब भी किसी की रुचि हो, जब भी उसे समय मिले, सुन ले। चार घण्टे या दो, दस मिनिट या पाँच। उसे खुली छूट है, कोई बन्धन नहीं। अगर बिलकुल नहीं सुनता तो उसकी मर्ज़ी, शब्द तो निरन्तर जारी है। आज नहीं तो फिर कभी सही। हम उसकी ओर से बेमुख हो जाते हैं, वह हमारी ओर से बेमुख नही होता।

सोदर :

गुरु नानक साहिब उस स्थान को चित्रित करते हैं जहाँ बैठकर कर्तापुरुष अपने पैदा किये सब जीव-जन्तुओं की देख-भाल करता है : 'सो दरु केहा सो घरु केहा जितु बहि सरब समाले' (म.१,६) तो आपको उसकी एकमात्र पक्की निशानी का खयाल आता है : 'वाजे नाद अनेक असंखा।' वहाँ बड़ी ही विविधता में शब्द सुनाई देता है।

यह तो बात हुई सचखण्ड की। अगर प्रभु ने सचमुच कहीं बहुत दूर डेरा जमाया होता हो इस संसार में रह रहे उसके प्रेमियों को उसका पता कहाँ से मिलता, जबकि रज़ा उसकी यह थी कि हर जीवात्मा उसकी खोज करे और खोज करके उसे पा भी ले। तभी उसने खुद कष्ट उठा कर अपने और अपने जीवों के बीच की दूरी समाप्त कर ली, और उनके अन्तर में आ निवास किया। जैसे कोई परीक्षक किसी विद्यार्थी से प्रश्न पूछे और उसका उत्तर भी खुद ही बता दे।

पर मनुष्य शरीर खुद एक विशाल नगरी है, इसमें उस प्रभु को ढूँढा जाये तो कैसे ? इस प्रसंग में गुरु तेग बहादुर साहिब फ़रमाते हैं : 'पुहप मधि जिउ बासु बसतु है मुकर माहि जैसे छाई। तैसे ही हरि बसे निरंतरि घट ही खोजहु भाई' (म.९,६८४)। अर्थात वैसे तो वह काया के कण-कण में उसी प्रकार रचा हुआ है जैसे फूल में खुशबू या शीशे में परछाई, पर उसकी खोज एक ही स्थान में

करनी है–अपने अन्तर में। यहाँ भी, सचखण्ड की तरह, उसकी पहचान उसके शब्द से आती है, उस शब्द से जो प्रकाश के गुण से सुशोभित है ; ध्वनिपूर्ण तो है ही, प्रकाश भी करता है : 'मंदरि मेरै सबदि उजारा' (म.५,३८४)। जिस घट या हृदय का ज़िक्र किया गया है, उसका भाव दिल नहीं है, यह स्थान आँखों के पीछे भृकुटि के बीच में है। जैसा कि साहिब कहते हैं : 'तेरे दुआरे धुनि सहज की माथै मेरे दगाई' (पृ.९७०)। तेरे शब्द की गूँज मेरे माथे में दमकती है। इसलिये घट या हृदय रूपी महल में पहुँचकर उस शब्द को आन्तरिक कानों से सुना जा सकता है, आन्तरिक आँखों से देखा जा सकता है। इन दो शक्तियों को सुरत और निरत भी कहा जाता है।

सन्त-सतगुरुओं की वाणी में नाम के सुमिरन का वर्णन बार-बार आता है, जैसे, 'रामु सिमरु पछुताहिगा' (कबीर, ११०६) या 'राम सिमरि राम सिमरि इहै तेरे काजि है' (म.९, १३५२) और 'तिल' का नाम के अभ्यास में महत्वपूर्ण स्थान है। सुमिरन होता है, हम जानते ही हैं, 'स्मरण' या याद करना, और उसके लिये वृत्ति का एकाग्र होना आवश्यक है। अगर केवल मुँह से 'वाहिगुरु' 'वाहिगुरु' करते जायें और मन अपने कारोबार, जमीनों-जायदादों के लेखे में व्यस्त रहे या सगे-सम्बन्धियों, यारों-दोस्तों से सम्बन्धित उलझनों में, तो वाहिगुरु का सुमिरन कहाँ हुआ ? उससे क्या प्राप्त होगा ? इसीलिये गुरु अमरदास जी ने फ़रमाया था :

राम राम सभु को कहै कहिऐ रामु न होइ।
गुर परसादी रामु मनि वसै ता फलु पावै कोइ। (म.३, ४९१)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियों के विषय हैं, और मन अक्सर उनमें ही फैला रहता है–कानों, आँखों आदि नौ गोलकों या द्वारों के मार्ग से। 'मनु खिनु खिनु भरमि भरमि बहु धावै' अगर दुधारु पशु पराये खेत में जा घुसे तो उसे वहाँ से निकाल लेने पर सन्तोष नहीं कर लिया जाता, उसे दूसरी फसलों को उजाड़ने या बर्बाद करने से भी रोकना पड़ता है। इसलिये जिज्ञासु को चाहिये, अपने मन को 'धावति राखै ठाकि रहाए' (म.१, १३४३) तथा 'धावत वरजे ठाकि रहाए' (म.३, १५९)। सवाल पैदा होता है कि उस भटकते हुए को रोककर फिर कहाँ लाना है ; फिर भटकते से हटाकर, रोककर कहाँ रखना है ? हम हाकी के खेल में देखते हैं, जब 'पेनल्टी कार्नर' मिलता है, गेंद मैदान के एक कोने से 'डी' की लाइन पर पहुँचाई जाती है, अगला खिलाड़ी उसे अपने स्थान पर रोकता है और

फिर रुकने के स्थान से चोट मार कर वह गोल में फेंकता है। उसी प्रकार मन को नौ द्वारों से वापस लाकर खड़ा किया जाता है, आँखों से ऊपर भ्रकुटियों के बीच, और फिर वहाँ नाम या शब्द की कमाई द्वारा उसे ऊपर की ओर भेजा जाता है, सचखण्ड की दिशा में।

दीवार घड़ी का पेंडुलम दायें-बायें घूमता रहता है, पर जब मशीन की हरकत बन्द हो जाती है, वह बीच के केन्द्र में रुक जाता है। यह स्थान पेंडुलम का घर कहा जा सकता है, उसके भटकने से हटकर विश्राम की जगह। जब गुरु रामदास जी कहते हैं : 'मनु खिनु खिनु भरमि भरमि बहु धावै तिलु घरि नही वासा पाईऐ' (म.४, ११७९) तब मन की यही शिकायत कर रहे हैं कि वह अपने घर, 'तिल' वाले स्थान पर क्यों नहीं ठहरता, इन्द्रियों के रसों और स्वादों में ही क्यों रचा रहता है। इसी तिल के विषय में गुरु नानक साहिब ने जपुजी में कहा है : 'तीरथ तप दइआ दत दान। जे को पावै तिल का मान' अर्थात् जिस किसी को तिल पर स्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया, समझ लो उसे तीर्थ-यात्रा, तप, दान आदि सब पुण्य-कर्मों के फल अपने आप मिल गये। अगर मन आँखों के बीच निह-संकल्प होकर सुमिरन में लगेगा तो शब्द-धुन सुनाई देगी, ज्योति का प्रकाश दिखाई देगा और इनकी सहायता से अपने निज-स्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति होगी, प्रभु से मिलाप का अवसर मिलेगा।

शरीर एक प्रकार का किला है, जिसमें दस द्वार खुलते हैं। नौ संसार की ओर खुलते हैं, दसवाँ सचखण्ड की ओर। यह दसवाँ द्वार कर्तापुरुष परमात्मा ने केवल छिपाकर ही नहीं रखा, वज्र के किवाड़ों से बन्द भी किया हुआ है। इसे खोलने की केवल एक युक्ति है, शब्द-अभ्यास :

नउ दरवाजे काइआ कोटु है दसवै गुपतु रखीजै।
बजर कपाट न खुलनी गुर सबदि खुलीजै। (म.२, ९५४)

प्रभु-परमेश्वर से प्रेम करने का एक बुनियादी ढंग है। वह यह कि जिस जीवात्मा को वह अपनी कृपा-दृष्टि से कृतार्थ कर दे, अपने गले लगा ले, वह इस प्रकार बख्शे जाने का ढिंढोरा नहीं पीटेगी, किसी सूरत में भी अपने प्रियतम को नहीं छोड़ेगी। इसलिये जब भी कोई अभ्यासी इस प्रेम-रस का स्वाद चख ले, वह अपने होंठ सी लेता है, कभी इस बारे में ज़बान नहीं खोलता। नामदेव जी कहते हैं :

जिनि हरि पाइओ तिन्हहि छुपाइओ। (नामदेव, ७१८)

और कबीर साहिब ने कहा है :

राम पदारथु पाइ कै कबीरा गांठि न खोल्ह। (कबीर, १३६५)

भाई गुरदास निश्चित ही अपूर्व कमाई वाले उच्च कोटि के सिख थे, गुरु साहिबान के अनुज भी ; फिर भी वे नम्रता के पुंज थे तथा आदर्श श्रेणी के आज्ञा-पालक। इसलिये वे कोई गुस्ताखी या अवज्ञा करने की भूल नहीं कर सकते थे। इसीलिये उनकी रचना में जब भी उच्च मण्डलों के अनुभव का वर्णन आया है, इशारों के रूप में आया है, खोलकर नहीं। आप अपने अट्ठाइसवें कबित में लिखते हैं :

शबद सुरति लिव गुरसिख संधि मिले
ससि घरि सूर पूर निज घरि आइ है।
उलटि पवन मन मीन त्रिबैनी प्रसंग
त्रिकुटी उलंघि सुख सागर समाए है।

इस वचन की व्याख्या करते हुए ज्ञानी नरैणसिंह ने कहा है :

इस कवित्त में गुरु-शिष्य सम्प्रदाय की सुमिरन की युक्ति—जिसे कि आजकल के गुरु-सिक्ख छोड़ते जा रहे हैं, या यों कहें कि सहज योग का तरीका या अजपा जाप के अभ्यास का वर्णन किया है :

"अभ्यासी पुरुष अमृत वेले (प्रातःकाल) स्नान आदि क्रिया से निवृत्त होकर, कोई नरम आसन बिछाकर पालथी मारकर बैठ जाये। जिस आसन (बैठक) में तकलीफ न हो, उस बैठक में बैठकर मन को एकाग्र करो, जब मन ठहर गया तो एक प्रकार का शब्द सुनाई देगा, वह शब्द कोई स्पष्ट नहीं होता, केवल साँ-साँ या घूँ-घूँ की ही आवाज़ मालूम होती है, उस शब्द को सुनने के लिये सुरत जोड़ दो, पर यह याद रखना कि जब आसन पर बैठो तो पीठ मुड़नी नहीं चाहिये, दोनों जांघों पर अपनी दोनों हथेलियाँ सीधी टिकानी चाहियें, ठोडी को छाती से चार अंगुल की दूरी पर अडोल रखना चाहिये ; जब शब्द सुनाई देने लगे तो सुरत को शब्द के सुनने में जोड़ देना चाहिये और आँखों की नज़र को भ्रकुटियों के बीच के स्थान में स्थिर रखना चाहिये, इस कर्म का नाम 'सबद सुरति संधि मिले' कहा है।"

आध्यात्मिक मार्ग वालों के लिये तिल विशेष अर्थ रखता है, क्योंकि जब वे सफलता की दिशा में चलते हैं तो अपना पहला कदम इस ठिकाने पर वृत्ति एकाग्र करने के रूप में उठाते हैं। जब सतगुरु की शिक्षा के अनुसार किये नाम के

अभ्यास के फलस्वरूप शब्द-धुन प्रकट होती है तो ज्योति का प्रकाश दिखाई देने लगता है, तब जिज्ञासु का यकीन पक्का हो जाता है कि उसकी प्रेम-याचना प्रियतम के द्वार पर स्वीकार हो गई है, क्योंकि शब्द उसकी अपनी ही अकथ-कथा होती है और ज्योति उस परम ज्योति की अपनी ही धारा। इस अनुभव से बिना रोक-टोक प्रसन्नता प्राप्त होती है, इतनी अधिक कि उसका वर्णन करने के लिये शब्द नहीं मिलते।

भाई गुरदास कहते हैं कि किसी अभ्यासी के हृदय में ज्योति का प्रकाशित होना एक बहुत अचरजपूर्ण घटना होती है और इस प्रकाश से तिल का स्थान जगमगा उठता है ; तब उसकी शोभा हैरान कर देनेवाली सीमा तक बढ़ जाती है :

दरशन जोति को उदौत मै
ता मै तिल छबि परमदभूत छबि है। (१००-१४०, ९१)

ज्ञानी नरैनसिंह अपनी टीका में लिखते हैं : गुरुवाणी में जो 'तारा चड़िआ लंमा को नदर निहालिआ राम' कहा है। उसी तारे का नाम यहाँ तिल कहा है।" (९१)।

सतगुरु की दया-मेहर द्वारा ज्योति प्रकट हुई तो उससे तिल की शोभा का कोई पारावार नहीं रहा और उसकी दीप्ति से भ्रम में डूबी करोड़ों चकवियाँ चन्द्रमा से विमुख हो गईं, उसकी पवित्रता की तुलना में करोड़ों गंगा (सुरसरी) का अहंकार टूट गया :

किंचत कटाछ क्रिया तिल की अतुल शोभा
सुरसरी कोटि मान भंग धिआन कोक को। (२१३, १३३)

प्रभु-प्रियतम के नेत्र की पुतली में जो छोटा-सा श्याम वर्ण का (काला) तारा है, यह तिल मानों उस तारे का ही प्रतिबिम्ब है, और एक शुभ-शकुन से पूर्ण तिलक की तरह पूरी त्रिलोकी को भाग्यशाली बना रखा है :

प्रीतम की पुतरी मै तनिक तारिका सिआम
ता को प्रतिबिंब तिलकु त्रिलोक को। (२१३, १३३)

इस प्रकाशवान तिल से जो शोभा प्राप्त हुई है, उसके सामने दूसरी अनेक तरह की महानता, सुन्दरता फीकी पड़ गई हैं। स्पष्ट है, जिस सतगुरु की दया-दृष्टि ने यह करामात करके दिखाई है, वह साधारण इन्सान नहीं, परमेश्वर का सगुण रूप है :

एक तिल कै अनेक भांति निह-क्रांति भई
अबिगति गति गुर पूरन ब्रहम है। (१०१-१४१, १२)

उक्त शोभा का अनुमान लगाने के लिये न कोई तराजू है, न बाट, न कोई तोलनेवाला, वह अन्त-रहित है, अपरम्पार है :

तिल की अतुल शोभा तुलत न तुलाधार
पार कै अपार न अनंत अंत पाए है। (२६९, १६६)

उसी तिल के बारे में भाई साहिब और फ़रमाते हैं :

उसतति उपमा महातम महिमा अनेक
एक तिल कथा अति अगम अगम है।
बुधि बल बचन बिबेक कउ अनेक मिले
एक तिल आदि बिसमाद कै बिसम है। (१०१-१४१, १२)

तब समझो कि हम उसके साथ अपनी कलम द्वारा इन्साफ कर पाने की सामर्थ्य की ओर से पूरी तरह हार मान लेते हैं। शब्द और ज्योति का बख्शा, अनेक बड़ाइयों, गुणों, मण्डलों का धारण करनेवाला यह तिल मन, बुद्धि, तर्क, भाषा आदि किसी की भी पहुँच से अतीत है। इतना मानने के बाद कुछ और कहने-सुनने की ज़रूरत नहीं रह जाती।

कबीर साहिब इस तिल के स्थान को मुक्ति का द्वार कहते हैं :

कबीर मुकति दुआरा संकुड़ा राई दसवै भाइ।
मन तउ मैगलु होइ रहा निकसिआ किउ करि जाइ।
(कबीर, ५०९)

और गुरु अमरदास भी :

नानक मुकति दुआरा अति नीका नान्हा होइ सु जाइ।
हउमै मनु असथूलु है किउ करि विचु दे जाइ।
(म.३, ५०९)

तथा :

नउ दरवाजे दसवै मुकता अनहद सबदु वजावणिआ। (म.३, ११०)

विषय-वासनाओं का कार्य पूरा करनेवाले नौ दरवाज़े जीवात्मा को आवागमन का कैदी बनाये रखते हैं, जबकि दसवाँ उसको मुक्ति का अधिकारी बना देता है। इस स्थान की पहचान है वहाँ: अनहद शब्द का सुनाई पड़ना।

जहाँ परमेश्वर रहता है, वज्र कपाट के पार, वह घर है और जहाँ उस घर का

सफ़र शुरू होता है, वह उस घर की ड्योढ़ी ; सो यह स्थान है घर-दर :

घरु दरु मंदरु जाणै सोई। जिसु पूरे गुर ते सोझी होई।
(म.१, १०३९)

घरु दरु महलु सतिगुरू दिखाइआ रंग सिउ रलीआ माणै।
(म.३, ११३२)

उच्च मण्डलों की यात्रा के दौरान कौन-कौन से स्थानों से होकर जाना है, यह सन्त-सतगुरु ही जानते हैं, हमारी दुनिया के भूगोल में उनके नाम नहीं मिलते।

जिज्ञासु का मतलब तो बात को समझने से है, उसे चाहे किसी भी नाम की सहायता से समझा दिया जाये। किसी विद्वान ने कहा है :

"गुलाब तो गुलाब ही होता है, उसे चाहे किसी भी नाम से पुकारें।" हमारी बाहर की आँखें संसार की ओर नीचे खुलती हैं, आन्तरिक आँख ऊपर की ओर। इसलिये उपरोक्त स्थान को तीसरा तिल या शिव-नेत्र भी कहा जाता है। बृहत हिन्दी कोश (ज्ञान-मण्डल लिमटिड, वाराणसी) में तिल का एक अर्थ आँख की पुतली के बीच का बिंदु बताया है। यही भाव 'तिल' का गुरु साहिबान और भाई गुरदास की रचना में प्रत्यक्ष है।

हालाँकि बहुत से लोग ऐसे हैं जिनको सिर ढकने के लिये इंच भर स्थान भी अपना नहीं मिलता, जो कभी किसी पराई दुकान के छप्पर के नीचे रात काटते हैं, कभी सड़क के किनारे पड़े ड्रेन-पाइप में, या खुले आकाश के नीचे ही सड़क की कच्ची-पक्की पटरी पर। परन्तु बड़े लोगों के पास कई-कई मकान होते हैं, और वे भी अलग-अलग स्थानों पर। एक लखनऊ में है, जहाँ उसके कई कारखाने हैं, एक देहली में, जहाँ वह अपने कामकाज के सिलसिले में रोज़ चक्कर लगाता है, एक नैनीताल या मसूरी में, जहाँ वह गर्मियों की तपिश से बचने के लिये जाता है, एक-आध स्विट्ज़रलेण्ड या फ्रांस जैसे देश में बाहर भी हो तो कोई हैरानी की बात नहीं। फिर परमेश्वर तो बड़ों से बड़ा है, कौतुक करने वालों में महा-कौतुकी है। उसे अकेले सचखण्ड से क्या करना था ? उसने हर जीवात्मा की काया के अन्दर अपना महल बना लिया : 'घर ही विचि महलु पाइआ गुर सबदी वीचारि' (म.३,३०) रईसों की कोठियाँ तो एक को छोड़कर बाकी सब चौकीदारों के सुपुर्द सुनसान पड़ी रहती हैं, परमेश्वर अपने हर महल में बसता भी है : 'घटि घटि मै हरि जू बसै संतन कहिओ पुकारि' (म.९,१४२६)। जितने जीवात्माओं के घट

उतने ही उसके महल, और इन महलों की पहचान भी, सचखण्ड की तरह शब्द की 'नेम प्लेट' से होती है : 'मंदरि मेरै सबदि उजारा। अनद बिनोदी खसमु हमारा।' (म.५,३८४)। उसका महल हमारी पूजा का स्थान है। इसलिये उसे मन्दिर कहना ही उचित है।

'सबदि सलाही :

प्यार का रिश्ता निजी रिश्ता होता है चाहे प्यार हो, अपनी पत्नी से, पुत्र से, गुरु से या परमात्मा से। अगर प्यार सच्चा हो तो प्रियतम का सबकुछ प्यारा लगता है, गुण ही नहीं अवगुण भी। छोटे बच्चे की ज़बान तुतलाती है, वह जो शब्द बोलना चाहता है, ठीक तरह बोल नहीं पाता, उनका तोड़-तोड़ कर उच्चारण करता है, माता फिर भी उन अर्थहीन शब्दों पर कुर्बान होती है। प्रियतम का क्या कुछ प्रिय लगता है, प्रेमी ही जानता है, उसका रोम-रोम उसे जानता है; पर इसके बारे में उसे परायों के आगे, दूसरों के आगे ढिंढोरा पीटने की ज़रूरत नहीं होती। प्रियतम आँखों से ओझल हो तो वह याद आता है, उसकी बातें स्मृति में उभरती हैं, उसके गुणों की ओर ध्यान जाता है। इस याद से प्रेम का रंग और गहरा होता है, पक्का होता है, विरह की शक्ल ग्रहण कर लेता है। सीने से आहें निकलती हैं, आँखों से आँसू टपकते हैं, पर ज़बान चुप रहती है। याद दिल में होती है, प्यार दिल में पलता है, जुदाई दिल में खटकती है, विरह भी दिल में ही सहा जाता है, बिना दिखावा किये, बिना आँसू बहाये।

प्रभु से बिछुड़ी आत्मा भी मिलाप के लिये तड़पती है मन ही मन, अन्दर ही अन्दर।

प्रियतम की फोटो पास हो, उसका प्रेम-पत्र, रुमाल या कोई दूसरी निशानी पास हो तो प्रेमी उसे आँखों से लगाता है, हृदय से लगाता है। अलख, अगम प्रभु की एक ही निशानी है उसके प्रेमियों के पास, सबके पास उसका वही एक शब्द है। वे इसी निशानी के सहारे उसे याद करते हैं। इसी से जुड़कर उसकी सराहना करते हैं, उसके गुण गाते हैं।

गुरु अमरदास जी कहते हैं कि सच्चे (परमेश्वर) की प्रशंसा निर्मल नाद (अनहद शब्द) बजाकर की जानी है : 'अनदिनु हरि सालाहहि साचा निरमल नादु वजावणिआ' (म.३,११५)। आप एक अन्य स्थान पर कहते हैं : 'गुरसबदी सालाहीऐ हउमै विचहु खोइ' (म.३,३७), और इस प्रकार जीव सहज ही प्रभु प्रेम में रंग जाते हैं : 'गुरसबदी सालाहीऐ रंगे सहजि सुभाइ' (म.३,३२)। उनके कथन

के अनुसार उसके गुणगान का यही तरीका है : 'नानक सबदे हरि सालाहीऐ करमि परापति होइ' (म.३,६७)। गुरु नानक साहिब स्वयं इसी विधि से उसका गुणगान करते हैं : 'जिउ भावै तिउ राखहु हरि जीउ जन नानक सबदि सलाही जीउ' (म.१, ५९८)।

एक अन्य रुचिकर बात : परमेश्वर नाम का मालिक है इसलिये उसे नामी कहा जाता है : 'जो इसु मारे सु नामि समाहि' (म.३,२३८)। रज़ा वाला होने के कारण रजाई : 'हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि' (जपुजी)। हुक्म वाला होने के कारण हुकमी : 'हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई' (म.१,१)। और क्योंकि उसकी सराहना शब्द द्वारा की जाती है, इस कारण 'सबदि सलाही' : 'सबदि सलाही मनि वसै हउमै दुखु जलि जाउ' (म.१,५८)। 'हुक्मी', 'रजाई' की तरह उसका यह नाम भी गुरु नानक साहिब ने रखा है।

जो भी आत्मा शब्द में लीन हो जाती है, वह शब्द के वेग या धारा के साथ जुड़कर शब्द के स्रोत—परमात्मा—में लीन हो जाती है, क्योंकि वास्तव में शब्द और परमात्मा दो अलग-अलग इकाइयाँ नहीं, एक ही है। पर इस तरह शब्द या परमात्मा में लीन होने का मनोरथ जीव की निजी इच्छा से पूरा नहीं होता, उसकी पूर्ति प्रभु की दया पर निर्भर करती है : 'सबदि मिलै सो मिलि रहै जिस नउ आपे लए मिलाइ' (म.३,२७) या 'धुरि आपे जिना नो बखसिओनु भाई सबदे लइअनु मिलाइ' (म.३,११७७)।

जैसा कि हम देख चुके हैं यह शब्द बाहर से बजा कर नहीं सुनाया जाता, यह तो हर प्राणी के अन्दर हर समय धुनकारें देता रहता है। आवश्यकता है बाहर के नौ दरवाज़े बन्द करके (आँख, कान, नाक, मुँह और मल-द्वार) गगन की दसवीं गली में प्रवेश करने की : 'मूँदि लीए दरवाजे। बाजीअले अनहद बाजे।' (कबीर, ६५६)। हाँ, यह भी याद रखना ज़रूरी है कि शब्द प्रभु की दात है और प्रभु से जीव का सीधा सम्पर्क नहीं जुड़ सकता। इसलिये यह दात गुरु के माध्यम से बाँटी जाती है। जीव के अपने अन्दर बजते और गूँजते रहने के बावजूद वह खुद इसे नहीं सुन सकता। सतगुरु शब्द के अभ्यास की विधि बताता है और इस विधि के अनुसार अभ्यास करने पर अभ्यासी के हृदय में यह प्रकट हो जाता है :

पूरै सतिगुरि सबदु सुणाइआ। (म.३, २३१)
सतिगुरु दाता सबदु सुणाए। (म.३, २३२)

एहु सोहिला सबदु सुहावा।
सबदो सुहावा सदा सोहिला सतिगुरू सुणाइआ। (म.३, ९१९)

सतगुरु शब्द को प्रकट ही नहीं करता, सत्संगी के हृदय में वह पक्की तरह खुद ठहराता भी है: 'गुर का सबदु गुर थै टिकै होर थै परगटु न होइ' (म.३, १२४९)।

शब्द गुरु की रहमत या दया के बिना सार्थक होना तो दूर रहा, जीव के द्वारा अनुभव भी नहीं किया जा सकता इसलिये हर समय उसके अन्दर बजते रहने के बावजूद शब्द का वर्णन अक्सर गुरु के शब्द के तौर पर किया जाता है।

अकथ कथा, नाद, वाणी, कीर्तन आदि शब्द के ही अन्य नाम हैं।

जैसे-जैसे इसके अभ्यास में प्रगति होती है, शब्द का रंग पक्का होता चला जाता है। यह रंग कुसुंभे का कच्चा रंग नहीं होता, एक बार चढ़ता है तो मजीठ की तरह सदा के लिये चढ़ता है और अन्त तक साथ निभाता है। अर्थात्, केवल शरीर त्यागने तक ही आत्मा के अंग-संग नहीं रहता, बल्कि उसके अपनी यात्रा सम्पूर्ण करके परमात्मा में मिल जाने तक, उसके खुद परमात्मा बन जाने तक, उसकी बाँह थामे रखता है: 'गुर की दाति सबद सुखु अंतरि सदा निबहै तेरै नालि' (म.३, १२५९)

संक्षेप में:

संक्षेप में 'शब्द' (धुनात्मक नाम) से तात्पर्य अनहत या अनहद शब्द है, वह शब्द जो प्रभु का पैदा किया हुआ है और जो बिना किसी साज़, यन्त्र आदि की सहायता के, दिन-रात निरन्तर हो रहा है।

इस शब्द में—जोकि सत्पुरुष का अपना ही विस्तार है—ध्वनि के अलावा प्रकाश का भी गुण है और ये दोनों (आवाज़ और प्रकाश), आँखों के पीछे, भौंहों के बीच में, उस स्थान पर अनुभव किये जाते हैं जिसे घर-दर, मुक्ति का द्वार, तिल, शिव-नेत्र आदि नाम दिये गये हैं।

शब्द की ध्वनि को सुनना या उसकी ज्योति देखना केवल निजी उद्यम से सम्भव नहीं होता। इसके लिये किसी पूर्ण गुरु से दीक्षा (नामदान) ली जाती है, और बताई गई युक्ति के अनुसार इसका अभ्यास किया जाता है। नाम के सुमिरन में प्रगति होने पर शब्द प्रकट होता है और स्थिर हुआ शब्द, सुरत या आत्मा को उच्च आध्यात्मिक मण्डलों की ओर खींचने लगता है। फिर एक समय आता है जब आत्मा मन और माया के बँधन से मुक्त हो जाती है, अपने आपको

पहचान लेती है, अपने शब्द-स्वरूप गुरु में लीन हो जाती है और अन्त में उसकी दया-मेहर से सत्पुरुष में जा समाती है, उसी प्रकार जैसे प्रियतम सागर से बिछुड़ी जल की बूँद लहर में समाकर अपने मूल के साथ एक-रूप हो जाती है।

नाम या शब्द

नामै ही ते सभु किछु होआ बिनु सतिगुर नामु न जापै। (म.३, ७५३)

हरि हरि उतमु नामु है जिनि सिरिआ सभु कोइ जीउ। (म.४, ८१)

साहिबु सफलिओ रुखड़ा अंमृतु जाका नाउ। (म.१, ५५७)

तू जणाइहि ता कोई जाणै। तेरा दीआ नामु वखाणै। (म.५, ५६३)

हरि हरि नामु अमर पदु पाइआ हरि नामि समावै सोई। (म.४, ४४७)

हरि नामे नामि समाई जीउ। (म.४, १७५)

नामु तेरा सभु कोई लेतु है जेती आवण जाणी।
जा तुधु भावै ता गुरमुखि बूझै होर मनमुखि फिरै इआणी। (म.३, ४२३)

राम राम सभु को कहै कहिऐ रामु न होइ।
गुर परसादी रामु मनि वसै ता फलु पावै कोइ। (म.३, ४९१)

रामु रामु करता सभु जगु फिरै रामु न पाइआ जाइ।
अगमु अगोचरु अति वडा अतुलु न तुलिआ जाइ।
कीमति किनै न पाईआ कितै न लइआ जाइ।
गुर कै सबदि भेदिआ इन बिधि वसिआ मनि आइ।
नानक आपि अमेउ है गुर किरपा ते रहिआ समाइ। (म.३, ५५५)

नानक माइआ का मारणु हरिनामु है गुरमुखि पाइआ जाइ। (म.३, ५१३)

भगति खजाना भगतन कउ दीआ नाउ हरि धनु सचु सोइ। (म.३, ६००)

सुणि मन मेरे ततु गिआनु। (म.३, ४२३)
देवणवाला सभ बिधि जाणै गुरमुखि पाईऐ नामु निधानु। (म.३, ४२३)

नानक गुरमुखि नामु धिआए नामे नामि समावणिआ।
(म.३, ११७)

गुरु सतिगुरु बोहलु हरिनाम का।
वडभागी सिख गुण सांझ करावहि। (म.३, ५९०)
धंनु धंनु सो गुरसिख कहीऐ
जिनि सतिगुर सेवा करि हरिनामु लइआ। (म.३, ५९३)
धुरि खसमै का हुकमु पइआ विणु सतिगुर चेतिआ न जाइ।
(म.३, ५५६)

बिनु नावै सभ विछुड़ी गुर के सबदि मिलाए। (म.३, ५५९)
सरब धरम महि स्रेसट धरमु। हरि को नामु जपि निरमल करमु।
(म.५, २६६)

जिन सरधा राम नामि लगी तिन्ह दूजै चितु न लाइआ राम।
जे धरती सभ कंचनु करि दीजै बिनु नावै अवरु न भाइआ राम।
(म.४, ४४४)

पुंन दान जप तप जेते सभ ऊपरि नामु।
हरि हरि रसना जो जपै तिसु पूरन कामु। (म.५, ४०१)
बेद सासत्र जन धिआवहि तरण कउ संसारु।
करम धरम अनेक किरिआ सभ ऊपरि नामु अचारु।
(म.५, ४०५)

साथि न चालै बिनु भजन बिखिआ सगली छारु।
हरि हरि नामु कमावना नानक इहु धनु सारु। (म.५, २८८)
विणु नावै होरु सलाहणा सभु बोलणु फिका सादु। (म.४, ३०१)
पूजा कीचै नामु धिआईऐ बिनु नावै पूज न होइ। (म.१, ४८९)
हरि अंतरि नामु निधानु है मेरे गाविंदा।
गुरसबदी हरि प्रभु गाजै जीउ। (म.४, १७४)
मन मेरे गहु हरिनाम का ओला। तुझै न लागै ताता झोला।
(म.५, १७९)

सासत सिंमृति सोधि देखहु कोइ। विणु नावै को मुकति न होइ।
(म.३, २२९)

जिह मारग के गने जाहि न कोसा।
हरि का नामु ऊहा संगि तोसा। (म.५, २६४)
खिनु पलु हरिनामु मनि वसै सभ अठसठि तीरथ नाइ।
(म.३, ८७)

जतु सतु तीरथु मजनु नामि। (म.१, १५३)
हरि हरि नामु जा कउ गुरि दीआ। नानक ता का भउ गइआ।
(म.५, २११)

प्रभु कै सिमरनि मन की मलु जाइ।
अंमृत नामु रिद माहि समाइ। (म.५, २६३)
जिनि नाउ पाइआ सो धनवंता जीउ। (म.५, २१७)
नामु मिलै मनु त्रिपतीऐ बिनु नामै ध्रिगु जीवासु। (म.४, ४०)
नानक भाग वडे तिना गुरमुखा जिन अंतरि नामु परगासि।
(म.४, ४२)

अनदिनु जपउ गुरू गुर नाम। ता ते सिधि भए सगल कांम।
(म.५, २०२)

नउ निधि अंमृतु प्रभ का नामु। देही महि इसका बिस्रामु।
(म.५, २९३)

अंमृतु नामु तुम्हारा ठाकुर एहु महारसु जनहि पीओ। (म.५, ३८२)
जिन्हा न विसरै नामु से किनेहिआ।
भेदु न जाणहु मूलि सांई जेहिआ। (म.५, ३९७)
कूजा मेवा मै सभ किछु चाखिआ इकु अंमृतु नामु तुमारा।
(म.१, १५५)

कोटि बिघन तिसु लागते जिसनो विसरै नाउ।
नानक अनदिनु बिलपते जिउ सुंञै घरि काउ। (म.५, ५२२)
बिनु नावै सभ नीच जाति है बिसटा का कीड़ा होइ। (म.३, ४२६)
बिनु सिमरन है आतम घाती।
साकत नीच तिसु कुलु नही जाती। (म.५, २३९)
बिनु सिमरन जो जीवनु बलना सरप जैसे अरजारी। (म.५, ७१२)
किछु पुंन दान अनेक करणी नाम तुलि न समसरे। (म.१, ५६६)

अंमृत नामु सद मीठा लागा गुरसबदी सादु आइआ।
(म.३, ५५९)

मुखहु हरि हरि सभ को करै विरलै हिरदै वसाइआ।
नानक जिनकै हिरदै वसिआ मोख मुकति तिन्ह पाइआ।
(म.३, ५६५)

नानक नामु महा रसु मीठा गुरि पूरै सचु पाइआ। (म.१, २४३)
मन मेरे सदा हरि वेखु हदूरि।
जनम मरन दुखु परहरै सबदि रहिआ भरपूरि।
(म.३, ३४)

तेरा सबदु सभु तूं है वरतहि तूं आपे करहि सु होइ। (म.४, १४८)
परगटु सबदु है सुखदाता अनदिनु नामु धिआवणिआ।
(म.३, १२६)

आपे सतिगुरु आपि सबदु जीउ जुगु जुगु भगत पिआरे।
(म.३, २४६)

गुर की बाणी नामि वजाए। नानक महलु सबदि घरु पाए।
(म.३, ३६२)

दरि वाजहि अनहत वाजे राम। घटि घटि हरि गोबिंदु गाजे राम।
(म.५, ५७८)

सचड़ा दूरि न भालीऐ घटि घटि सबदु पछाणोवा।
(म.१, ५८१)

सचै सबदि सचि समाए।
(म.३, ४२४)

सचड़ा साहिबु सबदि पछाणीऐ आपे लए मिलाए। (म.३, ५८२)
हरि की सेवा चाकरी सचै सबदि पिआरि। (म.३, ५१२)
नानक गुरमुख उबरे सचै सबदि समाहि। (म.३, ५१६)
साचे सचिआर विटहु कुरबाणु।
ना तिसु रूप वरनु नही रेखिआ साचै सबदि नीसाणु।
(म.१, ५९७)

हम सबदि मुए सबदि मारि जीवाले भाई सबदे ही मुकति पाई।
सबदे मनु तनु निरमलु होआ हरि वसिआ मनि आई।
सबदु गुर दाता जितु मनु राता हरि सिउ रहिआ समाई।
(म.३, ६०१)

सबदि मरहु फिरि जीवहु सदही ता फिरि मरणु न होई।
अंमृतु नामु सदा मनि मीठा सबदे पावै कोई।
(म.३, ६०४)

साहिबु मेरा सदा है दिसै सबदु कमाइ। (म.३, ५०९)
हरि की कथा अनहद बानी। (कबीर, ४८३)
गुझड़ा लधमु लालु मथै ही परगटु थिआ।
सोई सुहावा थानु जिथै पिरीए नानक जी तू वुठिआ।
(म.५, १०९६)

अंतरि खूहटा अंमृति भरिआ सबदे काढि पीऐ पनिहारी।
(म.३, ५७०)

पूरै सतिगुरि सबदु सुणाइआ।
त्रै गुण मेटे चउथै चितु लाइआ।
नानक हउमै मारि ब्रहम मिलाइआ। (म.३, २३१)
सबदि मेरै तिसु निजघरि वासा।
आवै न जावै चूकै आसा।
गुर कै सबदि कमलु परगासा। (म.१, २२४)
गुर कै सबदि रिदै दिखाइआ। (म.३, १२०)
निरमल सबदु निरमल है बाणी।
निरमल जोति सभ माहि समाणी। (म.३, १२१)
बाणी वजै सबदि वजाए। (म.३, १२२)
गुर कै सबदि सदा हरि धिआए एहा भगति हरि भावणिआ।
(म.३, १२२)

आपे करता करे कराए। आपे सबदु गुर मंनि वसाए।
सबदे उपजै अंमृत बाणी गुरमुखि आखि सुणावणिआ।
(म.३, १२५)

सबदु साचा गुरि दिखाइआ मनमुखी पछुताणीआ।
(म.१, २४२)

सबदे उपजै अंमृत बाणी गुरमुखि आखि सुणावणिआ।
(म.१, १२५)

सबदे सुहावै ता पति पावै दीपक देह उजारै। (म.१, २४३)

आगै जाति रूपु न जाइ। तेहा होवै जेहे करम कमाइ।
सबदे ऊचो ऊचा होइ। नानक साचि समावै सोइ।

(म.३, ३६३)

त्रै गुण माइआ ब्रहम की कीन्ही कहहु कवन बिधि तरीऐ रे।
घूमन घेर अगाह गाखरी गुर सबदी पारि उतरीऐ रे।

(म.५, ४०४)

सबदि तरे जन सहजि सुभाइ। (म.३, ३६१)
सतिगुर सचा है बोहिथा सबदे भवजलु तरणा। (म.३, ७०)
आवागउणु निवारि सचि राते साच सबदु मनि भाइआ।

(म.३, १२३४)

सबदि मिले से विछुड़े नाही नदरी सहजि मिलाई हे।

(म.३, १०४६)

गुर का सबदु काटै कोटि करम। (रामानंद, ११९५)
तनु सीतलु मनु सीतलु थीआ सतगुर सबदि समाइआ।

(म.५, २१५)

अनहद बाणी पाईऐ तह हउमै होइ बिनासु। (म.१, २१)
हउमै दूजा सबदि जलावै। (म.३, २३१)
सबदि मरै तिसु निज घरि वासा। (म.१, २२४)
जनम मरण भउ कटीऐ जन का सबदु जपि। (म.५, ५२०)
कालु जालु जमु जोहि न साकै साचै सबदि लिव लाए।

(म.३, ५६९)

नाम बिना सभु जगु बउराना सबदे हउमै मारी। (म.३, ५६८)
आपु गवाइआ ता पिरु पाइआ गुर कै सबदि समाइआ।

(म.३, ५६७)

करमु होवै सतिगुरू मिलाऐ। सेवा सुरति सबदि चितु लाए।

(म.१, १०९)

घटि घटि वाजै किंगुरी अनदिनु सबदि सुभाइ। (म.१, ६२)
घटि घटि जोति निरंतरी बूझै गुरमति सारु। (म.१, २०)
अनहद धुनी मेरा मनु मोहिओ अचरज ताके स्वाद।

(म.५, १२२६)

जो उपजै सो कालि संघारिआ।
हम हरि राखे गुर सबदु बीचारिआ। (म.१, २२७)
मेरा प्रभु है गुण का दाता अवगण सबदि जलाए। (म.३, ११३२)
सबदे नामु धिआईऐ सबदे सचि समाइ। (म.३, ६७)
माइआ मोहु गुरसबदि जलाए। (म.१, ४१२)
सहज गुफा महि आसणु बाधिआ।
जोति सरूप अनाहद वाजिआ। (म.५, ३७०)
गुर पूरे ते पूरा पाए। हिरदै सबदु सचु नामु वसाए।
अंतरु निरमलु अंमृतसरि नाए। सदा सूचे साचि समाए।

(म.३, ३६३)

सबदु सति सति प्रभु बकता।
सुरति सति सति जसु सुनता। (म.५, २८५)
अंमृत सबदु अंमृत हरि बाणी।
सतिगुरि सेविऐ रिदै समाणी। (म.३, ११९)

हुकमे वरतै अंमृत बाणी हुकमे अंमृतु पीआवणिआ। (म.३, ११९)
नानक ते मुख उजले धुनि उपजै सबदु नीसाणु। (म.१, २२)
जब लगु सबदि न भेदीऐ किउ सोहै गुरदुआरि। (म.१, १९)
गुर का सबदु अंमृतु है जितु पीतै तिख जाइ। (म.३, ३५)
सबदि मरै तिसु निज घरि वासा। (म.१, २२४)
सबदि मरै तिसु सदा अनंदु। (म.३, ३६४)
सबदि मरै मनु निरमलु संतहु एह पूजा थाइ पाई। (म.३, ९१०)
आवै न जावै चूकै आसा। गुर कै सबदि कमलु परगासा।

(म.१, २२४)

सतिगुरु खोटिअहु खरे करे सबदि सवारणहारु। (म.१, १४३)
सबद सुरति सुखु ऊपजै प्रभ रातउ सुख सारु। (म.१, ६२)
बिनु गुर सबदै मनु नही ठउरा। (म.१, ४१५)
विणु गुर सबदै जनमु कि लेखहि। (म.१, ४१६)
बिनु सबदै पिरु न पाईऐ बिरथा जनमु गवाइ। (म.३, ३१)

सतगुरु पुरखु न मंनिओ सबदि न लगो पिआरु।
इसनानु दानु जेता करहि दूजै भाइ खुआरु। (म.३, ३४)
गुर सबदी हरि पाईऐ बिनु सबदै भरमि भुलाइ। (म.३, ३६)
बिनु गुर सबद न छूटीऐ देखहु वीचारा।
जे लख करम कमावही बिनु गुर अंधिआरा।
अंधे अकली बाहरे किआ तिन सिउ कहीऐ।
बिनु गुर पंथु न सूझई कितु बिधि निरबहीऐ। (म.१, २२९)
सबदु विसारनि तिना ठउरु न ठाउ।
भ्रमि भूले जिउ सुंञै घरि काउ।
हलतु पलतु तिनी दोवै गवाए दुखे दुखि विहावणिआ।
(म.३, १२३)
बिनु सबदै को थाइ न पाई। (म.३, ३६३)
लख चउरासीह फेरु पइआ बिनु सबदै मुकति न पाए।
(म.३, ६७)
सतिगुर की परतीति न आईआ सबदि न लागो भाउ।
ओस नो सुखु न उपजै भावै सउ गेड़ा आवउ जाउ।
(म.३, ५९१)
सतिगुर नो सभु को वेखदा जेता जगतु संसारु।
डिठै मुकति न होवई जिचरु सबदि न करे वीचारु। (म.४, ५९४)
सबदु न जाणहि से अंने बोले से कितु आए संसारा।
(म.३, ६०१)
मन मेरे गुरसबदी हरि पाइआ जाइ।
बिनु सबदै जगु भुलदा फिरदा दरगह मिलै सजाइ। (म.३, ६००)
गुरि सबदु दृड़ाइआ परम पदु पाइआ दुतीअ गए सुख होऊ।
(म.५, ५३५)
गुर मंत्रड़ा चितारि नानक दुखु न थीवई। (म.५, ५२१)

मन-काल का सेवक

कबीर मनु जानै सभ बात
जानत ही अउगनु करै।
काहे की कुसलात
हाथि दीपु कूए परै।

—कबीर, १३७६

मन-काल का सेवक

हमारी आत्मा परमपुरुष का एक छोटा-सा कण है। जैसे परम आत्मा पूरी तरह स्वच्छ और निर्मल है, उस निर्मल सागर की इस बूँद में भी कोई त्रुटि या दोष नहीं।

राजाओं के शासन में उनके मन्त्री हाथ बँटाते थे। आत्मा भी अपने ढंग की शासक है और मन उसका कारोबार चलानेवाला प्रमुख कर्मचारी। यदि वह अपने कर्तव्य नेक-नीयती के साथ निभाये तो सब कार्य कुशलता से निपटते रहते हैं। पर मन ने अपने स्वामी का वफ़ादार न रहकर, उसके मूल शत्रु, काल की नौकरी स्वीकार की हुई है। इस षड्यन्त्र में आत्मा का यह विश्वासपात्र मन्त्री इन्द्रियों की सहायता से अनेक उलटे-सीधे कर्म करता चला जा रहा है, जो सबके सब निर्दोष आत्मा के खाते में दरज होते जा रहे हैं, और वह उन कर्मों के लिये तरह-तरह की सजाएँ भोगने की अधिकारी बनती जा रही है। नतीजा यह है कि वह चौरासी लाख योनियों के चक्रव्यूह से निकल नहीं पाती और उसका अपने प्रियतम से हुआ बिछोड़ा सही अर्थों में स्थायी बन गया है।

हमारी नानी, दादी की कई शिक्षाप्रद कहानियों में एक राजा होता था। जब वह वृद्ध हो जाता तो अपने योग्य पुत्र को बुलाकर कहता, बेटा मेरी आयु खत्म होनेवाली है और मुझे अब अपना बाकी समय भजन-सुमिरन में बिताना चाहिए। इसलिए मैं तीर्थ-यात्रा पर जा रहा हूँ। आज से राज्य की ज़िम्मेदारी तेरी होगी। तू जैसा चाहे वैसा कर। बस मेरी एक शिक्षा पल्ले बाँध ले कि किसी भी हालत में दक्षिण की ओर मत जाना।

इसके बाद हर कहानी एक ही तरह की होती है। वह यह कि चाहे पिता के रथ की लकीरें अभी मिटी नहीं थीं कि वह नेक शाहज़ादा मना की हुई दिशा की ओर ही अपना घोड़ा दौड़ाता चला जाता है।

सिरजनहार ने हमारे मन पर उन कहानियों से भी सख़्त एक पाबन्दी लगाई हुई है। इससे कहा गया है कि तेरे लिये काया के नौ दरवाजे वर्जित हैं, केवल एक खुला है। यह पाबन्दी केवल भूल या गलती से नहीं बल्कि बहुत सोच-समझकर लगाई गई है। क्योंकि मना किये हुए मार्गों पर आकर्षक फूलों की बहार खिली

रहती है, कदम-कदम पर सुन्दर रत्न, माणिक बिखरे पड़े मिलते है। पर उन फूलों की सुगन्धि में विष मिला रहता है, वे हीरे-मोती तन पर साँप और बिच्छुओं की तरह डंक मारने लगते हैं। यात्री उनमें से चाहे किसी भी मार्ग पर जाये, मौत उसकी हर मोड़ पर प्रतीक्षा करती रहती है। इसके विपरीत, दसवीं गली चाहे अति संकरी है, राई के दाने का दसवाँ भाग, पर वह एक अपूर्व मंज़िल पर पहुँचा देती है—आत्मा के निज घर, प्रभु के महल। पर बिगड़ा हुआ अंहकारी मन तो इस प्रकार फूला रहता है जिस प्रकार वह कोई हाथी हो। यह न उस तंग गली में से गुज़र सकता है, और न ही उस मार्ग पर चलने के बारे कभी सोचता ही है :

कबीर मुकति दुआरा संकुरा राई दसएं भाइ।
मनु तउ मैगलु होइ रहिओ निकसो किउ कै जाइ। (कबीर, १३६७)

हमारे निज-घर में बहुमूल्य हीरे, लाल, जवाहर मौजूद हैं, पर मन की नासमझी के कारण हम केवल कौड़ियाँ इक्टठी करने के लिए उजाड़ वीरानों में ढूँढते फिरते हैं—आज यहाँ, कल वहाँ। जब अपनी न सँभाली दौलत दूसरों द्वारा लूट ली जाती है, तब हम पछताने के सिवाय कुछ भी नहीं कर पाते :

धरि रतन लाल बहु माणक लादे मनु भ्रमिआ लहि न सकाईऐ।
(म.४, ११७९)

अपने ही चारों ओर घूमनेवाले लट्टू की तरह खुद को सबकुछ समझकर, अपने आपमें रुझे रहना मन की विशेषता है। वह न धर्म-पुस्तकों में लिखी बातों की ओर ध्यान देता है, न ही किसी महापुरुष के कथन की ओर। वह किसी की नहीं सुनता। उसकी इस मनमानी और खुदपरस्ती पर विचार करते हुए गुरु तेगबहादुर जी ने कहा है :

कोऊ माई भूलिओ मनु समझावै।
बेद पुरान साध मग सुनि करि
निमख न हरि गुन गावै। (म.९, २२०)

अगर मार्ग में कोई कुआँ आता हो, कीचड़ या कोई ऐसी रुकावट हो, तो मुसाफिर खुद ही देख लेता है। अगर नज़र काम न करती हो तो किसी और के बताने पर अपना बचाव कर लेता है। पर अगर कोई अन्धा भी हो और बहरा भी, उसका क्या होगा? वह तो हर हाल में गिरेगा ही :

इहु मनु अंधा बोला है किसु आखि सुणाए। (म.३, ३६४)

अगर कोई चाहे कि मैं मन की गति-विधियों को अपने वश में रखूँ, उसे

कुमार्ग पर न जाने दूं, तो उसे आसानी से सफलता प्राप्त नहीं होती। आप जानते हैं, कई चालाक जानवर ज़मीन में गड्डा या सुराख बनाते हैं और अपनी खोज करनेवाले को चकमा देने के लिये कई-कई फालतू सुराख बना लेते हैं। मन के विरुद्ध भी चौकसी करना कारगर नहीं होता। वह भी अपने खेल के लिये कितने ही चोर-सुराख बना लेता है।

कितने दुर्भाग्य की बात है कि मन जीव के सब कारोबार का कर्ता-धरता, थाली के पानी की भाँति डोलता ही नहीं रहता, बल्कि विश्वासघात भी करता रहता है। जैसे किसी किसान ने अपने खेत को सींचने के लिये बैल जोता हो और वह उलटे उसकी फसल को ही खाने लगे :

गावहि राग भाति बहु बोलहि इहु मनूआ खेलै खेल।
जोवहि कूप सिंचन कउ बसुधा उठि बैल गए चरि बेल। (म.४, ३६८)

मन का युगों से निरन्तर चलते रहना स्वभाव बन गया है। नित्य नई-नई इच्छाएँ करता रहता है, और उसे ऐसी इच्छाएँ विशेषकर पसन्द हैं जिन्हें पूरा करना कठिन ही नहीं असम्भव हो। जब तक उसकी कोई कामना पूरी नहीं होती वह उसके लिये तड़पता रहता है और अगर वह भाग्य से फलीभूत हो जाये तो उसकी सन्तुष्टि का स्वाद लेने की बजाय, पहले से भी दुर्गम किसी और कामना पर नज़र टिकाकर नई कोशिशें शुरू कर देता है। परिणामस्वरूप उन सफलताओं की खुशी तो दूर रही, अतृप्तियों का दुःख उसके जीवित पलों को नरक बना देता है। उसके इसी दुर्भाग्य का अनुभव करके गुरु रामदास जी हमें सचेत करने के लिये कहते हैं :

वसि आणिहु वे जन इसु मन कउ मनु बासे जिउ नित भउदिआ।
दुखि रैणि वे विहाणीआ नित आसा आस करेदिआ।
(म.४, ७७६)

ऐ परमात्मा के बन्दो! इस मन के परों को बाँध दो जोकि लहू के प्यासे बाज़ की तरह अपनी अनबुझी प्यास को मिटाने के लिए बेतहाशा भटकता रहता है और फलस्वरूप तुम्हारी ज़िन्दगी परछाइयों का पीछा करते हुए निरी यातना ही बनी रहती है।

वह चंचल भी बहुत है। गुरु नानक साहिब उसका वर्णन 'नारदु नाचै कलि का भाउ' (म.१, ३४९) कहकर करते हैं। नारद मुनि को तो शायद कभी ब्रह्मा जी के श्राप के कारण स्थान-स्थान पर भटकते रहने के बावजूद थोड़ा-बहुत

सुस्ताने का अवसर मिल ही जाता होगा, मन तो तनिक भी नहीं ठहरता। और ठहरे भी कैसे, पाँच विकार और दस इन्द्रियाँ उसे साँस नहीं लेने देतीं। गुरु-वाक्य है :

मनूआ दहदिस धावदा ओहु कैसे हरिगुन गावै।
इंद्री विआपि रही अधिकाई कामु क्रोधु नित संतावै। (म.३, ५६५)

मन रसों का, स्वादों का लालची है और उसका ध्यान हर समय उनकी अमिट प्यास बुझाने की ओर लगा रहता है। एक ओर उसके मौज-मज़े निरन्तर जारी रहते हैं और दूसरी ओर उसके वश पड़े जीव के कर्मों की पोटली पल-पल भारी होती चली जाती है, उसके पैरों की भारी बेड़ियों में और अधिक कड़ियाँ जुड़ती जाती हैं, और इस तरह विरह में व्याकुल आत्मा का अपने प्रियतम से मिलाप कठिन से कठिनतर होता चला जाता है।

रविदास महाराज के अनुसार मन विषय-वासनाओं से उसी तरह घिरा हुआ है जिस तरह कोई मेंढक कुएँ की दीवारों के अन्दर। उसे अपने तंग दायरे से बाहर की दुनिया का कोई पता नहीं होता :

कूपु भरिओ जैसे दादिरा कछु देसु बिदेसु न बूझ।
ऐसे मेरा मनु बिखिआ बिमोहिआ कछु आरापारु न सूझ।
(रविदास, ३४६)

जिस प्रकार गधे को मिट्टी में लेटना अच्छा लगता है, सूअर को कीचड़ में, इसी प्रकार मन विषयों की गन्दगी का कीड़ा है। जन्मों-जन्मों से अपने बुरे कर्म दोहराते हुए वह मलिनताओं में इतना डूब जाता है कि उसकी बुरी आदत का वर्णन करने के लिये कोल्हू का मैल साफ करनेवाले कपड़े का ख़याल आता है— कोल्हू में फेरे जानेवाले तेली के उस चीथड़े का जो बार-बार धोने पर भी साफ़ नहीं होता :

जनम जनम की इसु मन कउ मलु लागी काला होआ सिआहु।
खंनली धोती उजली न होवई जे सउ धोवणि पाहु।
(म.३, ६५१)

कई ढीठ अपराधी कैद का समय ख़त्म होने पर अपने दुराचारी साथियों से पक्का करके जाते हैं कि मेरा कम्बल इसी कोठरी में, इसी स्थान पर पड़ा रहने देना, मैं जल्दी वापस आऊँगा। इसी तरह मन की मन्दी करतूतों के कारण जीवात्मा का जन्म-मरण समाप्त नहीं होता और वह उनका हिसाब चुकाने के लिये बार-बार धर्मराज के सामने पेशियाँ भुगतता रहता है। यह प्रतिदिन की

बेइज़्ज़ती मन को बिलकुल शर्मिन्दा नहीं करती। न वह किसी सन्त-सतगुरु से सुमति लेता है, न जीव संसार के अग्नि-सागर से छुटकारा पाता है :

सुणि मन अंधे मूरख गवार।
आवत जात लाज नही लागै बिनु गुर बूडै बारो बार। (म.१, १३४४)

मन को बुरा कहकर ही बात ख़त्म नहीं होती, न्याय नहीं होता, क्योंकि वह पूरे समय एक ही रंग में नहीं रहता। उसे तोले से माशा और माशे से पंसेरी बनते एक पल नहीं लगता। जिस तरह की मौज हो, कभी एकदम त्यागी और विरक्त, तो कभी घटिया से घटिया विलास का कीड़ा, सुबह कर्ण के समान दानवीर, शाम को खुद हाथ में बर्तन लेकर फिर रहा भिखारी ; एक क्षण संसार का ढोर, उजड्ड, और अगले क्षण ज्ञानियों में महाज्ञानी। उसके इन बहुरूपों को ही ध्यान में रखते हुए गुरु नानक साहिब ने कहा है :

मनु जोगी मनु भोगीआ मनु मूरखु गवारु।
मनु दाता मनु मंगता मन सिरि गुरु करतारु। (म.१, १३३०)

मन बच्चे के समान शरारती है और उसी जैसा अड़ियल भी। बच्चे का ज्ञान इतना पका हुआ नहीं होता कि उसे दलीलें देकर अपना पक्षपाती बनाया जा सके। उसे अगर चूल्हे में से उछलकर गिरा अंगारा अच्छा लग जाये तो वह अवश्य उसे उठाने दौड़ेगा, और ऐसा करने से रोकने के लिये दी गई कोई चेतावनी उसे प्रभावित नहीं करेगी। उसे इस खतरनाक काम से हटाने का एकमात्र तरीका है, अंगारे से अधिक मनमोहक कोई चीज़ उसके ध्यान में लाना। किसी लम्बी रेखा को छोटा करने के लिये उसे मिटाना ज़रूरी नहीं होता। हो सकता है कि वह ऐसी सियाही से खींची गई हो कि आसानी से मिटाई ही न जा सके। ऐसी हालत में पहली रेखा के समानान्तर उससे बड़ी रेखा खींच दी जाये तो पहली रेखा अपने आप छोटी हो जाती है। हमारा मन इन्द्रियों के रसों के स्वाद का आदी है। इन रसों में अत्याधिक आकर्षण है और उनका चस्का मन को आजकल का लगा हुआ नहीं, जन्म-जन्मान्तरों पुराना है। इन्द्रियों के रसों का एकमात्र तोड़ है नाम का रस। जो एक बार इस रस को चख लेता है, वह फिर किसी अन्य रस को ज़बान पर नहीं रखता :

हरि बिनु कछू न लागई भगतन कउ मीठा।
आन सुआद सभि फीकिआ करि निरनउ डीठा। (म.५, ७०८)

आरसी बड़े आकार की दर्पण से जड़ी अंगूठी होती है। इसे पहननेवाला जब

चाहे, उसमें अपना मुँह देख ले। न ड्रेसिंग-टेबल के पास जाने की मजबूरी, न शृंगारदान ढूँढने की ज़रूरत। बस, आरसी का शीशा मैला नहीं होना चाहिए।

हमारा मन भी एक प्रकार की आरसी है, बहुत मूल्यवान आरसी ; इसमें झाँकने से अपने शुद्ध स्वरूप का दीदार हो जाता है—वह दीदार जिसके बिना प्रभु-प्राप्ति सम्भव नहीं होती। पर इस बुहमूल्य आरसी का लाभ कोई बिरला ही उठाता है, वह भाग्यशाली जिसे पूरे गुरु की अगुवाई मिल जाये, नहीं तो इस पर धूल ही जमी रहती है, और गन्दे शीशे में कुछ भी दिखाई नहीं देता :

इहु मनु आरसी कोई गुरमुखि वेखै। (म.३, ११५)

पथभ्रष्ट हुए मन को सही मार्ग पर लाने के लिये गम्भीरता के साथ कई प्रकार के प्रयत्न किये जाते हैं। कोई वेद, शास्त्र, पुराण, ग्रन्थ आदि पढ़ता है, इस आशा में कि इस किताबी ज्ञान से मन को समझ आ जायेगी। पर मन के कान पर जूँ नहीं रेंगती। इस तरह के वाचक ज्ञानी की दशा उस कलछी से बेहतर नहीं होती जो कितने ही स्वादिष्ट पदार्थों में अच्छी तरह डूबे रहने पर भी उनका स्वाद नहीं ले सकती :'कड़छीआ फिरन्हि सुआउ न जाणनि सुञीआ'। (म.५,५२१)। कोई इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये धूनियाँ तपता है या व्रत रखता है, इस भ्रम में कि जैसे सोने को भट्ठी में तपाने से उसका मैल जल जाता है, वैसे ही शरीर को दिये कष्ट उसकी मूल निर्मलता लौटा देंगे। पर हठ-कर्मों के केवल यही नहीं बल्कि अन्य हज़ार तरीके क्यों न अपनाये जायें, मन कभी भी वश में नहीं आता :

हठु निग्रहु करि काइआ छीजै। वरतु तपनु करि मनु नही भीजै।
(म.१, ९०५)

इसलिये घर-बार त्यागकर, माता-पिता और सम्बन्धियों को पीठ दिखाकर, घने जंगलों, ऊँचे पहाड़ों और अन्य ऐसे निर्जन स्थानों में छिपकर कोई परमार्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता। गुरु-वाक्य है : 'मारू मारण जो गए मारि न सकहि गवार' (म.३,१०८९)। परमेश्वर के द्वार का मार्ग भक्ति का मार्ग है और भक्ति मन पर नकेल लगाये बगैर नहीं हो सकती। इस मूल तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। जैसा कि गुरु अमरदास जी कहते हैं :

कहि कहि कहणु कहै सभु कोइ। बिनु मन मूए भगति न होइ।
(म.३, १२७७)

मन को मारना किसी जानी दुश्मन के सिर को कुचलने जैसा नहीं होता। वह तो मानो किसी विशेष धातु का शोधन करना है। सोने को विधिवत जला लें

तो उसकी राख नहीं बन जाती, बल्कि कई कठिन रोगों के निवारण के लिये अमूल्य औषधि बन जाती है।

हमारा शरीर मन के चलाये चलता है। उसके बिना यह अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। ड्राइवर न होगा तो गाड़ी कैसे चलेगी ? मन की सत्ता ही शरीर के चालक का कार्य निभाती है। इसकी अनुपस्थिति में तो वह जलाने या दफ़नाने के योग्य ही रह जाता है। मन से कैसे मुकाबला करना है, इस समस्या पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से कबीर साहिब पूछते हैं : भला ऐसा कौन-सा मुनि है जिसने अपने मन को मार लिया हो और यह भी बताओ कि अब वह मरे हुए मन से किसे तारेगा ? :

कवनु सु मुनि जो मनु मारै। मन कउ मारि कहहु किसु तारै।
(कबीर, ३२९)

आगे फ़रमाते हैं, कहने को तो सब कहते हैं कि जब तक मन ज़िन्दा है भक्ति कर पाना सम्भव नहीं :'मन अंतरि बोलै सभु कोई। मन मारे बिनु भगति न होई।' (कबीर,३२९) पर भेद भरी बात यह है कि जिस मन को मारने की सलाह दी जाती है, वही तो तीनों लोकों का मालिक है :'कहु कबीर जो जानै भेउ। मनु मधुसूदनु त्रिभवण देउ।' (कबीर,३२९)। यह ठीक है कि मन पाँच तत्वों के सूक्ष्म अंश से बना हुआ है, तो भी इसे इतनी घटिया वस्तु नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि शक्ति से आगे जाकर शिव (कल्याणस्वरूप) प्रभु तक पहुँचना इसके ज़रिये होता है : 'इहु मनु सकती इहु मनु सीउ। इहु मनु पंच तत को जीउ।' (कबीर, ३४२)। अन्त में अपनी बात के सारांश के तौर पर आप फ़रमाते हैं :'ममा मन सिउ काजु है मन साधे सिधि होइ' (कबीर,३४२)। हमें मन से बहुत गरज़ है। हमें सफलता इसके द्वारा ही मिलेगी। वास्तव में महापुरुष जब मन को मारने की शिक्षा देते हैं तो इससे उनका भाव होता है, मन को सुधारना, इसे गलत प्रवृतियों से मुक्त करके सही मार्ग पर लाना।

आजकल हर दूसरे दिन किसी उपग्रह के अन्तरिक्ष में छोड़े जाने का समाचार अखबारों में पढ़ने को मिलता है। इस उपग्रह को किसी विशेष ग्रह पर पहुँचना होता है (चन्द्र, मंगल या शुक्र आदि पर) और उसे उसकी मंज़िल पर पहुँचाता है एक शक्तिशाली रॉकेट। मन और आत्मा के अन्तर को समझाने के लिये आत्मा की तुलना उपग्रह से की जा सकती है, मन की रॉकेट से और ग्रह की परमेश्वर से। आत्मा प्रभु रूपी प्रियतम की विरहिणी है, परमेश्वर का निर्मल अंश है

युगों-युगों से उसके मिलाप के लिये तड़प रही है। इसके विपरीत, मन जड़ है, पाँच तत्वों का पुतला है, किसी गन्दे चीथड़े की तरह मैल में लिप्त है। जब कभी इसे किसी सन्त-सतगुरु से सुमति मिलती है तो यह काल का सेवक सीधे रास्ते चलने लगता है और अपना भला करने के साथ-साथ आत्मा की मनोरथ-सिद्धि में अमूल्य योगदान करता है।

इहु मनु करमा :

जैसे एक रथवान लगाम खींचकर अलग-अलग घोड़ों को अपनी आवश्यकता और रुचि के अनुसार चलाता है, वैसे ही मन कर्मेन्द्रियों को अलग-अलग कामों में व्यस्त रखता है। कई कर्म करने कुदरती तौर पर ज़रूरी होते हैं। उदाहरण के तौर पर, शरीर की रक्षा के लिये अपने पीछे पड़े पागल कुत्ते या फुँफकारते साँप के लिये ईंट, लाठी उठाना, या साधारण भूख-प्यास को तृप्त करने के लिये भोजन, जल आदि ग्रहण करना। हमारा मन कई और कर्म उनका स्वाद पाने के लिये भी करता है, जैसे चटपटी, मीठी वस्तुओं का आहार करना, नाच, रंग-तमाशे देखना, दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा सुनना आदि। इस प्रकार की गति-विधियों के लिये मन को 'करमा' अर्थात कर्म करनेवाला कहा गया है।

जहाँ एक दृष्टि से केवल ऐश और विलास के लिये अनुचित काम करना उसका घटिया होना सूचित करता है, वहाँ मन में एक ऐसा गुण भी है, जो उसकी उत्तमता की साक्षी भरता है। यह है उसका भले को बुरे से अलग करना, किसी कर्म को धर्म के अनुकूल या प्रतिकूल होने की दृष्टि से परखना। एक गरीब आदमी अपने अमीर मित्र के पास कुछ धन धरोहर रख जाता है, पर ज़रूरत पड़ने पर वह उसे लौटाता नहीं, तब हम कहते हैं, "उसका मन बेईमान हो गया"। दूसरी ओर, यह भी हो सकता है कि उसकी पत्नी कहे, "कोई लिखा-पढ़ी नहीं है, गवाह नहीं है, फिर इसे लौटाने का क्या मतलब ?" पर वह इस सलाह को स्वीकार नहीं करता और जवाब देता है, "मित्र से विश्वासघात करने को मेरा मन नहीं मानता।" इस प्रकार अच्छाई को बुराई पर श्रेष्ठता देने के लिये वह 'धरमा' अर्थात धार्मिक वृत्तिवाला कहलाता है : 'इहु मनु धरमा' (म.१,४१५)।

गुड़ तो गुड़ ही होता है, मिठास उसकी मूल विशेषता होती है। पर लोग अक्सर चोरी के गुड़ को ही मीठा मानते हैं। मुफ़्त में हाथ आई वस्तु मोल खरीदने के मुकाबले में मन को अधिक पसन्द आती है। मन का झुकाव निश्चित रूप से बुरे कर्मों की ओर ही रहता है। ऐसे कर्म धीरे-धीरे उसकी आदत बन

जाते हैं और किसी तकिया-कलाम गाली की भाँति, बहुत सोच-विचार के बिना, काफी हद तक अपने आप ही होते रहते हैं। इसलिये मन को कभी काल का एजेंट कहा जाता है, कभी मदमस्त हाथी कभी बेलगाम ऊँठ, और तो और कभी प्रेत भी।

मन पाँच तत्वों से बना होने के कारण जड़ है, और हर जड़ वस्तु की अपनी अलग-अलग कमज़ोरियाँ होती हैं। दूसरी ओर, यह चाहे जड़ हो, इसका सृजन तो चेतन ने किया है, इसलिये यह हर कण-कण में बुरा भी नहीं हो सकता। जब यह 'धर्मा' होकर कार्य करता है तो उस चेतन के कारण ही।

जब मन प्रेमपूर्वक अभ्यास में जुड़ जाये, ऐसी एकाग्रता, लगन और गम्भीरता से कि आत्मा उस हरि-प्रभु में जा मिले जिसके लिये वह जल से बिछुड़ी मछली की भाँति तड़प रही थी, तो वही सदा का शत्रु मन, जीव का प्रिय मित्र कहलाने का पात्र बन जाता है :

मन पिआरिआ जीउ मित्रा हरि प्रेम भगति मनु लीना।
मन पिआरिआ जीउ मित्रा हरि जल मिलि जीवे मीना। (म.५,८०)

चौथी पातशाही गुरु रामदास जी ने गउड़ी राग के एक श्लोक में (म.४, २३४) इसे मेरे प्रीतमा, मीत मेरा, मेरे प्राण, प्यारा, साजना जैसे लाड-भरे शब्दों से सम्बोधित किया है।

जब गुरु अमरदास जी कहते हैं : 'मन तूं जोति सरूपु है आपणा मूलु पछाणु' (म.३,४४१) तो वे अपने स्वयं को, अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को सम्बोधित करते हैं, उस मानवी इकाई को जिसमें मन के साथ बुद्धि और आत्मा भी शामिल हैं। यह सम्बोधन उसी तरह का है, जैसे हम कई बार खुद को कहते हैं, "उठ ओ मना, पराये धना।" सन्त-सतगुरुओं ने अपने वचनों को साधारण लोगों को आसानी से समझाने के लिये 'मन' शब्द को कई स्थानों पर उपरोक्त 'स्वयं' के अर्थ में प्रयुक्त किया है।

जब मन पूरी तरह शब्द-धुन से बँध जाता है, बिंध जाता है, तो प्रभु अपने आप सम्मुख होकर मिल जाता है :

गुरसबदी मनु बेधिआ प्रभु मिलिआ आपि हदूरि। (म.३,३७)

मन के बिंध जाने से भाव है कि शब्द मन के कण-कण में समा गया है, उसकी कोई तह या गहराई शब्द से रहित नहीं रही, उसकी ज्ञात, अर्द्ध-ज्ञात, अज्ञात सभी अवस्थाएँ शब्द से परिपूर्ण हो गई हैं। जब कान बींधे जाते हैं, सूई

उसे ऊपर से कुरेद कर नहीं रह जाती, उसके पार गुज़र जाती है। इसी प्रकार शब्द मन की किसी भी परत के लिये अजनबी या पराया नहीं रहता। द्रौपदी के स्वयंवर के समय अर्जुन को आकाश में एक केन्द्र पर घूमती मछली की आँख में तीर मारना पड़ा था, वह भी मछली को देखकर नहीं, नीचे तेल में उसकी परछाईं को देखकर। मन की चंचलता की कोई सीमा नहीं, इसलिये इसे बींधना उस मछली को बींधने के समान ही कठिन है।

बहते पानी में अपना चेहरा दिखाई नहीं देता, हिल रही सुई में धागा नहीं पिरोया जा सकता। जब तक मन पूरी तरह स्थिर न हो, प्रभु में लिव नहीं जुड़ती :

मनूआ असथिरु सबदे राता एहा करणी सारी। (म.१, ९०८)

मन को वश में करना बहुत बड़ी विजय है। जब एक देश की सेना अपने शत्रु के शस्त्रागार पर अधिकार कर लेती है तो केवल शत्रु के सिपाही ही उन हथियारों और गोला-बारूद से वंचित नहीं हो जाते, बल्कि वह कीमती सामान उसके अपने सिपाहियों को लैस करने के काम आने लगता है। इसी तरह जो वासनाओं का पागल किया हुआ मन विद्रोह करके आत्मा के मार्ग में खड्डे खोदता रहता था, एक सूझवान सवारी का रूप धारण कर लेता है और मार्ग की अगम घाटियों को पार करके आत्मिक मण्डल पर पहुँचने में अमूल्य सहायता करना शुरू कर देता है। गुरु नानक साहिब की दृष्टि में यह ऐसे हैं जैसे जिज्ञासु ने किसी किले, शहर या राज्य पर ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत पर विजय प्राप्त कर ली हो : 'मनि जीतै जगु जीतु' (जपुजी)। मन पर हुई जीत की महत्ता का इससे अधिक ज़ोरदार शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता था।

बेशक मन का रोग बड़ा गम्भीर है, आसानी से पीछा नहीं छोड़ता, पर वह असाध्य भी नहीं है। उसका इलाज सतगुरु अवश्य कर सकता है :

इसु मन कउ होरु संजमु को नाही विणु सतिगुर की सरणाइ।
सतगुरि मिलिऐ उलटी भई कहणा किछू न जाइ।
(म.३, ५५८)

सतगुरु की दया से मन का स्वभाव बदल जाता है, उसकी रुचि और प्रवृत्ति और की और हो जाती हैं।

प्रभु प्राप्ति के इच्छुकों के ज्ञान के लिये गुरु अमरदास जी फरमाते हैं :

तनु मनु धनु सभु सउपि गुर कउ हुकमि मंनिऐ पाईऐ। (म.३, ९१८)

पिता-परमेश्वर को रिझाने के लिये केवल अपने शरीर को उसके योग्य कर

देने से कार्य नहीं सँवरता, अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति उस पर न्योछावर कर देना काफ़ी नहीं, अपने मन को भी सतगुरु के चरणों में भेंट करना ज़रूरी है। और मन तभी अर्पण किया जा सकता है जब वह हमारी सम्पत्ति हो, हमें उस पर स्वामित्व प्राप्त हो। जब तक वह मोह-माया के हाथ बिका रहेगा : 'मनु माइआ कै हाथि बिकानउ' (रविदास,७१०), उस परायी सम्पत्ति को किसी और के सुपुर्द करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मन-माया या हौंमै की गाँठ को काटने का साधन गुरु-शब्द की कमाई है : 'गुण निधि गाइआ सभ दूख मिटाइआ हउमै बिनसी गाठे' (म.५, ४५४)। माया ने मन को अपने जाल में बाँध रखा है : 'मनु माइआ बंधिओ सर जालि' (म.१,८३१) और आत्मा के पतन का कारण माया का मन को विषय-विकारों के भँवर-जाल में डुबोये रखना है। उसकी जकड़ से बच निंकलने का तरीका गुरु अर्जुनदेव जी इन शब्दों में बताते हैं :

त्रै गुण माइआ ब्रहम की कीन्ही कहहु कवन बिधि तरीऐ रे।
घूमन घेर अगाह गाखरी गुर सबदी पारि उतरीऐ रे।
(म.५,४०४)

गुरु के उपदेश के अनुसार किये गये अभ्यास से मन द्वारा एकत्रित मैल दूर हो जाता है : 'सबदि रते से निरमले' (म.१,५८); उसके संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं : 'मन के तरंग सबदि निवारे' (म.३,१२३३); वह आकाश में पक्षी की तरह भटकते रहने के स्थान पर (मनु माइआ मनु धाइआ मनु पंखी आकासि), पाँच चोरों की लूटमार की ओर से निश्चिन्त होकर अपने नगर (त्रिकुटी) में आबाद होकर प्रशंसा प्राप्त करता है : 'तसकर सबदि निवारिआ नगरु वुठा साबासि (म.१,१३३०)। इसके फलस्वरूप आत्मा भी मोह-माया के बन्धनों से स्वतन्त्र हो जाती है, मानों किसी कैदी के पैरों की ज़ंजीरें काट दी गई हों, और वह ऊँचे आत्मिक-मण्डल—दशम द्वार—में प्रवेश करने के योग्य हो जाती है : 'गुरपरसादी त्रिकुटी छूटै चउथै पदि लिव लाई' (म.३,९०९)। उसके लिये मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं : 'सतिगुरि मिलिऐ त्रिकुटी छूटै चउथै पदि मुकति दुआरु' (म.३,३३)। जब मन ने गुरु की शरण में आकर काम आदि विकारों पर विजय प्राप्त कर ली, मैं-मेरी से मुक्त हो गया, प्रभु-भक्ति में लगकर शब्द-धुन में लिव जोड़ ली तो जीवात्मा को अपने आपकी पहचान आ गई और पूरी तरह शुद्ध हुआ आत्म-तत्व परम-तत्व में लीन हो गया :

गुरमुखि राग सुआद अन तिआगे।
गुरमुखि इहु मनु भगती जागे।
अनहद सुणि मानिआ सबदु वीचारी।
आतमु चीन्हि भए निरंकारी। (म.१,४१५)

मन-काल का सेवक

मन कुंचर पीलकु गुरू गिआनु कुंडा जह खिंचे तह जाइ।
नानक हसती कुंडे बाहरा फिरि फिरि उझड़ि पाइ।
(म.३, ५१६)

ना मनु मरै न कारजु होइ। मनु वसि दूता दुरमति होइ।
(म.१, २२२)

यह मनु नैक न कहिओ करै।
सीख सिखाइ रहिओ अपनी सी दुरमति ते न टरै।
मदि माइआ कै भइओ बावरो हरि जसु नहि उचरै।
करि परपंचु जगत कउ डहकै अपनो उदरु भरै।
सुआन पूछ जिउ होइ न सूधो कहिओ न कान धरै।
(म.९, ५३६)

एहु मनूआ सुंन समाधि लगावै जोती जोति मिलाई। (म.३, ९१०)
विरले कउ सोझी पई गुरमुखि मनु समझाइ। (म.१, ६२)
जोती जोति मिली मनु मानिआ हरि दरि सोभा पावणिआ।
(म.३, १२४)

मनु असाधु साधै जनु कोइ। अचरु चरै ता निरमलु होइ।
(म.३, १५९)

मन मरै दारू जाणै कोइ। मनु सबदि मरै बूझै जनु सोइ।
(म.३, १५९)

मनु कुंचरु काइआ उदिआनै।
गुरु अंकसु सचु सबदु नीसानै। राज दुआरै सोभ सु मानै।
(म.१, २२१)

मनमुखु भूला ठउरु न पाए। जम दरि बधा चोटा खाए।
(म.१, १०९)

मन हठि किनै ना पाइओ पुछहु वेदा जाइ। (म.३, ८६)
मन हठि किनै न पाइओ सभ थके करम कमाइ। (म.३, ५९३)
मनु मैगलु गुर सबदि वसि आइआ राम। (म.४, ५७६)
ऊंधे भांडै कछु न समावै सीधै अंमृतु परै निहार। (म.१, ५०४)
मनु माणकु निरमोलु है राम नामि पति पाइ। (म.१, २२)

हौमैं या अहं

जब लगु मेरी मेरी करै।
तब लगु काजु एकु नही सरै।
जब मेरी मेरी मिटि जाइ।
तब प्रभ काजु सवारहि आइ।

—कबीर, ११६०

हौंमैं या अहं

भाई काहनसिंह के 'गुरु-शब्द रत्नाकर महान कोश'' के अनुसार हौंमैं का अर्थ है 'मैं-मेरी' का भाव, अहं, अभिमान, खुदी।

जब पानी में बुलबुला उठता है थोड़ी-सी हवा सम्पूर्ण वायुमण्डल से अलग हो जाती है, और एक अलग अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। उसे अलग करनेवाली पानी की बारीक तह के फट जाने पर बुलबुला फिर वायु-मण्डल में समाकर उसके साथ एक हो जाता है। जीव वह बुलबुला है, हौंमैं-पानी की तह, आत्मा उसके अन्दर कैद हुई हवा और परमात्मा सम्पूर्ण वायु-मण्डल है।

जब तक इन्सानी बुलबुला स्वयं को वायु-मण्डल से अलग करनेवाली पानी की महीन तह समझता रहता है, उसके किये कर्म उसके निजी खाते में पड़ते जाते हैं और उनका फल भोगने के लिये उसका जन्म होता रहता है। जब गुरु का शब्द उसे ज्ञान करा देता है कि तू वायु-मण्डल का अंश है, पानी का बुलबुला नहीं, तो उसके कर्म समाप्त हो जाते हैं और वह जीवन-मुक्त हो जाता है। यही वह कूड़ का आवरण या झूठ का परदा है जिसका जपुजी साहिब में ज़िक्र आता है: 'किव सचिआरा होईऐ किव कूड़ै तुटै पालि।' (म.१, १)

अगर किसी गहरे रिश्ते का उदाहरण देना हो तो आमतौर पर पति-पत्नी का उदाहरण दिया जाता है। जिस प्रकार आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बताने के लिये गुरु रामदास जी ने 'धन-पिर' (पति-पत्नी) कहकर याद किया है: 'धन पिर का इक ही संगि वासा विचि हउमै भीति करारी।' (म.४,१२६३)। हौंमैं इतनी ज़बरदस्त दीवार है कि वह उन एक स्थान पर रहनेवाले पति-पत्नी को भी सदा के लिये अलग किये रखती है।

इस प्रकार का तीव्र कष्ट पैदा करनेवाले कलुष के लिये रोग का नाम ही सही बैठता है: 'हउमै रोगु महा दुखु लागा गुरमति लेवहु रोगु गइआ' (म.१, ९०६)। अपने कथन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिये गुरु अंगद साहिब हौंमैं को 'दीर्घ रोग' कहते हैं: 'हउमै दीरघ रोगु है दारू भी इसु माहि' (म.२,

४६६), और गुरु अर्जुन साहिब एक कदम और आगे बढ़कर 'महादीर्घ रोग' कहते हैं : 'अंहबुधि बहु सघन माइआ महा दीरघ रोगु' (म.५,५०२)। हौमैं ने अपनी बुराइयों के कारण केवल रोग का नाम ही नहीं, कितने ही और भी कु-नाम पाये हैं, जैसे कि 'बिखु' (विष) : 'हउमै बिखु मनु मोहिआ लदिआ अजगर भारी' (म.३,१२६०); मैल : 'हउमै मैलु लागी गुर सबदी खोवै' (म.३, १२३); गुबार : 'हउमै वडा गुबारु है हउमै विचि बुझि न सकै कोइ' (म.३, ५६०); पीड़ा : 'हउमै पीर गई सुखु पाइआ आरोगत भए सरीरा' (म.३,७७३); गले का फन्दा : 'हउमै माइआ के गलि फंधे' (म.१,१०४१); अग्नि : 'हउमै विचि सद जलै सरीरा' (म.३,१०६८); दुष्ट : 'इहु सरीरु माइआ का पुतला विचि हउमै दुसटी पाई' (म.३,३१); इत्यादि।

यद्यपि हौमैं आत्मा को परमात्मा से युग-युगान्तरों से, कल्पों से अलग रखता है, तो भी यह किले की दीवारों की तरह कोई खास मोटी दीवार नहीं है। आपने तितलियों के पंख देखे हैं, कितने बारीक होते हैं। बस उतनी ही मोटी है यह : 'भांभीरी के पात परदो बिनु पेखे दूराइओ' (म.५,६२४)। तितली का पंख कितना भी हलका हो, तो भी एक स्थूल वस्तु होता है, हौमैं तो वह भी नहीं है। वह तो केवल माया है, छल की करामात, मन-बुद्धि को चढ़ा एक विशेष प्रकार का खुमार : 'हउमै माइआ बिखु है मेरी जिंदुड़ीए हरि अंम्रितु बिखु लहि जाए राम' (म.४, ५३८)।

आम बात है कि हर बुरी चीज़ काल (शैतान) के लेखे में जोड़ी जाती है, और 'हौमैं' को कोई भी कभी प्रशंसनीय वस्तुओं में से एक नहीं गिनता। पर सच तो यह है कि इसकी रचना करनेवाला वह प्रभु आप है : 'हउमै बंधु हरि देवणहारा' (म.५,६८४)। यह बँटवारे की दीवार उसने आप खड़ी की है, जीवों में पृथकता का धोखा पैदा करनेवाला यह ज़हरीला मद उसने खुद चढ़ाया है : 'हउमै बिखु पाइ जगतु उपाइआ'(म.१, १००९)। जब नट अलग-अलग स्वभावों वाले पात्रों की रचना करता है तभी कोई खेल हो पाता है। खराबी प्रभु के खेल में नहीं, पात्रों के द्वारा उस खेल को यथार्थ मान लेने में है। किसी मामूली रोग के भी अक्सर एक से अधिक लक्षण होते हैं। ज़ुकाम में नाक बहता है और सिर दुखता है। तपेदिक में बुखार चढ़ता है और सिर में पीड़ा होती है। हौमैं तो महा दीर्घ रोग है, इसलिये इसके दो या तीन नहीं, पाँच लक्षण हैं।

इसके द्वारा डसा गया व्यक्ति ज़ाहिर करता है मैं दूसरों से अधिक चतुर हूँ या विद्वान या ज्ञानी या गुणवान या सूरमा या महान हूँ; कहने का भाव है दूसरों से बेहतर हूँ :

हम बड कबि कुलीन हम पंडित हम जोगी संनिआसी।
गिआनी गुनी सूर हम दाते इह बुधि कबहि न नासी।
(रविदास, ९७४)

इस प्रकार का विचार किसी वास्तविक गुण, प्राप्ति या योग्यता पर आधारित हो सकता है, और बिलकुल निर्मूल भी :

नानक ते नर असलि खर जि बिनु गुण गरबु करंत। (म.१, १४११)

अहंकार-ग्रस्त लोग अहं के प्रदर्शन में लगे रहते हैं ताकि सम्पूर्ण जगत उनके बड़े होने का सिक्का माने, जी भर के उनकी सराहना करे। धर्म-स्थानों पर हम प्रतिदिन दूध के समान सफेद पत्थरों की शिलाओं पर खुदा हुआ देखते हैं, 'फलाँ श्रीमान ने बीस, तीस या पच्चास रुपये की सेवा करवाई।' इस उदार सज्जन के खुदवाये काले अक्षर उस कीमती पत्थर की सारी सुन्दरता बर्बाद कर देते हैं, फिर भी वह पीढ़ियों तक अपनी दानवीरता का नाम कमाने की आस लगाये रखता है।

कितने लोगों का 'अहं' पल-पल कर मानों एक खास बड़ा फोड़ा बन जाता है, पीप से भरा फोडा, जिस पर आनेवाली ज़रा-सी रगड़ तक वह सह नहीं पाता। द्रौपदी से दुर्योधन को 'अन्धे का अन्धा' कहा गया, तो इतने से ही देख लें, कितनी मुसीबत खड़ी हो गई। दोनों ओर की सेना अठारह अक्षौहिणी (एक खास गिनती की सेना) मिट्टी में मिल गई। अगर किसी गागर में तेज़ाब डालकर रख दें तो वह गलेगा ही, यही दशा हर अहंकारी की होती है :

बडे बडे अहंकारीआ नानक गरबि गले। (म.५, २७८)

अहंकार :

शाह, बादशाह तानाशाह लाखों-करोड़ों की आबादी में से अपने जैसा अकेला होता है। उसके मन में इस पद की प्राप्ति का अहंकार पैदा हो जाना अस्वाभाविक नहीं। अपनी गद्दी सँभालने के बाद जल्दी ही उसे भ्रम हो जाता है कि यह हुकूमत बेटों और पोतों तक पक्की हो गई है। पर देखने में आता है कि तख्त कई बार घण्टों, मिनिटों में उलटा दिया जाता है और उसके मालिक को देश से निकाल दिया जाता है या किसी काली कोठरी में कैद कर दिया जाता है।

बल्कि कई बार कोई ऐसा सख़्त शासक आ जाता है कि अपने पूर्व-अधिकारी की हत्या ही नहीं उसकी सन्तान और वंश का भी नाश कर देता है, ताकि भविष्य में कोई यह कहनेवाला न उठ खड़ा हो कि वह गद्दी का सही अधिकारी है। इसलिये गुरु तेग बहादुर साहिब ने कहा है : 'सुपने जिउ धनु पछान काहे परि करत मानु। बारू की भीति जैसे बसुधा को राजु है।' (म.९,१३५२)। सम्पूर्ण धरती की हुकूमत भी बालू की दीवार से अधिक मजबूत नहीं होती।

कितने लोगों को अपना शरीर खास तौर पर सुन्दर और स्वस्थ दिखाई देता है। वे जब भी इसे देखते हैं, मस्ती से झूम उठते हैं। पर शरीर चाहे कितनी ही बढ़िया खुराक और कसरत से पाला गया हो, बहुत समय तक कायम नहीं रहता। हिरण्यकशिपु, रावण, जरासन्ध, जैसे लोग अजर-अमर रहने के वर प्राप्त कर चुके, पर समय आने पर उनमें से कोई भी काल का ग्रास बनने से न बच सका। दुर्योधन की वज्र-देह भी अन्त में नष्ट हो गई।

इस सत्य को हमारे मन में बैठाने के लिये महापुरुष बहुत कोशिश करते रहे हैं, पर अगर कोई समझे ही नहीं तो उनका क्या दोष? कबीर साहिब ने कहा है कि हमारे सुन्दर शरीर की या तो राख हो जाती है या इसे कीड़े खा लेते हैं। पानी से भरी कच्ची मिट्टी की मटकी से और क्या आशा की जाये : 'जब जरीऐ तब होइ भसम तनु रहै किरम दल खाई। काची गागरि नीरु परतु है इआ तन की इहै बडाई।' (कबीर,६५४)।

गुरु अर्जुन साहिब इस पाँच तत्व के पुतले को लाड-प्यार से पालने की व्यर्थता की ओर से सचेत करते हुए फ़रमाते हैं : 'रे नर काहे पपोरहु देही। ऊडि जाइगो धूमु बादरो एकु भाजहु रामु सनेही।' (म.५,६०९)। बादल और वह भी धुएँ का! उसी तरह नाशवान है यह शरीर भी। इस विषय पर रविदास जी का कथन है : 'इहु तनु ऐसा जैसे घास की टाटी। जलि गइओ घासु रलि गइओ माटी' (रविदास,७९४)। फ़रीद साहिब ने एक कोमलांगी स्त्री को अपनी दासी को गाली देते देखा। वह इसलिये नाराज़ थी कि उसकी आँखों में डाले जानेवाले सुरमे की पिसाई में कुछ कच्चापन रह गया था; और फिर उन ही नाज़ुक आँखों में एक दिन पक्षियों के छोटे बच्चे पलने लगे : 'फरीदा जिन लोइण जगु मोहिआ से लोइण मै डिठु। कजल रेख न सहदिआ से पंखी सूइ बहिठु।' (फरीद, १३७८)। जिस सिर पर आज बड़े चाव से पगड़ी बाँधी जाती है, सम्भव है कल कोई कौआ अपनी गन्दी चोंच को साफ करने के लिये उसका उपयोग कर रहा

हो : 'जिहि सिरि रचि रचि बाधत पाग। सो सिरु चुंच सवारहि काग' (कबीर, ३३०)। अपनी जवानी का अहंकार करनेवाले व्यक्ति को कभी तो सोचना चाहिए कि इसकी मियाद कितनी होगी। जब चलने का समय आता है तभी समझ आती है कि यह तो केवल आक की छाया ही थी : ' धनु जोबनु आक की छाइआ बिरधि भए दिन पुंनिआ' (म.१,६८९)। गुरु तेग बहादुर जी ने यही बात अधिक ज़ोर देकर कही है :

कहउ कहा बार बार समझत नह किउ गवार।
बिनसत नह लगै बार ओरे सम गातु है। (म.९,१३५२)

थोड़ी धूप लगी और आश्रय खत्म!

असल में सारा संसार ही माया का खेल है, अज्ञानी आँखों को भरमाने के लिये आकर्षक धोखा। इसे बिखरते ज़रा देर नहीं लगती। इसीलिये गुरु अर्जुन साहिब ने इसकी तुलना बादलों की छाया, फूस की आग और बाढ़ के पानी से की है :

माई माइआ छलु।
त्रिण की अगनि मेघ की छाइआ गोबिद भजन बिनु हड़ का जलु। (म.५,७१७)

गुरु तेग बहादुर जी ने पानी में से उठे बुलबुलों से इसकी असारता की तुलना की है :

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिनसै नीत।
जग रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत। (म.९,१४२७)

सभी धर्म ग्रन्थ समझाते हैं कि हमारा अहंकार से फूलना या अकड़-अकड़ कर चलना निरी मूर्खता है। शरीर नष्ट हो जानेवाली वस्तु है, माया जीते-जी भी छीनी जा सकती है और अन्त होने पर तो ज़रा भी साथ नहीं जाती, रिश्तेदार अपने हाथों से हमें चिता या कब्र में डाल आते हैं, राज-अधिकार मनुष्य से वह सब करवा देते हैं कि वह निश्चय ही नरकों का भागी बन जाता है। पर इस प्रकार की किसी भी शिक्षा से हमारा अपने अहं से छुटकारा नहीं होता। एक तो हम ऐसे बेस्वाद उपदेश सुनते कब हैं, और सुन भी लें तो एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते हैं और पहले जैसे ही पूरे लाट साहिब बने रहते हैं।

पर जब सतगुरु मिल जाता है तो इस दुःखदायी हौमैं से सहज स्वाभाविक ही छुटकारा मिल जाता है। सूर्य की उपस्थिति में पहुँचने पर मोमबती बिना यत्न

ही फीकी नहीं पड़ जाती ; उससे पहले अँधेरी कोठरी में वह अपने आपको चाहे कुछ भी समझती रही हो।

जो हालत अहंकारियों की होती है—अकड़ चाहे धन-दौलत की हो, सुन्दरता या जवानी की हो या किसी और बात की—वह फ़रीद साहिब से सुनें :

फ़रीदा गुरबु जिन्हा वडिआईआ धनि जोबनि आगाह।
खाली चले धणी सिउ टिबे जिउ मीहाहु।

(फ़रीद, १३८३)

वे ख़ुदा की रहमत से ऐसे वंचित रह जाते हैं, जैसे वर्षा के बाद ऊँचे टीले। इसलिये नीचे से नीचे जीवों की ओर भी तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। मिट्टी जो अत्यन्त निर्गुणी चीज़ समझी जाती है, पैरों तले रुँदते-रुँदते एक दिन हमारे सिरों पर सवार हो जाती है :

फरीदा खाकु न निंदीऐ खाकू जेडु न कोइ।
जीवदिआ पैरा तलै मुइआ उपरि होइ। (फ़रीद, १३७८)

परमेश्वर का मिलाप उसे प्राप्त होता है जो रास्ते में पड़े कंकड़ की तरह, कंकड़ ही नहीं मिट्टी की तरह नम्र हो जाये :

कबीर रोड़ा होइ रहु बाट का तजि मन का अभिमानु।
ऐसा कोई दासु होइ ताहि मिलै भगवानु।
कबीर रोड़ा हूआ त किआ भइआ पंथी कउ दुखु देइ।
ऐसा तेरा दासु है जिउ धरनी महि खेह।

(कबीर, १३७२)

गुरु अर्जुन साहिब ने भी अपने सुन्दर ढंग से उसी दीनता की शिक्षा दी है :

ऊचा चड़ै सु पवै पइआला।
धरनि पड़ै तिसु लगै न काला। (म.५, ३७४)

वे बहुत ऊँचे चढ़नेवाले ही होते हैं जिन्हें पाताल में गिरना पड़ता है। पहले से ही ज़मीन पर चले जा रहे दीन को किसी होनी का क्या डर है ?

लोभ :

मनुष्य को पेट भरने के लिये भोजन चाहिए, तन ढकने के लिये वस्त्र, सिर के ऊपर छत, सुख व आराम के लिये और वस्तुएँ, सेवाएँ, और इन सबको प्राप्त करने के लिये धन। कई ज़रूरतें तात्कालिक होती हैं और कइयों के पैदा होने की कल्पना कर ली जाती है। आज की ज़रूरत तो आवश्यक होती ही है, मन माँग-

करता है कि कल भी आने को ही है और परसों-तरसों को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। इस प्रकार धन तथा पदार्थ इक्ट्ठे करने का क्रम चल पड़ता है।

मनुष्य अपनी जीविका के लिये उद्यम करता है, वह सफल भी होता है, पर वह 'बस' या 'काफी' कहकर कहीं रुकता नहीं। उसकी 'मैं' की सन्तुष्टि ही नहीं होती : 'बहुतु दरबु करि मनु न अघाना' (म.५,१७९)। पेट की ज्वाला तृप्त हो जाती है, नीयत की नहीं होती : 'बिना संतोख नही कोऊ राजै' (म.५,२७९)। लोभी मनुष्य के लिये माया ज़रूरतें पूरी करने का साधन-मात्र नहीं रह जाती, ख़ुद उसकी ज़िन्दगी बन जाती है : 'लोभी का धनु प्राण अधारु' (म.५,९१४)। वह माया के लिये ही जीना शुरू कर देता है।

'मैं' का भाव जीव को अपने सिरजनहार से ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि से अलग कर देता है। वह अपने जैसे और अनेक जीवों से अपना मुकाबला करता है और पाता है कि मैं कइयों से बेहतर हूँ, कई मुझसे बेहतर हैं और इस तुलना से एक दौड़ शुरू हो जाती है।

एक विशेष व्यक्ति के पास हज़ारों रुपये हैं, पर उसका पड़ोसी लाखों का स्वामी है। सो उनके मन में स्वयं लखपति होने की कामना जाग उठती है। लाख जुड़ जाते हैं तो करोड़ों के पीछे चल पड़ता है, करोड़ों के बाद उच्चकोटि के पन्द्रह-बीस धनवानों पर नज़र जाती है और फिर अमीरी के पहले स्थान पर। सन्तोष नाम के पक्षी का किताबों में वर्णन मिल जाता है, पर वह धरती पर चलता फिरता कभी दिखाई नहीं देता।

उपरोक्त व्यक्ति का एक अन्य भाई महसूस करता है कि मेरी बस्ती बिलकुल गुणहीन है, इसके नाम की कोई कदर या कीमत नहीं, जबकि इसी शहर में ऐसी बस्तियाँ भी हैं जिनका वासी होना गर्व की बात मानी जाती है। अड़ोस-पड़ोस के अलावा मकान की अपनी हैसियत भी बड़ा अर्थ रखती है। हर कोई जानना चाहता है कि उसमें कितने सोने के कमरे (बेड-रूम) हैं, फर्श सफेद सीमेंट के हैं या साधारण, दरवाज़ों-खिड़कियों के लिये चीड़ और दयार का उपयोग किया गया है या बढ़िया बर्मा की सागवान का।

इसके अलावा सवारी, सवारी में अन्तर होता है। एक ओर ग़रीब लोगों को स्वयं धकेलने वाली साइकिल नसीब नहीं होती,दूसरी ओर धनवानों को अपने देश की बनी कार पर चढ़ने में बेइज़्ज़ती महसूस होती है। पदार्थिक मैदान की यह दौड़

ऐसी मनमोहक है कि इसमें हर कोई शामिल हो जाता है और पीछे रह जाना गवारा नहीं करता। आगे बढ़ो, और आगे, और अधिक आगे।

हम जानते हैं कि अलग-अलग खेलों के अपने-अपने नियम होते हैं, और हर खिलाड़ी उनमें से हर नियम का पाबन्द होता है। ऊपर बताये गये खेल का एक ही नियम है, और वह यह है कि जैसे भी हो आगे बढ़ते जाना। आम दौड़ों की कोई न कोई दूरी निश्चित होती है, सौ मीटर, हज़ार मीटर या कुछ किलोमीटर। वह दूरी पूरी करने पर धावक (वह जीता हो या हारा) दौड़ने की असुविधा से मुक्त हो जाता है। पर पदार्थिक दौड़ की पट्टी कहीं समाप्त नहीं होती, इसमें कहीं विश्राम नहीं आता। धावक का साँस फूल जाये, उसकी टाँगें काम न करें, वह चक्कर आने पर गिर पड़े, तब ही चाहे वह एक ओर हो जाये, नहीं तो दौड़ जारी रहती है, समाप्त नहीं होती, कहीं समाप्त नहीं होती।

आपके प्रतिद्वन्दी जूते पहनकर दौड़ते हैं, आप चाहे नंगे पैर दौड़ें। वे मैदान की पंक्तियों में रहते हैं, आप बेधड़क उनको उलाँघ करके दौड़ें। अगले धावक के दाईं ओर से आगे जायें या बाईं ओर से, एक को धक्का देकर आगे जायें या दूसरे को ठोकर मारकर, सब जायज़ है, ठीक है।

किसान गेहूँ काटते समय एक बार में एक मुट्ठी पौधे काटता है और फिर उन्हें एक ढेर में इक्ट्ठे करता जाता है। वह काटते-काटते एक ढेर से दूर चला जाता है तो नया ढेर लगाना शुरू कर देता है। ये छोटी-छोटी ढेरियाँ इक्ट्ठी होने पर एक बड़ा खलिहान बन जाती हैं। इसी प्रकार अन्धी हवस के बेमोल खरीदे गुलाम दिन और रात आर्थिक उन्नति के लिये खपते रहते हैं, और इसमें सफल होने के साथ जन्म-जन्मान्तरों में अनेक पापों, कुकर्मों के ढेर जोड़ते जाते हैं। इस तरह की इकट्ठी की गई दौलत के बारे में गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

पापा बाझहु होवै नाही मुइआ साथि न जाई। (म.१, ४१७)

और कबीर साहिब :

कबीर कउडी कउडी जोरि कै जोरे लाख करोरि।
चलती बार न कछु मिलिओ लई लंगोटी तोरि। (कबीर, १३७२)

इस प्रसंग में गुरु अर्जुन साहिब ने अपने विचार बड़ी सुन्दर और आलंकारिक भाषा में प्रकट किये हैं :

जिउ बिगारी के सिरि दीजहि दाम। ओइ खसमै कै गृहि उन दूख सहाम।
जिउ सुपनै होइ बैसत राजा। नेत्र पसारै ता निरारथ काजा।

जिउ राखा खेत ऊपरि पराए। खेतु खसम का राखा उठि जाए।
उसु खेत कारणि राखा कड़ै। तिसकै पालै कछू न पड़ै।
(म.५, १७९)

कोई बलवान व्यक्ति अपना सामान उठाने के लिये एक बेगारी को पकड़ लेता है। वह इस सेवा के लिये कोई मुआवज़ा या मज़दूरी देने के लिये बाध्य नहीं होता। बेगारी किसी बेज़बान पशु की भाँति वह बोझ बिना किसी उज्र या आपत्ति के उठाता है और उसे अपने जैसे दूसरे बेगारी तक पहुँचा देता है। उसकी मजाल नहीं होती कि वह सामान के मालिक से उसका नाम तक पूछे; इस प्रकार उसका किसी पर अहसान भी नहीं होता। हाथ का काम छूट जाने के कारण उसे दिन की रोटी भी नसीब नहीं होती। चौकीदार खेत की रखवाली करता है, पर इससे न खेत उसका बन जाता है और न पैदा हुई फसल। सपना खत्म होता है तो उसके साथ ही सपने में राज करनेवाले शासक की हुकूमत खत्म हो जाती है। मर-मर कर प्राप्त हुई दौलत पर लोभी के अधिकार की केवल इतनी ही वास्तविकता है।

फिर भी धन की भूख लोगों के वश में नहीं आती। कोई दूसरी पर तीसरी मंज़िल बनवा रहा है, कोई पड़ोसी का मकान खरीदकर अपना आँगन बड़ा करने में व्यस्त है। एक अकेले घर के लिये अलग खेल का मैदान कोई अजीब बात नहीं, अपने पालतू कुत्तों के मनोरंजन के लिये अलग स्नान-कुण्ड बनवाने वाले लोग भी संसार में मिल जाते हैं।

कनखजूरे की सौ टाँगें होती हैं, साँप की एक भी नहीं, तब भी वह साँप जितना तेज़ नहीं दौड़ सकता। उसके लिये इतनी अधिक टाँगों में तालमेल रखना मुसीबत बना रहता है। इसी प्रकार अधिक धन इकट्ठा करके सुखी नहीं हुआ जाता।

असल में, जीव का धरती पर आना उसी प्रकार है जिस प्रकार चिड़ियों, कौओं का किसी पीपल या बरगद के पेड़ के पत्तों में पल भर गुज़ारना। गुरु रविदास जी ने ठीक ही कहा है :

प्रानी किआ मेरा किआ तेरा।जैसे तरवर पंखि बसेरा।
(रविदास, ६५९)

पर इस कड़वे सच को कितने लोग समझ पाते हैं ?

मोह :

मैं के साथ मेरी का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जो कुछ भी इसके सम्पर्क में आता है यह इसे बाहों में भर लेती है। जिस क्षेत्र में जन्म लिया, वह 'मेरा देश' जिस स्त्री के गर्भ में आया वह 'मेरी माता', जिस कोठरी में पालन हुआ, परवरिश पाई, वह 'मेरा घर' बन गया। इसी प्रकार मेरी कौम, मेरा धर्म, मेरी सन्तान, मेरी सम्पत्ति हो गई। इन तरह-तरह की 'मेरी' का नाम मोह है।

जितनी अधिक 'मेरी' होगी, उतने ही अधिक बन्धन, उतने ही अधिक दुःख होंगे। मनुष्य समझता है कि पत्नी, पुत्र, परिवार, कार, रेफ्रीजिऐटर मेरी सम्पत्ति हैं। वास्तव में वह खुद उन सबकी सम्पत्ति होता है। बछड़ा खूँटे से बँधा होता है, खूँटा उसके साथ नहीं। देश का आर्थिक और राजसी संकट उसके रहनेवाले के सिर पर टूटता है। कोई सम्पत्ति छिनती या चली जाती है तो उसके मालिक के प्राण तड़पते और निकलते हैं। पिता को बुढ़ापे की बीमारियों ने घेर रखा है, तो खुद को मुसीबत, पुत्र परीक्षा में फेल हो गया या किसी से लड़कर चोट खा बैठा तो कष्ट खुद को होता है। उसे यह कभी समझ नहीं आती कि यह ज़मीन मुझसे पहले भी यहाँ थी और मेरे जाने के बाद भी यहीं रहेगी। सम्पत्ति को पहले कोई और भोगता रहा है, बाद में कोई और भोगेगा। माता-पिता मुझे यहाँ संसार में फँसे हुए ही छोड़ कर चले जायेंगे। बच्चे अपने हाथ से मुझे आग या मिट्टी के सुपुर्द कर देंगे :

मात पिता सुत बंध जन हितु जा सिउ कीना।
जीउ छूटिओ जब देह ते डारि अगनि मै दीना। (म.९, ७२६)

जिस पत्नी के साथ गाँठ बाँधकर अपने इष्ट के सामने रिश्ता कायम किया था, वह भी साथ छोड़ देगी :

देहुरी लउ बरी नारि संग भई आगै सजन सुहेला। (म.३, ६५४)

और तो और शरीर जिसे हम पूरी तरह अपना समझते हैं, वह भी अपना नहीं रहता :

जागि लेहु रे मना जागि लेहु कहा गाफल सोइआ।
जो तनु उपजिआ संग ही सो भी संग न होइआ। (म.९, ७२६)

वह तो मरने तक भी साथ नहीं देता। दाँत गिर गये, नकली लग गये, आँखों ने काम करना बन्द किया और ऐनक या लाठी आ गई, कान से सुनना बन्द हुआ तो बैटरी के बँधुआ हो गये।

हम रेलगाड़ी या बस से यात्रा करते हैं। कोई दूसरा यात्री हमारे पास आकर बैठ जाता है। वह हमें अच्छा लगता है, उसके साथ बातें करने में कुछ समय अच्छा बीत जाता है, पर वह अपनी मंज़िल पर उतर जाता है। हमें जितना भी उसका आनन्ददायक साथ मिला, उसके लिये हम मन ही मन उसका धन्यवाद करते हैं, पर उसके बिछुड़ जाने पर कोई आँसू तो नहीं बहाते। उसका अपना जीवन, अपनी ज़िम्मेदारियाँ और अपनी दिलचस्पियाँ होती है। कोई मुसाफ़िर किसी दूसरे अनजान मुसाफिर का मन बहलाने के लिये ही अपना टिकट नहीं खरीदता। दोनों पक्ष जानते हैं कि यह कुछ मिनिटों का साथ था, इसलिये अलग होने पर कोई बखेड़ा पैदा नहीं होता। किसी जीव का केवल हमारे स्वार्थ के लिये जन्म नहीं होता, न ही हमारे अस्तित्व का मँनोरथ केवल उसके काम आना ही होता है। फिर मुसाफिरों से बिछुड़ने जैसी ही प्रतिक्रिया सगे-सम्बन्धियों के चले जाने पर भी क्यों न हो ? प्रत्येक आत्मा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उसके कर्मों का अपना निजी लेखा, और उनके अनुसार ही उसका अगला जीवन बीतता है। उसके जीवन-प्रवाह में परिवर्तन करने या चाहने वाले दूसरे कौन होते हैं। उनसे तो अपने ही कर्म नहीं सँभाले जाते। नदी के प्रवाह में बहता हुआ एक तिनका किसी अन्य ऐसे तिनके का क्या सँवारेगा ? जब जीते-जागते इन्सान किसी तरह सहारा नहीं दे सकते तो बेजान चीज़ों से प्रीति जोड़ने का क्या तुक है ?

जब लगु मेरी मेरी करै। तब लगु काजु एकु नही सरै।
जब मेरी मेरी मिटि जाइ। तब प्रभ काजु सवारहि आइ।
(कबीर, ११६०)

काम :

जिस प्रकार अहं या 'मैं' ढोल-दमामे बजाकर अपने अस्तित्व का ढिंढोरा पीटता है, मोह और लोभ के द्वारा भाँति-भाँति की चोट करता है, उसी प्रकार काम के द्वारा वह अपने पैर जमाता है, अपनी जड़े पक्की करता है। स्त्री-पुरुष के संयोग का मूल प्रयोजन पूरी तरह प्रभु की रज़ा के अनुकूल है, क्योंकि सन्तान उत्पन्न न हो तो सृजनकार की सृष्टि-लीला ही गिनती के वर्षों में समाप्त हो जाये। इस रज़ा को ध्यान में रखते हुए धर्म-ग्रन्थ स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध को सहन ही नहीं करते, उसकी पवित्रता की साक्षी देते हैं।

सन्त-सतगुरुओं ने स्वयं गृहस्थ जीवन व्यतीत करके उसे अमली रूप में

अपनी स्वीकृति दी है। 'ब्रह्मचर्य परमेश्वर से मिलने के लिये लाज़िम या अनिवार्य है' इसे उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया, बल्कि बड़े, प्रभावशाली ढंग से इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा है :

बिंदु राखि जौ तरीऐ भाई। खुसरै किउ न परमगति पाई।

(कबीर, ३२४)

राजा जनक जैसे परम ज्ञानी, जिनसे सुखदेव जैसे ऋषियों-मुनियों ने मार्ग-दर्शन प्राप्त किया, खुद बाल-बच्चेदार गृहस्थ थे।

निन्दा करनेवाली वस्तु स्त्री-पुरुष का शारीरिक स्तर पर एक-दूसरे से प्यार करना नहीं, उस प्यार को अनुचित सीमा तक लाना है। बढ़िया दूध के बने रसगुल्लों में केवल जीभ के लिये ही स्वाद नहीं होता, जीने के लिये आवश्यक पौष्टिक तत्व भी होते हैं। पर अगर उचित सँभाल न की जाये तो वे मीठे ज़हर में बदल जाते हैं और उनका प्रयोग कर लोग मौत को बुला लेते हैं। सँखिया गलत मात्रा में खा लिया जाये तो बहुत भयानक विष बन जाता है, नहीं तो वह तपेदिक जैसी मारक बीमारियों के इलाज के प्रयोग में आता है। यही बात काम की है। पशुओं के विपरीत, अशरफ-उल-मख़लूक मनुष्य ने उसके मुख्य प्रयोजन को छोड़कर उसके शारीरिक या रस-तत्व को अधिक अपना लिया। आम तौर पर स्त्री-पुरुष का मेल शरीर तक ही सीमित होकर रह जाता है, उद्देश्य और परिणाम केवल वासना की पूर्ति मात्र है। व्यवहारिक तौर से गिरावट हर सीमा को पार कर जाती है। वासना का लोभ पराये घरों की ओर ले जाता है, कोठों-बाज़ारों में भटकाता है। इतना तक समझ में नहीं आता कि पराई स्त्री या पुरुष का संग तो किसी विषैले नाग को गले लगाने के समान है :

जैसा संगु बिसीअर सिउ है रे तैसो ही इहु परगृहु।

(म.५, ४०३)

साँपों को पालने वाले के भाग्य में होता है बार-बार डसे जाना। उससे बचाव का कोई उपाय नहीं बनता :

निमख काम सुआद कारणि कोटि दिनस दुखु पावहि।
घरी मुहत रंग माणहि फिरि बहुरि बहुरि पछुतावहि।

(म.५, ४०३)

कम से कम समय का सुख और लम्बे समय की पीड़ा और पश्चात्ताप, यह काम के स्वाद की अपनी विशेषता है। अपने घर में अधिक बच्चे, उनको पालने-

पोसने, पढ़ाने, ब्याहने आदि की ज़िम्मेदारियाँ, झगड़े तथा कलेश होते हैं। पराई सेजों से मिलते है मुकद्दमें, तलाक अत्यधिक खर्च, कैद, एडस तक के भयानक रोग, और प्राण त्यागने पर कुम्भी नरक तथा नीची योनियों में जन्म :

हे कामं नरक बिस्रामं बहु जोनी भ्रमावणह।
चित हरणं त्रै लोक गंम्यं जप तप सील बिदारणह।

(म.५, १३५८)

क्रोध :

अब विचाराधीन रह गई पाँचवी बीमारी, क्रोध। क्रोध मानो 'मैं' का पालतु खूंख्वार कुत्ता है जो अत्यधिक उग्र और निर्दय है। जब कोई उसके अभिमान को ठेस पहुँचाता है, उसकी सम्पत्ति में हस्तक्षेप करता है, या किसी तरह उसकी वासना की सन्तुष्टि में रुकावट डालता है तो यह कुत्ता गुर्राता हुआ उसे चीर डालने के लिये लपकता है। इसकी आँखों में खून ऐसा भरा रहता है कि इसे कुछ भी दिखाई नहीं देता, दया इसके निकट नहीं फटकती, बदला इसका मुख्य सलाहकार होता है और हिंसा इसका मनभाया हथियार।

आप नित्य देखते हैं कि भाइयों के हाथों भाई की, पुत्रों के हाथों पिता की, पतियों के हाथों पत्नियों की हत्याएँ हो रही हैं। क्रोध ही के कारण पड़ोसी देश आपस में युद्ध छेड़ देते हैं चाहे वे एक ही शासन प्रणाली का दम भरने वाले हों या एक ही धर्म के अनुयायी। एक ओर लाखों मनुष्य भूख से मर रहे हैं, दूसरी ओर अरबों, खरबों डालर खर्च करके युद्ध-पोत बनाये जा रहे हैं, एटमी पनडुब्बियाँ, भयानक हाइड्रोजन बम, घातक गैस और लेज़रबीम तैयार हो रहे हैं। विकसित देश आज इस स्थिति में पहुँच गये हैं कि अगर वे आपस में लड़ने लगें तो धरती के किसी चप्पे पर कोई जीव ज़िन्दा न बचे, कयामत टूट पड़े सबकुछ तहस-नहस हो जाये। परमात्मा की बराबरी करवाने का यह सेहरा क्रोध के सिर बँधता है। महापुरुषों ने इसे चाण्डाल की उपाधि सोच-समझकर ही दी है :

ओना पासि दुआसि न भिटीऐ जिन अंतरि क्रोधु चंडाल।

(म.४, ४०)

किसी घर में एक चोर सेंध लगाकर घुस जाये तो वह सब मूल्यवान वस्तुएँ समेटकर ले जाता है और अगर चोर पाँच हों और उनके जाने-आने के लिये नौ दरवाज़े खुले हों तो आप खुद सोचें कि वे किस प्रकार की तबाही मचाकर लौटेंगे। यह हालत साधारण मनुष्य के साथ बीत रही है। उसकी

काया में काम, क्रोध आदि पाँच चोर घुसे हुए हैं, और वे लोक या परलोक से सम्बन्धित कोई भी वस्तु लूटे बिना नहीं छोड़ते :

एकु गिरहु दस दुआर है जा के अहिनिसि तसकर पंच चोर लगईआ।
धरमु अरथु सभु हिरि ले जावहि मनमुख अंधुले खबरि न पईआ।
(म.४, ८३३)

मनुष्य की सबसे कीमती सम्पदा शब्द, नाम या अमृत है जो परमेश्वर की दया से उसके उद्धार के लिये इसके अन्तर में निरन्तर बरसता रहता है। पर ये चोर घर के मालिक की असावधानी के कारण उसका भी सफ़ाया किये जाते हैं और दुर्भाग्य से उनका हाथ पकड़ने वाला कोई भी कहीं से नहीं पहुँचता :

इसु देही अंदरि पंच चोर वसहि कामु क्रोधु लोभु मोहु अहंकारा।
अंमृत लूटहि मनमुख नही बूझहि कोइ न सुणै पुकारा।
(म.३, ६००)

सन्त रविदास जी कहते हैं :

म्रिग मीन भ्रिंग[१] पतंग[२] कुंचर[३] एक दोख बिनास।
पंच दोख असाध जा महि ता की केतक आस।
(रविदास, ४८६)

मृग में कान की कमज़ोरी है, इस कारण वह शिकारी के संगीत द्वारा मोहित होकर मरने के लिये खुद चलकर शिकारी के पास पहुँच जाता है। पतंगे का प्रकाश से प्रेम है, इसलिये वह दीपक की लौ पर जाकर जल जाता है। मछली जिह्वा के रस के कारण माँस के टुकड़े के पीछे लगी कुंडी को अपने गले में फँसा लेती है और तड़प-तड़प कर प्राण त्याग देती है। भँवरा कमल की सुगन्धि पर ऐसा मस्त होता है कि उसको शाम होने पर फूल के बन्द होने का पता नहीं चलता और परिणामस्वरूप उसकी पंखड़ियों में दबकर दम तोड़ देता है। हाथी का अपनी काम-वासना के आगे वश नहीं चलता। वह अपने मद का अन्धा कागज़ की हथिनी की ओर दौड़ता है और गड्डे में गिरकर उमर भर की कैद और परिश्रम गले मढ़ लेता है। इन सब हालतों में एक दोष, केवल एक, विनाश का कारण बन जाता है; फिर उस इन्सान के बचने की कोई क्या आशा करे जिसमें ये पाँचों अवगुण मौजूद हैं :

---

१. भँवरा २. पतंगा ३. हाथी।

गुरु अंगद साहिब जो हमें हौमैं के एक दीर्घ रोग होने से सचेत करते हैं (हउमै दीरघ रोगु है), अति दया करके यह भी बता देते हैं कि इसके इलाज के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं : 'दारू भी इसु माहि'। इसी श्लोक में दो पंक्तियाँ ऊपर आपने दो प्रश्न उठाये थे। पहला 'हउमै किथहु ऊपजै', दूसरा 'कितु संजमि इह जाइ।' अगले वाक्य में आपने पहले प्रश्न का उत्तर दिया : 'हउमै एहो हुकम है' अर्थात यह कर्तापुरुष के अपने हुक्म से ही पैदा हुआ है और साथ ही फ़रमाया है : 'पइऐ किरति फिरहि' अर्थात जब यह पैदा हो गया तो जीव इसके अधीन कर्म करते हैं और उन कर्मों का फल भोगने के लिये योनियों के चक्र में चले जा रहे हैं। इस प्रकार हौमैं का वर्णन करने के बाद दूसरे प्रश्न के उत्तर के तौर पर इससे बचने का तरीका बताते हैं : 'किरपा करे जे आपणी ता गुर का सबदु कमाहि।' जब परमेश्वर की दया होती है तो जीव गुरु के दिये नाम या शब्द की कमाई करता है, और इस उपचार से यह रोग, यह दुःख समाप्त हो जाता है : 'नानकु कहै सुणहु जनहु इतु संजमि दुख जाहि' (म.२, ४६६)।

बात संयम की थी, युक्ति की थी : 'कितु संजमि इह जाइ।'

उत्तर : 'इतु संजमि दुख जाहि।' 'दारू भी इसु माहि' में आये 'इसु' का संकेत 'हुकम' की ओर है। हौमैं हुक्म से पैदा हुआ है और हुक्म या शब्द ही इसका निवारण करता है। हुक्म और शब्द एक ही वस्तु है।[१]

जब हौमैं का रोग टूट जाता है, आपा भाव मिट जाता है तब केवल 'वही' बच जाता है :

कबीर तूं तूं करता तू हुआ मुझ महि रहा न हूं।
जब आपा पर का मिटि गइआ जत देखउ तत तू। (कबीर, १३७५)

'मैं' न रहेगा तो 'मेरी' भी कहाँ बचेगी :

कबीर मेरा मुझ महि किछु नही जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझ कउ सउपते किआ लागै मेरा। (कबीर, १३७५)

---

१. देखें : हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई। (म.१, १)
उतपति परलउ सबदे होवै।
सबदे ही फिरि ओपति होवै। (म.३, ११७)

पर यहाँ यह समझ लेना उचित होगा कि यह सारा चमत्कार अपने आप नहीं होता। हौंमैं महादीर्घ रोग इसलिये है कि यह जीव की अन्तिम साँस तक उससे चिपटा रहता है और उसके बार-बार जन्म का प्रबन्ध करके अपने अस्तित्व को भी स्थायी बना लेता है। इसके सिवाय यह साधारण बीमारियों की तरह गिनती के या चुने हुए शिकार नहीं ढूँढता, सारे संसार को अपने चुंगल में फँसा कर रखता है : 'हउमै विचि जगु बिनसदा मरि जंमै आवै जाइ' (म.३,३३)। कोई बिरला भाग्यशाली होता है जिसे इससे छुटकारा मिलता है; उसी को मिलता है जिसपर सतगुरु दयावान हो जायें : 'गुर परसादी को विरला छूटै तिसु जन कउ हउ बलिहारी' (म.४,७३५)। सतगुरु क्या करते हैं, शब्द की दात बख़्शते हैं और शब्द हौंमैं को जलाकर राख कर देता है : 'नानक गुरपरसादी उबरे हउमै सबदि जलाइ' (म.३,५९२) 'हउमै मेरा सबदे खोई' (म.१,१३४२)।

शब्द के बिना हौंमैं का और कोई उपाय या इलाज नहीं : 'हउ हउ करदी सभ फिरै बिनु सबदै हउ न जाइ' (म.३,४२६)। शब्द के बिना न हौंमैं जाये और न भ्रम दूर हों : 'बिनु सबदै भरमु न चूकई ना विचहु हउमै जाइ' (म.३,६७)। संसार में एक भी जीव ऐसा नहीं मिलेगा जो शब्द की सहायता के बिना हौंमैं को दूर करने में सफल हुआ हो : 'बिन सबदै हउमै किनि मारी' (म.३,१०४६)।

गुरु के दिये शब्द को कारगर बनाने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है और यह अभ्यास भी अपने करने से नहीं होता है, कृपा के सहारे ही होता है : 'किरपा करे जे आपणी ता गुर का सबदु कमाहि' (म.२,४६६), संसार में हमारा किया तो कुछ भी नहीं होता, जो कुछ हो रहा है सब परमेश्वर का किया हुआ हो रहा है। इस बात की समझ भी गुरु-शब्द की दया से ही आती है :

सभ किछु आपे आपि है हउमै विचि कहनु न जाइ।
गुर कै सबदि पछाणीऐ दुखु हउमै विचहु गवाइ।
(म.३, ३५)

इस प्रकार हम देखते हैं कि हौंमैं वह दीवार है जो जीवात्मा अपने आपको परम-आत्मा से अलग मान कर अपने और अपने सृजनकार के बीच खड़ी कर लेती है। इस पृथकता से ही काम, क्रोध आदि विकार उत्पन्न होते हैं, और इसके प्रभाव के अधीन किये कर्म जीव को आवागमन के चक्र में फँसाये रखते हैं। ऊँचे भाग्य से सतगुरु मिलता है तो वह उसको उसकी काया के अन्दर ही लुप्त शब्द से जोड़ देता है। इस शब्द की कमाई से हौंमैं के बन्धन टूट जाते हैं दुबिधा मिट

जाती है, मन-माया की रुकावटें दूर हो जाती हैं, फिर वह गुरु और प्रभु की रज़ा में जीने लगता है, निष्कर्म अवस्था को प्राप्त हो जाता है, अपने आपको पहचान लेता है और अन्त में परम-पद का अधिकारी बन जाता है।

उक्त दीर्घ रोग, हौंमैं, की एकमात्र दवा है शब्द।

हौंमैं या अहं

परहरि काम क्रोधु झूठु निंदा तजि माइआ अहंकारु चुकावै।
तजि कामु कामिनी मोहु तजै ता अंजन माहि निरंजनु पावै।
(म.४, १४१)

अंतरि लोभु मनु बिखिआ माहि। ओइ निरंजनु कैसे पाहि।
(म.३, ११६९)

हउमै छोडि भई बैरागनि तब साची सुरति समानी।
अकुल निरंजन सिउ मनु मानिआ बिसरी लाज लोकानी।
(म.४, ११९७)

सबदे हउमै खोईऐ हरि मेलि मिलीता। (म.३, ५१०)
अहंबुधि मन पूरि थिधाई। साध धूरि करि सुध मंजाई।
(म.५, २००)

अहंबुधि करम कमावने। गृह बालू नीरि बहावने।
(म.५, २११)

हउमै रोगु गइआ दुखु लाथा आपु आपै गुरमति खाधा।
(म.१, ७८)

सहस खटे लख कउ उठि धावै। त्रिपति न आवै माइआ पाछै पावै।
(म.५, २७८)

हउमै रोगि जाका मनु बिआपित ओहु जनमि मरै बिललाती।
(म.५, ६१०)

आतमराम परगासु गुर ते होवै। हउमै मैलु लगी गुर सबदी खोवै।
(म.३, १२३)

हउमै मैला इहु संसारा। नित तीरथि नावै न जाइ अहंकारा।
बिनु गुर भेटे जमु करे खुआरा। सो जनु साचा जि हउमै मारै।
गुर कै सबदि पंच संघारै। आपि तरै सगले कुल तारै।
(म.३, २३०)

हउमै करि करि जाइ घणेरी करि अवगण पछोतावणिआ।
(म.१, १०९)

हउमै मारे सबदे जागै। ऐथै ओथै सदा सुखु आगै।
(म.१, ४१५)

हउ हउ करत नही सचु पाईऐ। हउमै जाइ परम पदु पाईऐ।
(म.१, २२६)

हउमै बंधन बंधि भवावै।
(म.१, २२७)

हउमै करि राजे बहु धावहि। हउमै खपहि जनमि मरि आवहि।
(म.१, २२६)

हउमै जगतु भुलाइआ दुरमति बिखिआ बिकार। (म.३, ३१२)

हउमै जलते जलि मुए भ्रमि आए दूजै भाइ।
पूरै सतिगुरि राखि लीए आपणै पंनै पाइ। (म.३, ६४३)

हउमै ममता मोहणी मनमुखा नो गई खाइ। (म.३, ५१३)

आपस कउ दीरघु करि जानै अउरन कउ लग मात।
(कबीर, ११०५)

हउमै नावै नालि विरोधु है दुइ न वसहि इक ठाइ।
(म.३, ५६०)

कांइआ साधै उरध तपु करै विचहु हउमै न जाइ।
अधिआतम करम जे करे नामु न कब ही पाइ। (म.३, ३३)

आचारी नही जीतिआ जाइ। पाठ पड़ै नही कीमति पाइ।
(म.१, ३५५)

नावन कउ तीरथ घने मन बउरा रे पूजन कउ बहु देव।
कहु कबीर छूटनु नही मन बउरा रे छूटनु हरि की सेव।
(कबीर, ३३६)

नाम संगि मनि प्रीति न लावै। कोटि करम करतो नरकि जावै।
(म.५, २४०)

हठु करि मरै न लेखै पावै।
(म.१, २२६)

सत्संगति

सतिगुर बाझहु संगति न होई।
बिनु सबदे पारु न पाए कोई।

सत्संगति

हम आम लोगों को कहते हुए सुनते हैं कि कोई व्यक्ति अच्छा है या बुरा इसकी पहचान उसकी संगति से होती है। यह स्वाभाविक ही है कि स्वभाव, आचार, व्यवहार की दृष्टि से जैसा आदमी खुद होगा, वैसे ही लोगों से वह मिलना-जुलना पसन्द करेगा। कौए कौओं से ही मिलकर बैठते हैं, कुँज कुँजों से। फ़ारसी की कहावत है : 'कुनद हम जिन्स ब हम जिन्स परवाज़। कबूतर ब कबूतर बाज़ ब बाज़।' केवल इतना ही नहीं, किसी का चरित्र बनाने या बिगाड़ने में भी संगति का बहुत बड़ा हाथ होता है। अगर कोई शराबियों के साथ उठता-बैठता है, तो उसे शराब की बुराई चिपट जायेगी और जुआरियों का साथी जुआ खेलने की कमज़ोरी का शिकार हो जायेगा। कबीर साहिब कहते हैं :

कबीर साकत संगु न कीजीऐ दूरहि जाईऐ भागि।
बासनु कारो परसीऐ तउ कछु लागै दागु।

(कबीर, १३७१)

अर्थात, शक्ति के उपासकों या माया के प्रेमियों की परछाईं से भी बचना चाहिये। काजल की कोठरी में जानेवालों के लिये अपने कपड़ों को कालिख से बचा पाना सम्भव नहीं होता। कबीर साहिब ही एक अन्य जगह कहते हैं :

कबीर बैसनउ की कूकरि भली साकत की बुरी माइ।
ओह नित सुनै हरिनामु जसु उह पाप बिसाहन जाइ।

(कबीर, १३६७)

हम प्रतिदिन कहते और सुनते हैं कि खरबूज़े को देखकर खरबूज़ा रंग पकड़ता है। इसलिये अगर एक मन-बुद्धि से रहित चीज़ इधर-उधर से प्रभाव ग्रहण कर लेती है तो मनुष्य अपनी संगति के प्रभाव से कैसे बच सकता है। इसलिये गुरुवाणी में साध-संगति की इतनी महिमा की गई है कि उसे 'सिर करमन कै करमा' बताया गया है। सन्त-सतगुरु, अपनी कहनी तथा करनी में पूर्ण, हरि का रूप होता है। उसके सम्पर्क में आकर उसके पद-चिन्हों पर चलनेवाला जिज्ञासु खुद हरि-रूप हो जाता है।

चार, छः, दस व्यक्ति अपने शरीर पर राख मल लें, पीले, नीले, काले, भगवे या किसी अन्य रंग के वस्त्र पहन लें, धूनियाँ रमा लें, किसी जंगल में, चट्टान या पहाड़ी पर जा बैठें, कमण्डल या खप्पर में भिक्षा का भोजन खायें, या हाथों पर रखकर खायें, वे इस प्रकार के किसी भी भेष और रीति को अपना कर सन्त नही बन जायेंगे, न ही उनका इकट्ठा होना सत्संगति कहला सकेगा। साध-पद उस उत्तम पुरुष का बोध कराता है जिसके हृदय में परमेश्वर का निवास हो : 'पारब्रहमु साध रिद बसै' (म.५,२७२), जो परमेश्वर में लीन हो गया हो, जिसमें और परमेश्वर में कोई अन्तर न रहा हो : 'नानक साध प्रभ भेदु न भाई' (म.५, २७२)।

इस प्रकार साध-संगति या सत्संगति कहलाने का मान उस संगत को मिलता है जिसमें पूर्ण सन्त-सतगुरु शामिल हों। ये महापुरुष दया-मेहर के स्रोत होते हैं और वे अपनी शिक्षा, दयालुता, बख़्शिश से अनेक जीवों को कृतार्थ करते हैं। उस एक दाता से रहित कोई छोटी-बड़ी मण्डली एक-दूसरे का क्या सँवारेगी। गुरु अमरदास जी कहते हैं :

सतिगुर बाझहु संगति न होई।
बिनु सबदे पारु न पाए कोई। (म.३, १०६८)

जिस प्रकार शब्द की कमाई से सद्गति प्राप्त होती है, उसी तरह सतगुरु की मौजूदगी उसके निकटवर्तियों को सत्संगति की उपाधि से सम्मानित करती है। सत्संगति की पहचान के लिये उसका अन्य गुण गुरु नानक साहिब बताते हैं :

सतसंगति कैसी जणीऐ। जिथै एको नामु वखाणीऐ। (म.१, ७२)

उसमें केवल प्रभु का ज़िक्र होता है, सांसारिक समस्याओं पर विचार चर्चा का विषय नहीं बनते। सन्त भूले-भटके जीवों को संसार के माया-जाल से निकाल कर ले जाने के लिये अवतार धारण करते हैं। फिर वे इस प्रयोजन के विपरीत संसार के झगड़ों में क्यों उलझें और अपने सम्पर्क में आई आत्माओं को क्यों उलझायें :

संतसंगति महि नामु निरमोलकु वडै भागि पाइआ जाई। (म.३, ९०९)

गुरु रामदास जी के अनुसार साध-संगति में तो परमेश्वर खुद निवास करता है :

मिलि सतसंगति खोजु दसाई विचि संगति हरि प्रभु वसै जीउ। (म.४, ९४)

जहाँ वह करण-कारण बसता हो, वह संगत क्यों किसी भी प्रसाद और बख़्शिश से खाली रहती होगी।

जिन सन्तों की संगति आवश्यक है, उनकी पहचान कैसे की जाये ? गुरु अर्जुन साहिब का उत्तर है :

इह नीसाणी साध की जिसु भेटत तरीऐ।
जम कंकरु नेड़ि न आवई फिरि बहुड़ि न मरीऐ।
भव सागरु संसारु बिखु सो पारि उतरीऐ। (म.५, ३२०)

उनके दर्शन करने से ही मन परमेश्वर की ओर खिंचा चला जाता है :

आवै साहिबु चिति तेरिआ भगता डिठिआ। (म.५, ५२०)

भेटत संगि पारब्रहमु चिति आइआ।
संगति करत संतोखु मनि पाइआ। (म.५, ८८९)

साध की संगति करने से मन का मैल दूर होता है और जीव पाप कर्मों की ओर से विमुख होकर संसार से बिदा ले सकता है :

साध कै संगि मुख ऊजल होत। साध संगि मलु सगली खोत। (म.५, २७१)

पंच चोर आगै भगे जब साध संगेत। (म.५, ८१०)

माया, जो नागिन की भाँति सारे संसार पर लिपटी हुई है, सत्संग की रेखा पार नहीं करती, इससे दूर ही रहती है :

करि किरपा सतसंगि मिलाए। नानक ता कै निकटि न माए। (म.५, २५१)

साध की संगति बड़े-बड़े कर्मों पर लीक फेर देती है, मन को निर्मल कर देती है और इस तरह आवागमन का चक्कर समाप्त हो जाता है :

कोटि अप्राध साध संगि मिटै। (म.५, २९६)

सुणि साजन मेरे मीत पिआरे। साधसंगि खिन माहि उधारे।
किलविख काटि होआ मनु निरमलु मिटि गए आवण जाणा जीउ। (म.५, १०३)

जिस किसी को साध-संगति की ओट प्राप्त हो जाती है वह यमदूतों के वश में नहीं आता :

साध संगति होई निरमला कटीऐ जम की फास। (म.५, ४४)

पाँचवी पातशाही गुरु अर्जुन साहिब ने परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए कहा है कि अगर तेरे सन्तों से वचन-विलास करने का अवसर मिल जाये, तो किसी अन्य द्वार से ज्ञान, ध्यान या बड़ाई प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह सब उनकी संगति से प्राप्त हो जाता है :

गिआन धिआन नानक वडिआई संत तेरे सिउ गाल गलोही। (म.५, २०७)

इस संगति के फलस्वरूप शान्ति मिलती है, सुख प्राप्त होता है और अनहद शब्द की धुन सुनाई देने लगती है :

सांति सूख सहज धुनि उपजी साधू संगि निवासा जीउ। (म.५, १०५)

विश्वास और श्रद्धा से किया गया सत्संग नौ निधियाँ और परम आनन्द लेकर आता है :

हरि संतन करि नमो नमो। नउनिधि पावहि अतुलु सुखो। (म.५, २४१)

अगर किसी की सदा के लिये सुख पाने की इच्छा हो वह सन्तों की संगति करे। इस संगति में नाम का अभ्यास होता है और यह अभ्यास भवसागर से पार उतार देता है :

जो लोड़हि सुखु भाई। साधू संगति गुरहि बताई।
ऊहा जपीऐ केवल नाम। साधू संगति पारगराम। (म.५, ११८२)

बैकुण्ठ को सुख-प्राप्ति का वह स्थान माना जाता है जिसका विनाश नहीं होता, जहाँ मिलनेवाले आनन्द में कभी कमी नहीं आती ; पर बैकुण्ठ में मर कर ही जाया जाता है। इसके विपरीत, साध-संगत में बैकुण्ठ के सुख जीते-जी ही मिल जाते हैं। कबीर साहिब कहते हैं कि यह किसे बताने जायें कि बैकुण्ठ यहीं हमारे संसार अर्थात साध-संगति में है :

कहु कबीर इह कहीऐ काहि। साध संगति बैकुंठै आहि। (कबीर, ३२५)

अगर सन्त-सतगुरुओं की सहायता के बिना अपने आप ही परमेश्वर से मिला जा सकता तो आज अनेक लोग उसके वियोग का दुःख न सह रहे होते। उसके प्रेम,

उसकी प्राप्ति का रस वही लोग प्राप्त करने योग्य होते हैं जिनको साध की संगति प्राप्त होती है :

आपण लीआ जे मिलै विछुड़ि किउ रोवंनि।
साधू संगु परापते नानक रंग माणंनि। (म.५, १३४)

जो सौभाग्यशाली व्यक्ति परमेश्वर में लीन होता है, उससे ही परमेश्वर के भेद पूछे और जाने जा सकते हैं :

जाइ पुछा जन हरि की बाता। (म.४, ९६)

वह हरि के भेद ही नहीं खोलता बल्कि हरि से मिलाप करा देता है :

मिलि सतसंगति लधा हरि सजणु हउ सतिगुर विटहु घुमाईआ जीउ। (म.४, ९६)

सुखमनी साहिब की सातवीं अष्टपदी पढ़ लें : 'साध कै संगि मुख ऊजल होत' (म.५, २७१), तो फिर साध-संगति के बारे और किसी पूछताछ की ज़रूरत नहीं रह जाती। गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं, इस संगति में पहुँचने से अहंकार समाप्त हो जाता है और जिज्ञासु ऐसी दीनता धारण कर लेता है मानों वह सबकी धूलि हो और सब भ्रम व शंसय से निवृत्त होकर उसका हृदय ज्ञान से प्रकाशमान हो जाता है। काम, क्रोध आदि पाँचों विकार उसके आगे हथियार डाल देते हैं और उसके मन की व्यर्थ दौड़ समाप्त हो जाती है, क्योंकि उसे हर घट में परमानन्द व्याप्त नज़र आने लगता है, किसी भी व्यक्ति के प्रति वैर भाव बाकी नहीं रहता, बल्कि सब शत्रु उसके मित्र बन जाते हैं। उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, साध की संगति करनेवाले का नरक में जाना तो दूर रहा स्वयं धर्मराज उसकी सेवा में जुट जाता है। उसे सब धनों में परम-धन, नाम-धन भरपूर मात्रा में प्राप्त होता है, जिसके प्रताप से उसका अपना ही नहीं, उसके मित्रों-कुटम्बियों का ही नहीं, उसके कुल का उद्धार हो जाता है और उसके लोक और परलोक दोनों सुखी हो जाते हैं :

जिस साध-संगति से इतने लाभ प्राप्त होते हैं, स्वाभाविक ही है कि देवता तक उसके मिलने की कामना करते हैं :

सूरबीर बचन के बली। कउला बपुरी संती छली।
ता का संगु बाछहि सुर देव। अमोघ दरसु सफल जा की सेव। (म.५, ३९२)

सत्संगति का मिलना यों ही नहीं हो जाता। किसी का भाग्य जागता है तभी उसके अन्दर इसमें आने की भावना पैदा होती है। नहीं तो बदकिस्मत लोग जब

संगति इकट्ठी हुई देखते हैं तो रास्ता बदल कर आगे चले जाते हैं। यही नहीं, कुछ दूसरों के मुँह से सुनकर, कुछ अपने मन से जोड़कर उसकी निन्दा भी करते हैं। अगर कोई पुरुष सत्संगति की ओर प्रेरित होता है तो समझो कि परमेश्वर उस पर दयालु है। गुरु अर्जुन साहिब के वचन हैं :

जिसु भइआ क्रिपालु तिसु सतसंगि मिलाइआ। (म.५, २३९)

सत्संगति का जुड़ना धुर-कर्म होने की साक्षी देता है :

मिलि संगति धुरि करम लिखिओ। (म.५, २४१)

जब सतगुरु को किसी जीव का उद्धार करना होता है तो वह उसे अपनी संगति बख़्शता है और उसकी लिव शब्द से जोड़ देता है :

जिन के बंधन काटे सतिगुर तिन साध संगति लिव लाई। (म.५, २०५)

सत्संगति

प्रभ का सिमरनु साध कै संगि। (म.५, २६२)

सतिगुरु पुरखु अंम्रितसरु वडभागी नावहि आइ।
उन जनम जनम की मैलु उतरै निरमल नामु द्रिड़ाइ। (म.४, ४०)

भाई रे हरि हीरा गुर माहि।
सतसंगति सतगुरु पाईऐ अहिनिसि सबदि सलाहि। (म.१, २२)

जग जीवनु दाता हरि मनि राता सहजि मिलै मेलाइआ।
साध सभा संता की संगति नदरि प्रभू सुखु पाइआ। (म.१, ४३७)

बिनु भागा सतसंगु न पाईऐ करमि मिलै हरि नामु हरी। (म.१, ११७२)

पारसु भेटि कंचनु धातु होई सतसंगति की वडिआई। (म.१, ५०५)

पारस के संग तांबा बिगरिओ।
सो तांबा कंचनु होइ निबरिओ।
संतन संगि कबीरा बिगरिओ।
सो कबीरु रामै होइ निबरिओ। (कबीर, ११५८)

कबीर चंदन का बिरवा भला बेढ़िओ ढाक पलास।
ओइ भी चंदनु होइ रहे बसे जु चंदन पासि। (कबीर, १३६५)

कबीर एक घड़ी आधी घरी आधी हू ते आध।
भगतन सेती गोसटे जो कीने सो लाभ। (कबीर, १३७७)

काम क्रोध लोभ मद खोए। साध कै संगि किलविख सभ धोए। (म.५, १९४)

काम क्रोध लोभ मद निंदा साध संगि मिटिआ अभिमान। (म.५, ११५१)

साकत नर प्राणी सद भूखे नित भूखन भूख करीजै।
धावतु धाइ धावहि प्रीति माइआ लख कोसन कउ बिथि दीजै। (म.४, १३२३)

टूटे बंधन जासु के होआ साधू संगु। (म.५, २५२)

साध संगति सचखंडु है भगति वछल होइ वसगति आइआ। (भाई गुरदास, वार ६-१)

साध संगति सचखंड विचि सतिगुर पुरखु वसै निरंकारा। (भाई गुरदास, वार ६-४)

मंदा चंगा आपणा
आपे ही कीता पावणा।
—म.१, ४७०

कर्म

कर्म जीव के कार्य करने की क्रिया का नाम है, अर्थात जो कुछ उसके द्वारा किया जाये उसे कर्म कहते हैं। रचनाकार ने कुछ ऐसा क्रम बनाया है कि कर्म प्राणी मात्र से हर समय, चाहते या न चाहते, होते ही रहते हैं। जब तक साँस आते रहते हैं, दिल धड़कता ही रहता है। इसी प्रकार जब तक होश कायम रहेंगे, मन में संकल्प उठते जायेंगे और वह इन्द्रियों से कुछ न कुछ करवाता रहेगा।

जीव का शरीर आत्मा के बल से चलता है, फिर भी उसकी ओर से कार्य करने का अधिकार मन को मिला हुआ है। मन को अपने कर्तव्य निभाने में बुद्धि उसकी सहायता करती है, पर बुद्धि द्वारा परामर्श दिये जाने के बाद अन्तिम निर्णय मन के हाथ में रहता है।

मुख्य रूप से हर कर्म किसी न किसी उद्देश्य के लिये किया जाता है। वह शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी। एक उदाहरण लें। ज़िन्दगी जारी रखने के लिये पेट को आहार देना आवश्यक होता है। एक आदमी नेक कार्य करके अपना भोजन जुटाता है और उसको अपनी रसोई के एकान्त में खाता है। दूसरा, उसी तरह हक हलाल की कमाई करता है, पर उसे अपनी कमाई रोटी सारी खा लेना अच्छा नहीं लगता, वह उसका कुछ भाग किसी ज़रूरतमंद को भी खिलाता है। तीसरा, पहले वालों के काम को मूर्खता मानकर पराये खाने पर हाथ साफ़ करता है और अपनी समझ में इसे सही कार्य मानता है। खाने का कर्म उन तीनों ने किया, पर कर्म की प्रकृति हर सूरत में अलग थी। हर कर्म में फल कर्म की प्रकृति के अनुसार लगता है।

इसीलिये मनुष्य जीवन को कर्मों की खेती कहा जाता है : 'जेहा बीजै सो लुणै करमा संदड़ा खेतु' (म.५, १३४)। किसान अपनी भूमि में जो मन में आये, बो ले, पर उसे उसी बीज से पैदा हुई फसल काटनी पड़ेगी। अगर किसी ने अपने खेत में काँटेदार झाड़ी के बीज बिखेरे हों, तो उसे कपास चुनने की आशा नहीं करनी चाहिए। यह वास्तविकता अटल है। इसमें अदल-बदल की कोई गुंजाइश नहीं। फिर भी संसार ऐसे कम बुद्धि लोगों से भरा पड़ा है जो अंगूर खाने की इच्छा रखने

पर भी बबूल के बीज अपने खेतों में बिखेरते हैं, रेशम पहनने की कामना रखते हैं, पर भेड़ों, ऊँठों के ऊन के गोले बनाते रहते हैं। उनके विषय में ही फ़रीद साहिब कहते हैं :

फरीदा लोड़ै दाख बिजउरीआं किकरि बीजै जटु।
हंढै उंन कताइदा पैधा लोड़ै पटु। (फरीद, १३७९)

इसी विषय में गुरु अंगद साहिब का वाक्य है :

बीजे बिखु मंगै अंमृतु वेखहु एहु निआउ। (म.२, ४७४)

जिस प्रकार का कार्य किया जाता है, उसी प्रकार का उसका परिणाम निकलता है। यह कैसे हो सकता है कि हम आग खायें और मुँह न जले :

जेवेहे करम कमावदा तेवेहे फलते।
चबे तता लोह सारु विचि संघै पलते। (म.५, ३१७)

जो कुछ भी हम करते हैं उसके तिल-तिल का हिसाब रखा जाता है। चित्रगुप्त, प्रभु के हर क्षण के लेखाकार, छोटे से छोटे कर्म को दर्ज करने से नहीं चूकते। घने अन्धकार में, सात पर्दों के पीछे, कहीं भी किया गया कोई भी अपराध छिपा नहीं रहता, हमारे खाते में लिखा जाता है :

दिनु राति कमाइअड़ो सो आइओ माथै।
जिसु पासि लुकाइदड़ो सो वेखी साथै। (म.५, ४६१)

क्योंकि देखनेवाला, जिससे हम पर्दा करते हैं, हमारे अन्दर बैठा सबकुछ देखता है।

संसार में किसी देश का कर्ता-धर्ता चाहे वह बादशाह हो या राष्ट्रपति, न्याय का काम उसके हुक्म के अधीन, उसके द्वारा नियुक्त किये गये न्यायाधीश करते हैं और न्यायाधीशों द्वारा सुनाये गये फैसले उसके अपने दिये हुए माने जाते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर ने न्याय करने का कार्य धर्मराज को सौंप रखा है और उसे हिदायत दे रखी है कि वह सोच-विचार कर सच्चा न्याय करे, न किसी के प्रति पक्षपात करे और न किसी पर ज़्यादती : 'धरमराइ नो हुकमु है बहि सचा धरमु बीचारि' (म.३, ३८)। इसलिये प्रभु की अदालत के निर्णयों में वास्तव में कोई हेर-फेर नहीं होता। वहाँ न कोई चकमा दे सकता है, न छल कर सकता है, क्योंकि कर्मेन्द्रियों के चश्मदीद गवाह आमने-सामने साक्षी देते हैं, न्यायालय को बहकावे में डालने के लिये किसी का मुँह नहीं खुलता :

किआ मुहु लै कीचै अरदासि। पापु पुंनु दुइ साखी पासि।
(म.१, ३५१)

उसके आगे न कोई शाहंशाह, न कोई अरबपति, न ब्राह्मण, न सैयद, हिसाब चुकाने से बचकर निकल सकता है :

सभना का दरि लेखा होइ। करणी बाझहु तरै न कोइ।
(म.१, ९५२)

धर्मराज के कटहरे में कौन खड़े होते हैं? सब साकत लोग, दुष्ट आत्मा, मन्दकर्मी, : 'दूजै भाइ दुसटु आतमा ओहु तेरी सरकार' (म.३, ३८)। इसके विपरीत, जो परमेश्वर को प्यार करनेवाले होते हैं, उनका आदर होता है, उनको सच्चे मार्ग पर डालने वाले सतगुरु को बड़ाई मिलती है :

अधिआतमी हरि गुणतासु मनि जपहि एकु मुरारि।
तिन की सेवा धरमराइ करै धंनु सवारणहारु। (म.३, ३८)

परमात्मा के लेखे कई बार लम्बे लेखे होते हैं। कर्मों के सौदे का भुगतान खरबूजे, ककड़ी की तरह हाथों-हाथ बिक जाने जैसा होना ज़रूरी नहीं। हाँ, मूल्य तुरन्त सम्बन्धित व्यक्ति के हिसाब में जुड़ जाती है। वसूली चाहे अगले जन्म में की जाये या उससे भी अगले जन्म में।

जीव को लम्बा समय बीत जाने के कारण याद नहीं रहता कि मैं आज से पहले क्या कुछ कर चुका हूँ। इसलिये जब उसे अपने किये की सज़ा मिलती है तो वह परमेश्वर के न्याय के विरुद्ध शिकायतें करना शुरू कर देता है। सन्तान-हीन स्त्री को सपने में भी ख़याल नहीं आता कि चार जन्म पहले मैंने अपने जैसी किसी मां के लाल का गला दबा दिया था। लुटेरे के हाथों लूटे जानेवाला व्यक्ति यह नहीं जानता कि मैंने कुछ दशकों पहले इस मुसाफिर की धरोहर को हड़प कर लिया था। हर शिकायत करनेवाला भूल जाता है कि दरगाह का न्यायकर्ता कभी भूल नहीं करता :

भुलण अंदरि सभु को अभुलु गुरू करतारु। (म.१, ६१)
नही होत कछु दोऊ बारा। करनैहारु न भूलनहारा।
(म.५, २५३)

धर्मराय के लिये अपने हुक्म का पालन करने के लिये दूसरे लोगों की सहायता लेना जरूरी हो जाता है, इसलिये अपराधी द्वारा उन लोगों को कोसने का कोई लाभ नहीं होता :

ददै दोसु न देऊ किसै दोसु करंमा आपणिआ।
जो मै कीआ सो मै पाइआ दोसु न दीजै अवर जना।

(म.१, ४३३)

किसी के खून में हाथ रंगनेवाला हत्यारा बाद में हाथ बाँधकर, गिड़गिड़ा कर नहीं छूटता। उसके किये अनुसार जो अक्षर लिखा गया, उसको मिटाने की किसी में ताकत नहीं :

मन मूरख काहे बिललाईऐ। पूरब लिखे का लिखिआ पाईऐ।

(म.५, २८३)

हवा मन्द-मन्द चलती है और रेत के कुछ गिनती के कणों को दो कदम आगे फेंकती है। पानी की एक लहर आती है और अनेक कोनों वाले किसी पत्थर को रगड़ कर आगे निकल जाती है। हवा के झोंके निरन्तर बहते रहते हैं। पानी की तरंगे भी सदा उठती रहती हैं। समय पाकर रेत के गिनती के कण टीले का रूप धारण कर लेते हैं, कोनों वाला कंकर सब ओर से साफ़ सुथरा अण्डा या गेंद दिखाई देने लगता है। इन झोंकों और तरंगों जैसा ही खेल कर्म खेलते रहते हैं।

एक व्यक्ति के मन में किसी की जेब काटने का लोभ जागता है। जेब में से उसे बटुआ मिलता है और बटुए में से नकदी और नोट। उन पैसों से वह चटपटे समोसे और पकौड़े खाता है, सुन्दर कमीज़-पतलून खरीदता है और फिर सिनेमा-हाल में जा बैठता है। इस प्रकार खाने, पहनने का स्वाद प्राप्त करने से उसे सुख मिलता है और वह बटुए वाले की असावधानी पर अपनी चतुरता की विजय के लिये अपनी पीठ थपथपाता है। जब आसान कमाई का विचार दुबारा आता है तो वह अपनी पहली प्राप्ति याद करता है और इससे उसे पहली करतूत दुहराने के लिये उत्साह मिलता है। इस बार वह अधिक भारी बटुए पर नज़र रखता है और अधिक रकम हथिया लेता है। उसकी प्रगति (या गिरावट) जारी रहती है और धीरे-धीरे वह ऐसा मँजा हुआ जेबकतरा बन जाता है कि पुलिस की मार, जेल की कैद और चक्कियाँ भी उसे उसकी नीच हरकत से नहीं मोड़ पातीं।

प्रत्येक किया हुआ कर्म अन्तःकरण पर अपनी छाप छोड़ जाता है और यह छाप या दरार उस कर्म के दुहराये जाने पर और अधिक गहरी होती चली जाती है। जिस प्रकार बैलगाड़ी का पहिया अपने आप पक्की मार्ग-रेखा पर चलता चला जाता है, उसी प्रकार पिछले कर्मों से बने संस्कार अगले कर्मों के लिये रुचि के कारण, आदत और स्वभाव के कारण बड़े बलवान प्रेरणा-स्रोत बन जाते हैं। अगर किसी

कर्म की आदत ही पड़ जाये तो फिर वह होता ही रहेगा और अपना फल भी पैदा करता जायेगा—अच्छा या बुरा, जैसा भी कर्म हो। जिन लेखों के अनुसार किसी को अपना जीवन जीना होता है, वे पिछले कर्मों के आधार पर ही लिखे जाते हैं।

कर्मों का फल तो साथ जाता ही है, कर्मों की रगड़ द्वारा कुरेदे हुए संस्कार शरीर की तरह पीछे नहीं रह जाते, बल्कि अगले जन्म में अंग-संग रहते हैं। कर्म करो, उनका फल भोगने के लिये जन्म लो; पिछले संस्कारों, रुचियों के कारण वही कर्म फिर दुहराओ और ताज़े कर्मों की फसल काटने के लिये शरीर का नया चोला पहनो। इस प्रकार एक कु-चक्र चलता रहता है, जो कभी समाप्त नहीं होता। गुरु अंगद साहिब कहते हैं :

नकि नथ खसम हथ किरतु धके दे।
जहा दाणे तहां खाणे नानका सचु हे। (म.२, ६५३)

किसी एक जन्म से शुरू होनेवाला जीवन कैसे चलेगा, उसके लिये विधाता का लिखा प्रारब्ध जीव के साथ आता है। उस पर स्याही नहीं फिर सकती, उन लेखों की बिंदी या मात्रा नहीं बदली जा सकतीं : 'लेखु न मिटई हे सखी जो लिखिआ करतारि' (म.३,९३७)। जो दुःख, जो सुख जीव के हिस्से पड़ते हैं, वे भोगने आवश्यक हैं। पर ये लेख किसी ज़बरदस्ती या लिहाज़ का परिणाम नहीं होते, कर्म की कलम कर्मों की सीध में सीधी चलती है :

हुकमी उतमु नीचु हुकमि लिखि दुख सुख पाईअहि। (म.१, १)
हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाम। (म.१, १२४१)

पहले के किये हुए जिन कर्मों के बदले हम बीत रहे जीवन में दुःख-सुख भोगते हैं, उनको प्रारब्ध कहा जाता है; जो इस जन्म में किये जाते हैं, उनको क्रियमान कर्म कहते हैं। क्रियमान कर्मों में से कुछ का भुगतान इसी जीवन में हो जाता है, जो उमर पूरी होने पर बच जाते हैं, वे पिछले अनेक जन्मों के इकट्ठे किये कर्मों के जमा या संचित कर्मों में जुड़ जाते हैं। फिर इन संचित कर्मों में से कुछ (अच्छे और बुरे) को लेकर अगले जन्म का प्रारब्ध बना दिया जाता है। इस प्रकार जन्म-मरण का एक अटूट क्रम चलता रहता है।

शुभ कर्मों के करने से सुख की, धन-दौलत की, ज़मीन-जायदाद की, स्वास्थ्य-सुन्दरता की, मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। कुछ समय के लिये स्वर्ग और बैकुण्ठ में वास भी मिल जाता है। इसके विपरीत, मन्द कर्मियों को अंग-भंग, बीमारी, गरीबी, अनादर आदि के दुःख सहने पड़ते हैं। धर्म-ग्रन्थों में

उनको यमराज के हाथों कष्ट मिलने का ज़िक्र भी आता है। जैसे :

करण करीम न जातो करता तिल पीड़े जिउ घाणीआ।

(म.५, १०२०)

जब कोई कर्मचारी सेवामुक्त होता है या इस्तीफा देता है तो उसे तब तक नौकरी से मुक्त नहीं किया जाता जब तक वह सब लेन-देन का हिसाब नहीं चुका देता। इसी प्रकार जब तक जीव के एक-एक कर्म का भुगतान न हो जाये उसे संसार से छुट्टी नहीं मिलती, मर कर भी नहीं, अपना हिसाब चुकाने के लिये उसे फिर यहाँ आना पड़ता है।

किसी लम्बी यात्रा के दौरान कहीं ठहर कर रात बिताने का अवसर मिल जाये (विश्राम-घर में या होटल के कमरे में) तो भी वह राहत नहीं मिलती, जो मंज़िल पर पहुँचने पर मिलती है। अति पवित्र कर्म करके देव-योनि को प्राप्त हुए लोग भी सफ़र की बेआरामी महसूस करते रहते हैं, यही सोचते रहते हैं कि फिर कब मनुष्य शरीर मिले और सही तरह की साधना करके माया के घेरे से बाहर निकलें :

इह देही कउ सिमरहि देव। (कबीर, ११५९)

जो कुछ धरती पर भोगना होता है, उसके लिये तो यहाँ आना ही पड़ता है, स्वर्ग और नरक भोग लेने के बाद भी किसी को संसार के माया-जाल से छुट्टी नहीं मिलती। यह तो मानो एक दलदल है। नेक कदम और बुरे कदम उठाते हुए भी इसमें धँसते ही जाते हैं।

हरएक कर्म का अपना फल है, भला या बुरा, और वह फल प्राप्त किया जाता है शरीर द्वारा। इस प्रकार शुभ कर्म भी अशुभ ही हो जाते हैं, क्योंकि वे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं होने देते, आत्मिक ज्योति के परमात्म-ज्योति में मिलने के मार्ग में दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं। इसलिये कहा गया है :

अनिक करम कीए बहुतेरे। जो कीजै सो बंधनु पैरे।

(म.५, १०७५)

अच्छे से अच्छे कर्म भी आवागमन का चक्र बनाये रखने में बुरे कर्मों जैसे ही बुरे सिद्ध होते हैं।

हत्या जैसे गम्भीर अपराधों के लिये पकड़े गये खतरनाक कैदियों के हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ होती हैं जो अधिक कसी हुई और भारी होती हैं और जो उन्हें न आसानी से उठने-बैठने देती है, न चलने-फिरने और न ही लेटने

देती हैं। बढ़िया श्रेणी के कैदी को हथकड़ी या बेड़ी नहीं लगती, बल्कि अच्छा खाना मिलता है, पढ़ने को समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें और कई सुविधाएँ मिलती हैं। पर वह जेल की चारदीवारी से बाहर नहीं निकल सकता। इसलिये वह कर्म कैसे शुभ माना जाये जो कैद के समय को लम्बा करने का प्रभाव रखे, अपने घर का दरवाज़ा तक न दिखने दे :

अनिक करम करि थाकिआ भाई फिरि फिरि बंधन पाइ।

(म.५, ६०८)

अनगिनत लोग भूल और भ्रम में पड़े, अपनी ओर से अच्छा ही अच्छा करते रहते हैं, तो भी उनके गले से जन्म-मरण की ज़ंजीर नहीं उतरती, शरीर के बन्दीखाने से मुक्ति का हुक्म जारी नहीं होता। कर्म किये जायेंगे तो कपड़ा भी मिलता रहेगा, शरीर का जामा : 'करमी आवै कपड़ा' (जपुजी) और मुसीबत यह है कि कर्मों से छुटकारा भी सम्भव नहीं। जब तक मन और इन्द्रियाँ व्यस्त रहेंगी, कर्म होते चले जायेंगे। जब तक कोई मनुष्य जीवित है, उसे अपनी जीविका तो चलाना ही है। साँस चलते रहने तक पेट को खाना माँगना है और अगर कुछ और नहीं तो आहार के लिये तो कर्म करने पड़ते हैं। परायों के आसरे खायेगा तो भी सिर का बोझ भारी होता जायेगा। जीव की इस समस्या का समाधान अपने अहंभाव से मुक्त होने पर होता है : 'एकहि आप करावणहारा' (जो कुछ किया जा रहा है प्रभु ही करा रहा है) के विश्वास में जीने पर होता है। वह आसा-मनसा का त्याग करके अपना कर्तव्य निभाये और अपने लिये किसी फल की इच्छा न करे : 'काहू फल की इछा नही बाछै' (म.५,२७४) फिर उसे हो रहे कर्मों की सज़ा नहीं मिलेगी।

इससे यह न समझ लिया जाये कि जीव के अपने करने से ही यह सबकुछ हो जायेगा। उसके अपने किये कर्मों के बदले तो शरीर ही मिलता है, मुक्ति परमेश्वर की दया से नसीब होती है : 'नदरी मोखु दुआरु' (म.१,२)। परमेश्वर दयालु होकर उसे गुरु से मिलाता है और गुरु इस कर्मों के कैदी की ज़ंजीरें काट देता है :

कहतु नानक इह जीउ करम बंधु होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न होई। (म.३, ११२८)

गुरु शब्द की दात बख़्शाता है और उसके उपदेश पर किया अमल शिष्य को बुरे कर्मों से बचाकर रखता है, और वह नये कर्ज़ इकट्ठे नहीं करता। प्रारब्ध

कर्मों का फल, अच्छा भी और बुरा भी, वह कर्ता का भाणा मानकर खुशी-खुशी भोग लेता है, उसके संचित कर्म शब्द की कमाई से खत्म हो जाते हैं, चाहे वे कितने ही हों : 'गुर का सबदु काटै कोटि करम' (रामानंद, ११९५)। जैसे लकड़ी के चाहे ढेरों के ढेर हों, आग की चिंगारी लगाते ही मिनिटों में जल जाते हैं ; सतगुरु का संरक्षण प्राप्त कर जीव अपने बड़े से बड़े पापों से मुक्त हो जाता है :

आनि आनि समधा बहु कीनी पलु बैसंतर भसम करीजै।
महा उग्र पाप साकत नर कीने मिलि साधू लूकी दीजै।
(म.४, १३२४)

फिर क्या :

चूका भारा करम का होए निहकरमा।
सागर ते कंढै चड़े गुरि कीने धरमा। (म.५, १००२)

कर्म

जब इह जानै मै किछु करता।
तब लगु गरभ जोनि महि फिरता। (म.५, २७८)

करम करत होवै निहकरम। तिसु बैसनो का निरमल धरम।
(म.५, २७४)

काहू फल की इछा नही बाछै। केवल भगति कीरतन संगि राचै।
अंतरि बहि कै करम कमावै सो चहु कुंडी जाणीऐ।
(म.५, १३८)

फलु तेवेहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ। (म.५, ४६८)

भ्रमु भउ काटि कीए निहकेवल जब ते हउमै मारी।
जनम मरण को चूको सहसा साध संगति दरसारी।
(म.५, २०७)

अगै करणी कीरति वाचीऐ बहि लेखा करि समझाइआ।
थाउ न होवी पउदीई हुणि सुणीऐ किआ रूआइआ।
(म.१, ४६४)

कबीर जेते पाप कीए राखे तलै दुराइ।
परगट भए निदान सभ जब पूछे धरमराइ। (कबीर, १३७०)

अनिक करम करि थाकिआ भाई फिरि फिरि बंधन पाइ।
(म.५, ६०८)

गुर का सबदु काटै कोटि करम (रामानंद, ११९५)

पाप करेदड़ सरपर मुठे। अजराईलि फड़े फड़ि कुठे।
दोजकि पाए सिरजणहारै लेखा मंगै बाणीआ।
संगि न कोई भईआ बेबा। मालु जोबनु धनु छोडि वञेसा।
करण करीम न जातो करता तिल पीड़े जिउ घाणीआ।
खुसि खुसि लेदा वसतु पराई। वेखै सुणे तेरै नालि खुदाई।
दुनिआ लबि पइआ खात अंदरि अगली गल न जाणीआ।
जमि जमि मरै मरै फिरि जंमै। बहुतु सजाइ पइआ देसि लंमै।
जिनि कीता तिसै न जाणी अंधा ता दुखु सहै पराणीआ।
(म.५, १०१९)

जैसा करे सु तैसा पावै। आपि बीजि आपे ही खावै।
(म.१, ६६२)

मंदा चंगा आपणा आपे ही कीता पावणा। (म.१, ४७०)

सभना का दरि लेखा होइ। करणी बाझहु तरै न कोइ।
(म.५, ९५२)

दोसु न दीजै काहू लोग। जे कमावनु सोई भोग। (म.५, ८८८)

लेखु न मिटई पुरबि कमाइआ किआ जाणा किआ होसी।
(म.१, ६८९)

जो धुरि लिखिआ सु करम कमाइआ।
कोइ न मेटै धुरि फुरमाइआ। (म.३, १०४४)

कुंट चारि दहदिसि भ्रमे करम किरति की रेख।
सूख दूख मुकति जोनि नानक लिखिओ लेख। (म.१, २५३)

खंडे धार गली अति भीड़ी। लेखा लीजै तिल जिउ पीड़ी।
(म.१, १०२८)

मगरमछु फहाईऐ कुंडी जालु वताइ।
दुरमति फाथा फाहीऐ फिरि फिरि पछोताइ।
जंमण मरणु न सुझई किरतु न मेटिआ जाइ। (म.१, १००९)

सो निहकरमी जो सबदु बीचारे। (म.३, १२८)

जेहा बीजै सो लुणै करमा संदड़ा खेतु। (म.५, १३४)

नानक सेवा करहु हरि गुर सफल दरसन की
फिरि लेखा मंगै न कोई। —म.४, ३०६

सेवा

सेवा किसी की भी की जाये, प्रशंसनीय मानी जाती है। यह अपने वृद्ध बुजुर्गों की हो सकती है, घर आये मेहमानों की, किसी बीमार की, अपने प्रदेश की, देश की या सम्पूर्ण मानवता की हो सकती है। श्रद्धा के साथ की गई किसी की भी सेवा व्यर्थ नहीं जाती, उसका लाभ होता है। अगर हम मित्रों-सम्बन्धियों के काम सँवारेंगे तो वे भी अवश्य बदले में हमारे काज सँवारेंगे। समाज पर किसी तरह का उपकार करेंगे तो हमें मान्-बड़ाई मिलेगी और अपने जैसे शहरियों के साथ ही हमारा खुद का भला भी होगा। इस प्रकार की सेवा के पीछे मुख्य रूप में सांसारिक सयानापन काम करता है; पर सच्ची तथा उत्तम सेवा वह है जो सांसारिक स्वार्थों से ऊँचे उठकर की जाये, परमार्थ की भावना के साथ, आत्मिक-उद्धार के हित के लिये—हरि की सेवा, सतगुरु की सेवा, नाम या शब्द की सेवा। यहाँ हमारे विचार का विषय इसी प्रकार की सेवा है।

हरि-सेवा :

गुरु अमरदास जी कहते हैं: 'हरि न सेवहि ते हरि ते दूरि' (म.३, ११७२)। सब महापुरुष प्रभु को अगम-अगोचर कहते आये हैं और अगम-अगोचर की कोई सेवा करना भी चाहे तो कैसे करे। इस समस्या का समाधान गुरु रामदास जी के निम्नलिखित वचन में मिलता है :

जो गुर कउ जनु पूजे सेवे सो जनु मेरे हरि प्रभ भावै।
हरि की सेवा सतिगुरु पूजहु करि किरपा आपि तरावै।
(म.४, १२६४)

सतगुरु की सेवा और पूजा, परमेश्वर की सेवा और पूजा के समान है, क्योंकि सतगुरु परमेश्वर का ही रूप होते हैं, इसलिये यह सेवा परमेश्वर को प्रसन्न करने का अचूक साधन बन जाती है। जिस प्राणी पर प्रभु दयालु होता है, उससे सतगुरु की सेवा कराता है और इस प्रकार उसके उद्धार का मार्ग खोल देता है। इसी प्रसंग में कबीर साहिब कहते हैं :

सतिगुरु पूजउ सदा सदा मनावउ।
ऐसी सेव दरगाह सुखु पावउ। (कबीर, ११५८)

किसी पुण्य-कर्म से कोई एक फल प्राप्त होता है, किसी से कोई दूसरा, पर गुरु-सेवा के उद्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों प्रकार के फल एक साथ मिल जाते हैं :

चारि पदारथ जे को मागै। साध जना की सेवा लागै।
(म.५, २६६)

इन चार पदार्थों से बहुमूल्य एक अन्य पदार्थ है, नाम। गुरु-सेवा के फलस्वरूप केवल नाम ही नहीं मिलता, बल्कि वह पूर्णतया अन्तःकरण में स्थित हो जाता है :

सतिगुर की सेवा सफल है जे को करे चितु लाइ।
नामु पदारथु पाईऐ अचिंतु वसै मनि आइ। (म.३, ५५२)

किसी भी जिज्ञासु के चाहने या माँगने के लिये परम-पद से ऊँची कोई वस्तु नहीं हो सकती, और गुरु के सेवक को वह भी अवश्य मिल जाता है। गुरु नानक साहिब इस प्राप्ति के बाद देखो, क्या कहते हैं :

रहै निरालमु एका सचु करणी।
परम पदु पाइआ सेवा गुर चरणी। (म.१, २२७)

और गुरु अर्जुन साहिब :

करि सेवा पारब्रहम गुर भुख रहै न काई।
सगल मनोरथ पुंनिआ अमरा पदु पाई॥ (म.५, ३१८)

सतगुरु की सेवा प्रभु से मिलाप करा देती है, और उससे मिलना, उसमें समा जाना, आत्मा की यात्रा का अन्तिम पड़ाव होता है। गुरु नानक साहिब के वचन हैं :

गुर सेवा प्रभु पाइआ सचु मुकति दुआरा। (म.१, २२८)

इस अत्यन्त वांछनीय अथवा चाहने योग्य सेवा के सम्बन्ध में गुरुवाणी में बड़े सुन्दर वचन मिलते हैं :

तनु मनु काटि काटि सभु अरपी विचि अगनी आपु जलाई।
पखा फेरी पाणी ढोवा जो देवहि सो खाई।
(म.४, ७५७)

या

केसा का करि बीजना संत चंउरु ढुलावउ।
सीसु निहारउ चरण तलि धूरि मुखि लावउ। (म.५, ७४५)

या

पखा फेरी पाणी ढोवा हरि जन कै पीसणु पीसि कमावा।
(म.५, ७४९)

सतगुरु के लिये अपने केश का चँवर डुलाना, अपने हाथों से पंखा झलना, उसके लिये पानी का गागर ढोना या चक्की में आटा पीसने जैसी कोई सेवा करने से निश्चित ही वह आनन्द प्राप्त होगा जिस पर लाखों हुकूमतें, धन-दौलत, नेतृत्व कुर्बान किये जा सकते हैं :

पाणी पखा पीसु दास कै तब होहि निहालु।
राज मिलख सिकदारीआ अगनी महि जालु। (म.५, ८११)

पर इसका अवसर तो किसी बिरले जीव को, बड़े ही उच्च भाग्यशाली को, प्राप्त होता है, बाकी लोग तो इसके लिये तरसते ही रह जाते हैं :

गुर की सेवा सो जनु पाए। जा कउ करमि लिखिआ धुरि आए।
(म.५, १२७०)

जीवात्मा को परमेश्वर से बिछुड़े हुए रखने और उसे आवागमन में भटकाने के ज़िम्मेदार उसके समय-समय पर किये बुरे कर्म होते हैं। गुरु-सेवा उसकी सब मलिनता धो देती है, उसके सब पाप काट देती है। परिणाम यह होता है कि वह दुबारा उसी तरह निर्मल और उज्ज्वल हो जाता है, जिस तरह अपने स्रोत से अलग होने के समय था, और इस प्रकार वह फिर उस मूल में समाने के योग्य हो जाता है :

सतिगुरु सेवि सरब फल पाए। जनम जनम की मैलु मिटाए।
(म.५, ११३८)

कोटि पराध मिटहि जन सेवा हरि कीरतनु रसि गाईऐ। (म.५, ६१०)

फिर न किसी बात का कोई डर या भय रहता है, न कोई दुःख सताता है और जीवन सुख-आनन्द की बहार बन जाता है :

जिनि गुरु सेविआ तिसु भउ न बिआपै।
जिनि गुरु सेविआ तिसु दुख न संतापै। (म.५, ११४२)

सतिगुरु सेवि सदा सुखु पाइआ फिरि दुखु न लागै धाइ।

(म.३, ११३२)

अगर कहीं शहद की बूँद गिर जाये तो उसका लाभ उठाने के लिये एक चींटी नहीं पहुँचती, अनेक जा पहुँचती हैं। और यही बात पूर्ण सतगुरु की है। उसकी संगत में से कौन-सा शिष्य नहीं चाहेगा कि उस पर पंखा झलने, उसके लिये पानी ढोने, उसके लिये आटा पीसने, आसन बिछाने, उसके चरण धोने का सौभाग्य भाग में आये, पर गुरु यह सेवा कितने लोगों में बाँट पायेगा? इस सेवा का फल अनन्त है इसलिये इसे हरएक करना चाहता है। इस समस्या के विषय में प्रकाश ढूँढें तो भी महापुरुष हमें मायूस नहीं करेंगे। सोरठ राग की वार में आता है:

सतिगुर की सेवा गाखड़ी सिरु दीजै आपु गवाइ।
सबदि मरहि फिरि ना मरहि ता सेवा पवै सभ थाइ। (म.३, ६४९)

शब्द की सेवा :

अर्थात, सतगुरु की सेवा करना तो कठिन है पर अगर कोई प्रेमी अपने अहंभाव को मिटाकर शब्द में लीन हो जाये तो उसकी गुरु-सेवा सफल हो जाती है और उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता।

शिष्य ने यदि खुद सतगुरु के लिये कुछ नहीं किया तो भी उसकी सेवा स्वीकार हो गई। आखिर क्यों? इसलिये कि सतगुरु मनुष्य शरीर में शब्द का स्वरूप होता है और जब शिष्य अपने अहं से मुक्त होकर शब्द-अभ्यास द्वारा, शब्द में समा जाता है और उसका शब्द से अलग कोई अस्तित्व बाकी नहीं रहता, तो वह इससे अधिक शब्द के लिये क्या करेगा। सुरत रूप शिष्य का शब्द रूप गुरु में लिव जोड़कर अपने आपको शब्द में लीन कर देना गुरु की सर्वोत्तम सेवा है।

गुरु की सेवा शिष्य के खुद करने से नहीं हो जाती, परमेश्वर दया करता है तो इस सेवा की प्रेरणा मिलती है, इसका अवसर मिलता है। इस हकीकत को समझना चाहिये और सेवा करते हुए गुरु पर अहसान करने की भावना नहीं होनी चाहिए बल्कि अपने आपको उसके और परमेश्वर के ऋणी मानना चाहिए:

गुर की सेवा सो करे पिआरे जिस नो होइ दइआला। (म.५, ८०२)

सतगुरु के हुक्म में, उसकी रज़ा में, की गई सेवा ही स्वीकार होती है। उससे कर्म कटते हैं, हरि मन में आकर बसता है:

गुर पूछि सेवा करहि सचु निरमलु मंनि वसाहि। (म.३, ४२८)

यही नहीं, सेवक ऐसी सेवा के फलस्वरूप खुद शब्द-गुरु के रूप में ढल जाता है:

जेहा सेवै तेहो होवै जे चलै तिसै रजाइ। (म.३, ५४९)

गुरु-सेवा से तन और मन निर्मल हो जाते हैं:

गुर सेवा ते जनु निरमल होइ। (म.३, ६६४)

मैं-मेरी और तृष्णा मिट जाती है:

गुर सेवा ते अंमृत फलु पाइआ हउमै त्रिसन बुझाई। (म.३, ११५५)

अभ्यासी अपने मूल को पहचान लेता है:

गुर सेवा ते आपु पछाता। (म.१, ४१५)

सेवा धन से, तन से या मन से की जाती है। सतगुरु स्वयं परम त्यागी होते हैं, और आत्मिक दौलत से माला-माल होते हैं। उन्हें शिष्य के धन की क्या आवश्यकता है? वे स्वयं तो किसी से दमड़ी तक नहीं लेते। शिष्य में इस प्रकार की सेवा की रुचि होती है तो सतगुरु उससे संगत की सेवा करा देते हैं। उनकी संगत की सेवा भी सतगुरु की सेवा ही मानी जाती है। इससे लोभ की भावना कम होती है, सन्तोष उत्पन्न होता है, और इस तरह मन के निर्मल होने में सहायता मिलती है। तन से सतगुरु की निजी सेवा करने का अवसर किस-किस को प्राप्त हो सकता है? यह सेवा भी साध-संगत की सेवा करके ही की जाती है, और इससे नम्रता के गुण प्राप्त होते हैं। मन की सेवा का मतलब है अपने आपकी शारीरिक स्वादों, विषय-विकारों से मोड़ना और भाँति-भाँति के सांसारिक झगड़ों से दूर रहकर सतगुरु की बताई विधि के अनुसार भजन-सुमिरन में जुट जाना। सेवा कोई भी हो, निष्काम भाव से करनी चाहिये, किसी मान-बड़ाई या किसी अन्य स्वार्थ या मतलब से नहीं। सच्चे हृदय से, प्रेम-प्यार सहित, एक-चित्त होकर सुरत को शब्द से जोड़ना सबसे ऊँची, सार सेवा है, और यह भाग्यशाली जीवों को सतगुरु की दया द्वारा ही प्राप्त होती है:

करमु होवै सतिगुरू मिलाए। सेवा सुरति सबदि चितु लाए।

(म.३, १०९)

सेवा के लाभप्रद होने के लिये आवश्यक है कि यह जी-जान से की जाये, तन और मन दोनों अर्पण करके की जाये। इस सन्दर्भ में गुरु अंगद साहिब के आदर्श सेवक, अमरदास महाराज जी की शिक्षा उत्तम मार्गदर्शन करती है:

हसती सिरि जिउ अंकसु है अहरणि जिउ सिरु देइ।
मनु तनु आगै राखि कै ऊभी सेव करेइ। (म.३, ६४७)

हाथी की गर्दन महावत के आगे झुकी रहती है, उसकी मरज़ी जहाँ चाहे अंकुश मारे, जितना भी चाहे कसकर मारे। अहिरन लुहार से कोई सवाल-जवाब नहीं करता। वह चाहे हलकी हथौड़ी काम में ले, चाहे मोटा घन, एक हाथ से चोट मारे या दोनों से। शिष्य इसी प्रकार सतगुरु के हर हुक्म का पालन करता है; उसके उचित या अनुचित होने के बारे तर्क के घोड़े नहीं दौड़ाता। मोल खरीदे गये दास की कोई मरज़ी नहीं होती, न सच्चे शिष्य या सेवक की कोई मरज़ी होती है :

गुरि कहिआ सा कार कमावहु।
गुर की करणी काहे धावहु। (म.१, ९३३)

इस तरह की नम्रतापूर्ण सेवा से शिष्य स्वयं ही नहीं तर जाता, उसके कुल भी तर जाते हैं :

गुर सेवा ते सभ कुल उधारे। निरमल नामु रखै उरिधारे। (म.३, ४२३)

सेवा

पूरा सतिगुरु सेवि पूरा पाइआ। (म.३, १२८६)
सतिगुरु सेवि सदा सुखु पाइआ फिरि दुखु न लागै धाइ।
नानक हरि भगति परापति होई जोती जोति समाइ। (म.३, ११३२)

गुर सेवा आपि हरि भावै। (म.३, १६५)
गुर पूरे की सेवा पाइआ ऐथै ओथै निबहै नालि। (म.५, १२७१)
सो सेवकु हरि आखीए जो हरि राखै उरि धारि।
मनु तनु सउपे आगै धरे हउमै विचहु मारि। (म.३, २८)
गुर की सेवा सबदु वीचारु। हउमै मारे करणी सारु। (म.३, २२३)
रामु नामु वापारा अगम अपारा गुरमती धनु पाईऐ।
सेवा सुरति भगति इह साची विचहु आपु गवाईऐ। (म.३, २४६)
सतिगुर की सेवा सफलु है जेको करे चितु लाइ।
मनि चिंदिआ फलु पावणा हउमै विचहु जाइ। (म.३, ६४४)

सेवको गुर सेवा लागा जिनि मनु तनु अरपि चड़ाइआ राम। (म.४, ४४४)

गुर की सेवा करहु दिन राति। सूख सहज मनि आवै साति। (म.५, ७४१)

सतिगुर सेवा जम की काणि चुकाई।
हरि प्रभु मिलिआ महलु घरु पाई। (म.३, १२६१)
एहा सेवा चाकरी नामु वसै मनि आइ।
नामै ही ते सुखु पाईऐ सचै सबदि सुहाइ। (म.१, ३४)
विचि दुनीआ सेव कमाईऐ। ता दरगह बैसणु पाईऐ। (म.१, २६)
नानक सेवा करहु हरि गुरु सफल दरसन की
फिरि लेखा मंगै न कोई। (म.४, ३०६)
धंनु धनु सेवा सफल सतिगुरू की जितु हरि हरि नामु
जपि हरिसुखु पाइआ। (म.४, १६६)
सतिगुर सेवे ता सहज धुनि उपजै गति मति तद ही पाए। (म.३, ६०४)

सतिगुरु सेवि देखहु प्रभु नैनी। (म.१, ४१६)
गुरु सेवे सो ठाकुर जानै। दुखु मिटै सचु सबदि पछानै। (म.१, ४१६)

धर्म-कर्म

जपु तपु संजमु साधीऐ
तीरथि कीचै वासु।
पुंन दान चंगिआईआ
बिनु साचे किआ तासु।

—म.१, ५६

धर्म-कर्म

माया को मोहिनी इसलिये कहा जाता है कि वह अच्छे भले समझदार लोगों को ऐसे विश्वासों में उलझा देती है जिनकी कोई बुनियाद ही नहीं होती। इस प्रकार के बहुत से प्रचलित विश्वासों में से एक यह है कि किसी मन्त्र, वाक्य या पुस्तक में लिखित बात का उच्चारण या पाठ परमार्थ के लिये अति लाभदायक कर्म है। उस छली नागिन के भरमाये भोले-भाले लोग यह भी बड़ी शान से स्वीकार कर लेते हैं कि जो कुछ वे आँखों से पढ़ते या जिह्वा से दोहराते हैं, उसके द्वारा मिलनेवाली शिक्षा पर चलना ज़रूरी नहीं, बल्कि पाठ की सामग्री के सार-भाव को समझने का प्रयत्न भी अनावश्यक है।

सच्चे उपदेश पर चलना सचमुच काफी कठिन होता है, क्योंकि इसके लिये कुछ मन-पसन्द बातों को त्यागना और कुछ नापसन्द बातों को अपनाना पड़ता है। उसके तत्व को ग्रहण करने के लिये भी मन की एकाग्रता और बुद्धि के यत्न के बिना काम नहीं चलता। इसलिये इस प्रकार के सारे झंझट से बचने के लिये निश्चय कर लिया जाता है कि पाठ खुद करना या कुछ भेंट करके किसी और से करवा लेना एक ही बात है। परिणाम यह होता है कि मन और चित्त से खुद पाठ करना तो दूर रहा, जहाँ वह किया जा रहा है वहाँ उसके महात्म्य का इच्छुक शारीरिक तौर से भी उसके आसपास नहीं होता।

माया के इस भुलावे के विपरीत सन्तों-महापुरुषों की वाणी से पता चलता है कि किसी धर्म-शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तक या मन्त्र का पाठ, केवल पाठ, अभ्यासी द्वारा खुद किये जाने पर भी दूर नहीं ले जाता। वह उसी प्रकार निरर्थक होता है जिस प्रकार केवल पानी को बिलोना; शायद उससे भी बुरा। यही नहीं इस सस्ती और आसान साधना से आध्यात्मिक तरक्की कर लेने का गुमान हो जाता है और फिर सच्चे मार्ग पर चलना तो दूर रहा, उसके बारे में जानकारी प्राप्त करने की भी ज़रूरत महसूस नहीं होती।

किसी भी पुस्तक या पुस्तकों को पढ़ लेने मात्र की उपयोगिता के बारे में गुरु नानक साहिब कहते हैं :

पड़ि पड़ि गडी लदीअहि पड़ि पड़ि भरीअहि साथ।
पड़ि पड़ि बेड़ी पाईऐ पड़ि पड़ि गडीअहि खात।
पड़ीअहि जेते बरस बरस पड़ीअहि जेते मास।
पड़ीऐ जेती आरजा पड़ीअहि जेते सास।
नानक लेखै इक गल होरु हउमै झखणा झाख। (म.१, ४६७)

आपका तात्पर्य है कि अगर आपने इतनी पुस्तकें पढ़ ली हैं कि उनसे घर के गोदाम भरे पड़े हैं और अगर उन्हें कहीं बाहर ले जाना हो तो उनसे कितनी ही बैलगाड़ियाँ भर जाती हैं, बैलों, ऊँटों के काफ़िले लद जाते हैं। उनको किसी नदी आदि पार ले जाने के लिये कई नावों की आवश्यकता पड़ती है, और उनका पाठ आपने ऐसी गम्भीरता के साथ जारी रखा है कि उसमें महीने ही नहीं, वर्ष भी नहीं, पूरी उमर ही गुज़ार दी है, जीवन की हर साँस उसके लेखे लगा दी है; तो भी ये सारे यत्न केवल व्यर्थ ही थे क्योंकि उस पाठ से आप अपने हौमैं की लपटों में और अधिक ईंधन फेंकते रहे हैं, अपने अहंकार में ही वृद्धि करते गये हैं। आपको प्रभु की दया के पात्र बनाने वाली वस्तु तो और ही थी—नाम, और पुस्तकों का पाठ चाहे वह कुछ भी हो, नाम नहीं होता। केवल पढ़ते रहने से तो मनुष्य अपने आपको और तपाता है, दुःखी करता है :

लिखि लिखि पड़िआ तेता कड़िआ। (म.१, ४६७)

गुरु अमरदास जी के अनुसार अगर किसी ने सारे शास्त्र, स्मृति आदि को पढ़ लिया हो; केवल खुद ही न पढ़े हों उनको पढ़ाने की योग्यता भी रखता हो, उनको पढ़ाने का अभ्यास भी हो, फिर भी जब तक सतगुरु की शरण न ली जाये तत्व वस्तु पल्ले नहीं पड़ती, और अपने आप किया गया प्रभु-प्राप्ति का यत्न फलीभूत होने की बजाय दुःखों का सामान पैदा कर देता है :

सिमृति सासत बेद वखाणै। भरमे भूला ततु न जाणै।
बिनु सतिगुर सेवे सुखु न पाए दुखो दुख कमावणिआ। (म.३, ११४)

गुरु अर्जुन साहिब ने उक्त विचार का समर्थन इन शब्दों में किया है :

बेद कतेब सिमृति सभि सासत इन पड़िआ मुकति न होई।
एकु अखरु जो गुरमुखि जापै तिस की निरमल सोई। (म.५, ७४७)

चाहे कोई चारों वेदों को पढ़ ले, सब स्मृतियाँ, कुल शास्त्र तथा अन्य धार्मिक पुस्तकें पढ़ ले, तो भी वह मुक्ति का अधिकारी नहीं बनेगा। निज-धाम में तो उस व्यक्ति को आदर मिलता है जो गुरु की शिक्षा पर चलते हुए प्रभु के नाम

की कमाई करता है।

सच तो यह है कि परम-गति के इच्छुकों के लिये पढ़ने की तो परमात्मा ने कोई शर्त ही नहीं रखी है :

जो प्राणी गोविंदु धिआवै।
पड़िआ अणपड़िआ परम गति पावै। (म.५, १९७)

कई लोग तन को कष्ट देकर मन को उसकी मलिनताओं से मुक्त करने के उद्देश्य से तप करते हैं, कोई उसे आग में तपाता है (चारों ओर आग और पाँचवीं ऊपर से सूर्य की ताप), या फिर अधिक सर्दी की ऋतु में नंगे शरीर को शीतल जल की गागरों से ठारता है। कोई कीलों की सेज पर लेटता है, कोई एक टाँग के सहारे खड़े होने का कष्ट झेलता है, इत्यादि। इस प्रकार के बहुत से तप करनेवालों की दृष्टि मान-बड़ाई या धन एकत्रित करने पर केन्द्रित रहती है। वैसे भी तप की क्रिया साँप मारने के लिये बाँबी को पीटने की तरह है। तप-साधना मन की प्रेरणा के अधीन की जाती है, और जब तन पीड़ा सहता है मन खुद अन्दर अपने आराम-घर में बैठकर तमाशा देखता रहता है। शरीर हरि-मन्दिर है; उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचाने वाला कोई यत्न हरि की प्राप्ति का कदम नहीं हो सकता।

गुरु नानक साहिब बताते हैं कि अपने आपको और छोटे-बड़े कष्ट देने की तो बात छोड़ो, जो कोई अपने शरीर को करवत के द्वारा चिरवा ले, या उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके यज्ञ की अग्नि में जला दे, बल्कि अपने तन और मन दोनों को यज्ञ की लकड़ियाँ मानकर दिन-रात जलाता जाये या फिर अपने शरीर को पहाड़ की बर्फ़ में गला दे तो भी वह अपने हौमैं के रोग से मुक्त नहीं हो सकेगा, न उसकी यह कष्टपूर्ण करनी किसी भी तरह नाम के अभ्यास की बराबरी कर पायेगी :

तनु बैसंतरि होमीऐ इक रती तोलि कटाइ।
तनु मनु समधा जे करी अनदिनु अगनि जलाइ।
हरिनामै तुलि न पुजई जे लख कोटी करम कमाइ।
अरध सरीरु कटाईऐ सिरि करवतु धराइ।
तनु हैमंचलि गालीऐ भी मन ते रोगु न जाइ।
हरिनामै तुलि न पुजई सभ डिठी ठोकि वजाइ। (म.१, ६२)

अलग-अलग लोगों ने अपने मन की सुन और मानकर पूजा करने के

अपनी-अपनी पसन्द के ढंग अपनाये हैं। गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं :

पूजा करै सभु लोकु संतहु मनमुखि थाइ न पाई।
सबदि मरै मनु निरमलु संतहु एह पूजा थाइ पाई।
पवित पावन से जन साचे एक सबदि लिव लाई।
बिनु नावै होर पूज न होवी भरमि भुली लोकाई। (म.३, ९१०)

तीर्थ :

अनेक लोग इस भ्रम में उलझे हुए हैं कि किसी विशेष स्थान पर बह रहे या स्थिर पानी में स्नान कर लेने से अगले-पिछले सभी कर्मों की समाप्ति हो जाती है और इस प्रकार कुदरती तौर से मुक्ति-पदार्थ के अधिकारी बन जाते हैं। इस फल की आशा के साथ वह प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा के लिये लम्बे-लम्बे रास्ते नापते हैं।

यह सही है कि सन्त-महात्मा अपनी साधना की सुविधा के लिये आबादी के शोर से दूर किसी नदी के किनारे, पर्वत की गुफा में या वन के एकान्त में जाकर वास करते रहे हैं और उनके चरणों की धूलि पाकर वे स्थान कृतार्थ हो गये हैं। पर न किसी स्थान पर पहुँचा कोई पानी और न किसी जगह रहने या बैठने के काम आये कोई ईंट, पत्थर या वृक्ष ही करामाती बन जाते हैं। कर्मों के बीज बड़े सख़्त होते हैं। वे किसी तीर्थ की हवा या पानी के मारने से नहीं मरते। इस ध्येय की पूर्ति के लिये किया गया गलत उपाय उलटे उनके बढ़ने और फूलने में सहायक बन सकता है। गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

नावण चले तीरथी मनि खोटे तनि चोर।
इकु भाउ लथी नातिआ दुइ भा चड़ीअसु होर।
बाहरि धोती तूमड़ी अंदरि विसु निकोर।
साध भले अणनातिआ चोर सि चोरा चोर। (म.१, ७८९)

जो मलिनताएँ मनुष्य ने अपने जीवन-काल में एकत्रित की हैं, उनका केश रंगने के रंग की तरह बाहर ही लेप नहीं होता, न किये हुए कर्मों के लेखे छाती या मस्तक की चमड़ी पर अंकित होते हैं। शरीर पर फेंका हुआ तीर्थ का पानी तो दूर रहा तेज़ाब तक उन पर असर नहीं करता। अच्छी तरह साफ की हुई तुंबी बाहर से साफ़-सुथरी दिखाई देने लगती है, पर उसके अन्दर चिपके कड़वेपन में थोड़ा भी अन्तर नहीं आता। इतना ही लाभ तीर्थ-स्नान से मिलता है। कबीर साहिब की वाणी में आता है :

जल कै मजनि जे गति होवै नित नित मेंडुक नावहि।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवहि। (कबीर, ४८४)

मेंढक तीर्थ पर स्नान करके चले नहीं जाते, चौबीस घण्टे स्नान करते ही रहते हैं। यदि उनके इस अखण्ड पुण्य-कर्म का कोई मूल्य होता तो वे खुद ही नहीं उनके सम्पूर्ण कुल तर जाते।

किसी एक तीर्थ का तो कहना ही क्या, अगर कोई अड़सठ के अड़सठ प्रमुख तीर्थों में डुबकी लगा आये, संसार के हरएक कथित धर्म-स्थान पर जाये और कर्मकाण्डी विशुद्धता की हर विधि अपना ले तो भी वह मैला और ज्ञान के प्रकाश से रहित रहेगा :

अठसठि मजनु करि इसनाना भ्रमि आए धर सारी।
अनिक सोच करहि दिन राती बिनु सतिगुर अंधिआरी। (म.५, ४९५)

नामदेव जी को उनके गुरु ने संसार के सभी तीर्थ अपने हृदय के अन्दर ही दिखा दिये तो आपने निश्चय किया कि मैं अब इनमें ही स्नान करूँगा, बाहर के तीर्थों में रह रहे जल-जन्तुओं को क्यों परेशान करूँ :

तीरथ देखि न जल महि पैसउ जीअ जंत न सतावउगो।
अठसठि तीरथ गुरू दिखाए घट ही भीतरि न्हाउगो।
(नामदेव ९७३)

वे तीर्थ नामदेव जी के ही अन्दर नहीं थे, हरएक के अन्दर हैं। आपके और मेरे अन्दर भी। बस, वह गुरु चाहिए जो उनको दिखा दे :

सबदि मरै सोई जनु पूरा। सतिगुरु आखि सुणाए सूरा।
काइआ अंदरि अंमृतसरु साचा मनु पीवै भाइ सुभाई हे।
(म.३, १०४६)

जब सच्चे अमृत का सरोवर हमारे अन्दर है तो फिर कहीं बाहर क्यों जायें?

दान :

दान के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि सच्चा अभ्यासी ईमानदारीपूर्ण मेहनत से अपना गुज़ारा करता है और अपनी कमाई में से, जितना हो सके, उपकार के लिये भी खर्च करता है। दान प्रामाणिक शुभ कर्मों में से एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके द्वारा दया की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, सन्तोष की प्राप्ति होती है, माया का मोह कम होता है। शायद इस बात को दोहराना गलत नहीं होगा कि जो कुछ हाथ से दिया जाये वह सही अर्थों में

अपना होना चाहिए और वह भी निजी उद्यम से की गई नेक कमाई :

नानक अगै सो मिलै जि खटे घाले देइ। (म.१, ४७२)

अगर कोई चोरी, डाका, ग़बन या धोखे द्वारा प्राप्त किया हीरा, रत्न या आभूषण बिकता हुआ कई हाथों से निकल जाये तो भी सुराग मिलते ही पुलिस उसे तुरन्त पकड़ लेती है और अदालत के हुक्म से उस रत्न को उसके असली मालिक को लौटा देती है। दुर्भाग्य से कब्ज़ा बदल जाता है, स्वामित्व नहीं बदलता। प्रभु के घर का न्याय और भी सच्चा और पवित्र है। यह कैसे हो सकता है कि कोई पाप द्वारा धन कमाये और फिर उसका थोड़ा-बहुत भाग धर्म-स्थानों में चढ़ाकर परमेश्वर को खुश कर ले। इस प्रकार अन्तर्यामी प्रभु को अपने कुकर्मों में साझी बनाने के इच्छुक उसे नहीं स्वयं अपने आपको धोखा देते हैं।

दान देते समय पात्र-कुपात्र भी देखना ज़रूरी है। अगर किसी निखट्टू का फ़कीरों जैसा वेष देखकर या उसका गिड़गिड़ाना मात्र सुनकर उसकी माँग पूरी कर दी जाये तो बहुत सम्भव है कि वह हाथ आये पैसों से शराब या कोई अन्य प्रकार के नशे की लत पूरी करने चला जाये या उसे माँस, मछली जैसी निकृष्ट वस्तु खाने पर खर्च कर दे और इसके परिणामस्वरूप दान देनेवाला पुण्य के स्थान पर पाप का अधिकारी बन जाये।

किसी नंगे, भूखे, बीमार या अपंग की कोई सहायता करके फूल नहीं जाना चाहिए, 'मैं बड़ा धर्मात्मा बन गया हूँ।' गुरु नानक साहिब कहते हैं कि अगर अनेक गायें, बढ़िया घोड़े, हाथी, ज़मीनें और यहाँ तक कि सोने के किले तक दान कर दिये जायें पर मन में उस दान का अहंकार हो जाये तो क्या लाभ हुआ :

कंचन के कोट दतु करी बहु हैवर गैवर दानु।
भूमि दानु गऊआ घणी भी अंतरि गरबु गुमानु। (म.१, ६२)

यह तो उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई हाथी अच्छी तरह स्नान करके शरीर पर मिट्टी और धूल फेंक ले :

तीरथ बरत अरु दान करि मन मै धरै गुमानु।
नानक निहफल जात तिहि जिउ कुंचर इसनानु। (म.९, १४२८)

धार्मिक-उत्सवों के समय कोई चतुर व्यक्ति मुर्गा पकड़े बैठा मिलता है। एक दयावान यात्री उसे पच्चीस पैसे देता है और मुर्गे वाला उस मौत की प्रतीक्षा कर रहे जानवर की टाँगों से रस्सी खोल देता है। मुर्गा उड़ जाता है और इस प्रकार वह यात्री अपनी तरफ से एक निर्दोष जीव की जान बचाने का पुण्य कमा

लेता है। पर वह भला आदमी अभी कुछ ही कदम आगे जाता है कि मुर्गा फिर काबू कर लिया जाता है और फिर कोई पहले जैसा ही उदार-हृदय उसकी जीवन-रक्षा के लिये पहुँच जाता है। उन नेक पुरुषों को भली-भाँति मालूम होता है कि मुर्गा कई रुपयों की कीमत का है और उसका मालिक केवल पच्चीस पैसों के बदले उसे हाथ से नहीं गँवायेगा, लेकिन फिर भी वे बहुत हानि उठाये बिना अपने आपको जीव-रक्षक होने का चकमा देना पसन्द करते हैं।

इसी प्रकार गाय दान की जाती है। पुरोहित जी ने कोई आवारा घूम रही बछिया पकड़ ली, उसके गले में अंगोछा डाल दिया और सवा रुपया प्राप्त करके यजमान से चुल्ली छुड़ा ली। अपनी दक्षिणा जेब में डालकर पुरोहित बछिया के गले से अंगोछा उतार लेता है, और गौ-दान का नाटक समाप्त हो जाता है। ऐसी दानशीलता के लिये कौन किसी को वैतरणी से पार करेगा। जैसा दिखावटी गोदान लोग करते हैं वैसी ही नाव अगले लोक की नदी के किनारे उनकी प्रतीक्षा करती मिलेगी।

अगर किसी ने सौ-पचास भले आदमी इकट्ठे करके उनको खीर-पूरी खिलाई हो और मनोरथ हो अपनी दानवीरता का प्रभाव डालकर आनेवाले चुनाव में वोट हथियाना, तो इस कर्म का फल तो यहाँ ही मिल जायेगा, आगे साथ क्या जायेगा। यही बात अन्य स्वार्थपूर्ण कर्मों की है।

मन के कहे लगकर या देखा-देखी किये गये छोटे-बड़े धर्म-कर्मों का फल यमराज के दूत मार्ग में ही ले लेते हैं, जैसे किसी मुसाफिर की रेज़गारी ठण्डे पानी का गिलास या चाय के प्याले पर ही खर्च हो जाये। गुरु अर्जुन साहिब के वचन हैं :

करम धरम पाखंड जो दीसहि तिन जमु जागाती लूटै। (म.५, ७४७)

जब जीव अपना स्थूल शरीर त्यागता है तो उसे सूक्ष्म या लिंग शरीर मिल जाता है। यह शरीर सत्रह तत्वों का बना होता है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रा, मन और बुद्धि। यद्यपि इन्द्रियों का रूप बदल जाता है, उनकी वृत्तियों में अन्तर नहीं आता। इसीलिये इस शरीर को भूख, प्यास आदि पहले की तरह ही सताती रहती हैं। उसे अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिये यमदूतों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है और वे अपने अहसानों के लिये कीमत वसूल करने से नहीं चूकते। इस प्रकार कर्मकाण्डी कर्मों के फल लेखे वाले स्थान पर पहुँचने से पहले ही बिखर जाते हैं :

हरि बिनु अवर क्रिआ बिरथे।
जप तप संजम करम कमाणे इहि ओरै मूसे। (म.५, २१६)

इस प्रकार के कर्म करना कौड़ियाँ इकट्ठी करने के समान है :

बरत नेम संजम महि रहता तिन का आढु न पाइआ। (म.५, २१६)

'आढ' आधे पैसे को कहते हैं। जिस वस्तु का मूल्य आधा पैसा भी नहीं, उसकी प्राप्ति के लिये कोई क्यों मेहनत करे। फिर मण्डी-मण्डी का भी फ़रक होता है। यहाँ उनको कोई कितना ही मूल्यवान समझता हो, प्रभु के बाज़ार में उनका मोल खोटे सिक्कों से अधिक नहीं।

कोई व्यक्ति छः शास्त्रों का ज्ञाता हो, पूरी विधि से प्राणायाम करता हो, ध्यान लगाता हो, तीर्थ-यात्रा करता हो, अपने हाथों से भोजन तैयार करके खाता हो, शारीरिक शुद्धि का इतना ध्यान रखता हो कि कोई और उसको छू न पाये, घर-बार त्यागकर जंगल में बसता हो, तब भी अगर उसने नाम से प्रीति नहीं की तो उसका ऊपर कहे अनुसार सब किया-कराया व्यर्थ होगा। उससे प्रभु को दिल में बसा लेनेवाला चाण्डाल कहीं अच्छा है :

डंडा खटु सासत्र होइ डिआता। पूरकु कुंभक रेचक करमाता।
डिआन धिआन तीरथ इसनानी। सोमपाक अपरस उदिआनी।
राम नाम संगि मनि नही हेता। जो कछु कीनो सोऊ अनेता।
उआ ते ऊतमु गनउ चंडाला। नानक जिह मनि बसहि गुपाला।
(म.५, २५३)

कबीर साहिब ने एक मालिन को किसी मूर्ति की पूजा के लिये पत्ते तोड़ते देखा तो उसके भोलेपन को देखकर तरस आया और उसको अच्छी मति देते हुए कहा कि जिस पत्थर के लिये तू पत्ते तोड़ रही है वह निर्जीव है, जबकि पत्ते सजीव हैं। हे भूली हुई मालिन! यह सजीव भेंट जीवित इष्ट को अर्पण करनी चाहिए और ऐसे इष्ट सतगुरु ही हैं :

पाती तोरै मालिनी पाती पाती जीउ।
जिसु पाहन कउ पाती तोरै सो पाहन निरजीउ।
भूली मालनी है एउ। सतिगुरु जागता है देउ। (कबीर, ४७९)

बाहर से मुँह को ताला लगाकर रखने का भी कोई लाभ नहीं अगर अन्तर में संकल्प-विकल्प शोर मचाते रहें, शरीर की भूख निरन्तर व्याकुल करती रहे तथा तृष्णा की डुगडुगी किसी भी पल बजना बन्द न हो :

बोलै नाही होइ बैठा मोनी।
अंतरि कलप भवाईऐ जोनी। (म.५, १३४८)

बेणी साहिब ने कहा है कि केवल चुपचाप ध्यान का नाटक करने से क्या प्राप्त होगा, ऐसा तो कुटिल बगुला बड़ी देर और सारी उमर करता रहता है :

ठग दिसटि बगा लिव लागा। (बेणी, १३५१)

केवल कन्द-मूल को जीवन का आधार बनानेवाला एक साधक गुरु नानक साहिब से मिला तो आपने कहा :

एकु सबदु दूजा होरु नासति कंद मूलि मनु लावसिता। (म.१, १५५)

केवल साग-सब्ज़ी खाकर ही पार उतरना सम्भव नहीं। शब्द के बिना और कोई चीज़ यह मनोरथ पूरा नहीं कर सकती :

जपु तपु करि करि संजम थाकी हठि निग्रहि नही पाईऐ।
नानक सहजि मिले जग जीवन सतिगुर बूझ बुझाईऐ। (म.१, ४३६)

परमेश्वर तक पहुँचने का मार्ग केवल नाम या शब्द का अभ्यास है, फिर भी कई लोग समझते हैं कि इसके लिये वस्त्र त्यागकर नंगे फिरना ही काफी है। उनको समझाने के लिये कबीर साहिब फ़रमाते हैं :

नगन फिरत जौ पाईऐ जोगु। बन का मिरगु मुकति सभु होगु।
(कबीर, ३२४)

अगर नंगे फिरने से ही योगी बना जा सकता है तो जंगलों में फिरनेवाले लाखों मृग कब के मुक्त हो गये होते। सो केवल कपड़े उतार देने से या उनके स्थान पर खाल से तन ढकने से कुछ नहीं बनेगा। इसी प्रकार सिर मुँडा लेनेवालों के प्रति आपने कहा है कि अगर बालों की जड़ों तक सिर मुँडाने से उद्धार हो जाता तो ऊन की प्राप्ति के लिये बार-बार मूँडि जानेवाली भेड़ें मुक्ति से वंचित न रहतीं :

मूड मुंडाए जो सिधि पाई। मुकती भेड न गईआ काई।
(कबीर, ३२४)

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य धारण कर लेना ही भवसागर से तर जाने का साधन नहीं बन सकता। नहीं तो हिंजड़े, जो जन्म से ब्रह्मचारी होते हैं, निश्चय ही परम-पद के अधिकारी हो जाते :

बिंदु राखि जौ तरीऐ भाइ। खुसरै किउ न परम गति पाई।
(कबीर, ३२४)

सच तो यह है कि नाम की कमाई करने के सिवाय कभी किसी को गति प्राप्त नहीं हुई :

कहु कबीर सुनहु नर भाई। राम नाम बिनु किनि गति पाई।

(कबीर, ३२४)

पेट को घुमाकर आँतड़ियों की सफ़ाई करना, सोई हुई कुण्डलिनी को जगाना और प्राणायाम जैसे अन्य योग के साधन मन-हठ के कर्म हैं। वे अभ्यासी को उबारते नहीं, उसे डुबाने का कारण बनते हैं :

निवली करम भुअंगम भाठी रेचक पूरक कुंभ करै।
बिनु सतिगुर किछु सोझी नाही भरमे भूला बूडि मरै।
अंधा भरिआ भरि भरि धोवै अंतर की मलु कदे न लहै।
नाम बिना फोकट सभि करमा जिउ बाजीगरु भरमि भुलै।

(म.१, १३४३)

'नाम बिना फोकट सभि करमा।' पाँच शब्दों से इस आधी तुक की रचना करके गुरु नानक साहिब ने गागर में सागर भर दिया है। इससे आगे कोई कुछ कहे तो क्या कहे ?

धर्म-कर्म

पंडित पड़हि सादु न पावहि। दूजै भाइ माइआ मनु भरमावहि।

(म.३, ११६)

अंतरि रतनु मिलै मिलाइआ त्रिबिधि मनसा त्रिबिधि माइआ।
पड़ि पड़ि पंडित मोनी थके चउथे पद की सार न पावणिआ।

(म.३, ११७)

चतुर बेद मुखबचनी उचरै आगै महलु न पाईऐ।
बूझै नाही एकु सुधाखरु ओहु सगली झाख झखाईऐ।

(म.५, २१६)

पड़ि पड़ि पंड़ित मोनी थके बेदां का अभिआसु।
हरि नामु चिति न आवई नह निज घरि होवै वासु। (म.३, १२७७)
लख नेकीआ चंगिआईआ लख पुंना परवाणु।
लख तप उपरि तीरथां सहज जोग बेबाण।
लख सूरतण संगराम रण महि छुटहि पराण।
लख सुरती लख गिआन धिआन पड़ीअहि पाठ पुराण।

जिनि करतै करणा कीआ लिखिआ आवण जाणु।
नानक मती मिथिआ करमु सचा नीसाणु।

(म.१, ४६७)

जपु तपु संजमु साधीऐ तीरथि कीचै वासु।
पुंन दान चंगिआईआ बिनु साचे किआ तासु। (म.१, ५६)
अंतरि मैलु जे तीरथ नावै तिसु बैकुंठ न जानां।
लोक पतीणे कछू न होवै नाही रामु अयाना।
पूजहु रामु एकु ही देवा। साचा नावणु गुर की सेवा।
जल कै मजनि जे गति होवै नित नित मेंडुक नावहि।
जैसे मेंडुक तैसे ओइ नर फिरि फिरि जोनी आवहि।
मनहु कठोरु मरै बानारसि नरकु न बांचिआ जाई।
हरि का संतु मरै हाड़ंबै त सगली सैन तराई।
दिनसु न रैनि बेदु नही सासत्र तहा बसै निरंकारा।
कहि कबीर नर तिसहि धिआवहु बावरिआ संसारा।

(कबीर, ४८४)

गंगा जमुना गोदावरी सरसुती ते करहि उदमु धूरि साधू की ताई।
किलविख मैलु भरे परे हमरै विचि हमरी मैलु साधू की धूरि गवाई।

(म.४, १२६३)

जितने तीरथ देवी थापे सभि तितने लोचहि धूरि साधू की ताई।

(म.४, १२६३)

करामात

पारखीआ वथु समालि लई
गुर सोझी होई।

—म.३ ४२५

करामात

करामात उस घटना को कहा जाता है जो अनहोनी हो, कुदरत के नियमों के प्रतिकूल, पर करके दिखाई जाये। ऐसी घटना के लिये कोई आध्यात्मिक शक्ति ज़िम्मेदार होती है। इस प्रकार की शक्तियों का वर्णन सभी धर्मों की मुख्य पुस्तकों में मिलता है और उनका एक उदाहरण आठ सिद्धियाँ हैं : 'असट सिधि नव निधि एह' (म.५, ११८४) : (१) अणिमा, दूसरे का रूप धारण कर लेना ; (२) महिमा, अपना आकार कम या अधिक कर लेना ; (३) गरिमा, अधिक भारी हो जाना ; (४) लघिमा, हलके या सूक्ष्म हो जाना ; (५) प्राप्ति, मन-इच्छित वस्तु पा लेना ; (६) प्राकाम्य, दूसरों के मन की बात को जान लेना ; (७) ईशित्व, दूसरों के मन को अपनी मरज़ी के अनुसार बना लेना ; (८) वशित्व, किसी को भी वश में कर लेना। कई स्थानों पर इस प्रकार की सिद्धियों की संख्या अठारह भी बताई गई है : 'असट दसा सिधि कर तलै सभ क्रिपा तुमारी' (रविदास, ८५८)।

माना जाता है कि करामाती ताकतें अवतारों, नबियों, सन्तों-महात्माओं को परमेश्वर की दरगाह से मिलती है ; और जप, तप, योग-साधना आदि द्वारा उनका प्राप्त हो जाना भी माना जाता है। इनका सांसारिक लाभ तो स्पष्ट है। परन्तु आत्मिक मार्ग के यात्री इनको केवल धोखा ही नहीं समझते, बल्कि हानिकारक भी मानते हैं। सन्तों-महात्माओं ने ऋद्धियों-सिद्धियों को घटिआ स्वाद कहा है : 'रिधि सिधि अवरा साद' (जपुजी)। यह वैसे ही है जैसे कोई मनुष्य अपने गम्भीर रोग के इलाज के लिये वैद्य से मिलने चले पर अपने असली उद्देश्य को भूलकर मार्ग में किसी सँपेरे का तमाशा ही देखता रह जाये। इन शक्तियों के चमत्कार दिखाने में लगा हुआ व्यक्ति पथ-भ्रष्ट हो जाता है, परम-पद पर नहीं पहुँच पाता।

अगर अनाज पैदा करने की आशा से गेहूँ बोये जायें तो भूसा अपने आप मिल जाता है। परन्तु अगर कोई चारे के लोभ में कच्ची फसल पर ही दराँती चला दे तो उसका खलिहान खाली ही रह जायेगा। परमार्थ के मार्ग पर चलते हुए ये करामाती शक्तियाँ अधिक मार्ग तय करने से पहले ही प्राप्त हो जाती हैं। पर प्रभु

के सच्चे प्रेमी उनका प्रयोग नहीं करते, उनकी ओर ध्यान तक नहीं देते। गुरु अर्जुन साहिब तपते तवे पर बैठे, देगों में उबले, तो भी उन्होंने अपनी जान बचाने या कष्ट टालने के लिये न तो स्वयं आत्मिक शक्ति का प्रयोग किया और न अपने किसी हमदर्द को ऐसा करने की इजाज़त दी। यही सहनशीलता गुरु तेग बहादुर साहिब की शहीदी के समय देखने को मिली थी।

सन्त-सतगुरु दयावान दाता होते हैं, परमार्थ की दौलत बाँटने के लिये मनुष्य शरीर धारण करके आनेवाले। वे तो केवल देने ही के लिये आते हैं, किसी को प्रभावित करके कुछ कमाने के लिये नहीं। फिर वे करामातें दिखाकर लोगों को क्यों अपनी ओर आकर्षित करेंगे ? मजमा वही लगाता है जिसे भोले-भाले श्रोताओं की जेबें काटनी हों।

आध्यात्मिक श्रेणी के महापुरुष त्रिकालदर्शी होते हैं। उनको ज्ञान होता है कि क्या हो चुका है, क्या हो रहा है और क्या होनेवाला है। अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों के बारे में उनको पता होता है कि किसने कौन-कौन से कर्मों की गठरी अपने सिर पर उठा रखी है, किस इच्छा या संकल्प की प्रेरणा से वे किस खास क्षण कार्य कर रहे हैं। पर वे ऐसे भोले बने रहते हैं जैसे कुछ भी नहीं जानते हों। ऐसा न करें तो भय और संकोच के कारण लोग उनके पास न आयें और उनके लिये परमेश्वर की ओर से सौंपे गये कर्तव्य निभाना असम्भव हो जाये। इसलिये उन्हें अपनी शक्तियाँ दिखाना तो क्या, उनको छिपाने की मजबूरी बनी रहती है। पर जिस प्रकार जुगनू के पंखों से अपने आप प्रकाश निकलता रहता है, अपने गुण का दिखावा करने की उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार इन बख़्शिश के स्रोत—सन्तों—से जीवों को स्वाभाविक ही लाभ पहुँचता रहता है।

सबसे बड़ा करामाती तो कर्त्तापुरुष है। जब कभी कोई मदारी एक ही समय में छः गेंदें हवा में उछालता दिखाई देता है तो हम विस्मित हो जाते हैं। परमेश्वर ने करोड़ों ग्रह, उपग्रह आकाश में उछाल रखें हैं और वे बिना किसी को छेड़े या छुए, युगों तक अपनी निश्चित दिशाओं में घूमते रहते हैं। कोई पिकासो जैसा चित्रकार या माईकल ऐंजलो जैसा शिल्पी गिनी सुन्दर तस्वीरें बना देता है या मूर्तियाँ गढ़ देता है तो सारा संसार वाह-वाह कर उठता है। करतार ने चौरासी लाख तरह के अनेक, अनन्त जीव रचे हैं; और उसकी अलौकिक कला-कृतियों की शोभा के लिये शब्द ढूँढना तनिक भी सम्भव नहीं। अपने सन्त-जनों में हरि स्वयं समाया होता है। वे उसी का रूप होते हैं। आग में डाला लोहा उसके साथ

जुड़ने पर उस जैसा ही लाल हो जाता है, उसी की तरह चमकता है, उसी की तरह तपता है। उन दोनों में कोई अन्तर नहीं होता। इसी प्रकार परमेश्वर से एक हुए सन्त-सतगुरु, परमेश्वर की सब शक्तियों को धारण किये होते हैं। सो जो कुछ प्रभु कर सकता है, वह सन्त भी कर सकते हैं; पर करते नहीं क्योंकि उन्हें तो जगत को परमेश्वर की रज़ा में राज़ी रहने का पाठ पढ़ाना है, उसका उल्लंघन करना नहीं।

प्रभु के जन, उसके सन्त, उसी की तरह सर्व-शक्तिमान होते हैं, पर वे उसके जीवन-प्राण भी तो होते हैं, उसके आत्मज भी होते हैं। इसलिये कुछ भी कर सकने में समर्थ होने के बावजूद वे उसकी की हुई को बदलना पसन्द नहीं करते; क्योंकि वे उसके प्यारे ही बने रहना चाहते हैं, उसके शरीक नहीं।

इसके सिवाय प्रारब्ध का विधान बड़े सूक्ष्म सन्तुलन की माँग करता है, और उसमें की गई रत्ती-भर की छेड़छाड़ उसके सम्पूर्ण ढाँचे को दूर तक बिगाड़ सकती है। उदाहरण के तौर पर, एक व्यक्ति बीमार पड़ता है। अगर करामाती शक्ति के द्वारा उसकी बीमारी काट दी जाये तो उसके साथ अकेले उसके नहीं, और लोगों के अच्छे-बुरे कर्म भी प्रभावित हो जायेंगे। जब कोई बीमार कष्ट भोगता है तो उसके सगे-सम्बन्धी भी साथ ही दुःखी होते हैं, और इस तरह अपने पिछले किये बुरे कर्मों की सज़ा भोगते हैं। अगर बीमारी पर खर्च होता है तो उसका कई औरों को लाभ पहुँचता है, जैसे डाक्टर या हकीम को, दवा बेचनेवाले को, इलाज के सम्बन्ध में काम में लाये गये ताँगा, रिक्शा, टैक्सी जैसी सवारी के चालक को, रोगी की देख-भाल पर लगे व्यक्ति को, इत्यादि। इस प्रकार अगर करामाती शक्ति का प्रयोग करके बीमारी हटा दी जाये तो कई अन्य कसूरवारों का दण्ड अकारण ही माफ़ हो जाये और कई निर्दोष हानि के शिकार हो जायें।

यदि पुत्र अपने पिता से मिली पूँजी को अच्छी तरह सँभाल लेता है, उसका सही उपयोग करता है तो पिता प्रसन्न होकर उसे और अधिक प्रदान करता है। जो पुत्र खा-पी कर उसे उड़ा देता है उसकी ओर से पिता अपनी मुट्ठी बन्द कर लेता है। इसलिये सच्चे प्रेमी कुल मालिक की बख़्शिशों को अपने अन्तर में छिपाकर रखते हैं, उनकी भाप तक नहीं निकलने देते : 'पारखीआ वथु समालि लई गुर सोझी होई' (म.३, ४२५)।

असल में, जन्म-जन्मान्तरों से सोये जीवों को जगा देना, उनके हृदय में परमेश्वर की प्रीति का बीज बो देना ही सन्तों के करने लायक करामात होती है।

वे किसी घटिया किस्म के तमाशे दिखाकर अनजान लोगों की शाबासी नहीं लूटते ; क्योंकि सिद्धियों की प्रदर्शनी करने से लोग पीछे लग जाते हैं, वाह-वाह होती है, उससे हौंमैं की वृद्धि होती है। श्रद्धालु लोग सांसारिक पदार्थों की भेंट ले-लेकर आते हैं जिससे लालच की आग भड़क उठती है। इस प्रकार सारी की हुई कमाई में राख पड़ जाती है और नरक पहुँचने का मार्ग साफ़ हो जाता है। इसलिये इन शक्तियों और इनके प्रयोग से दूर रहने को कहा गया है :

बिनु नावै पैनणु खाणु सभु बादि है धिगु सिधी धिगु करामाति।
सा सिधि सा करमाति है अचिंतु करे जिसु दाति।
नानक गुरमुखि हरि नामु मनि वसै एहा सिधि एहा करमाति।
(म.३, ६५०)

भाव है कि कामना करने योग्य केवल एक ही करामात है—नाम—जो परमेश्वर अपनी दया से गुरु के द्वारा जीव के मन में बसा देता है।

तृष्णा

बिना संतोख नही कोऊ राजै ।

—म.५, २७९

तृष्णा

इस माया द्वारा मोहित संसार में एक आम धारणा प्रचलित है कि जो मौज उडाई जा सकती है आज उड़ा लो क्योंकि यहाँ आने का अवसर फिर नहीं मिलेगा। असल में इस प्रकार की बात सोचने वाले लोग अपने आपको धोखा दे रहे हैं। संसार में दुबारा आने का दाव ही नहीं लगता बल्कि उनका आना-जाना किसी हाल में समाप्त नहीं होता। यह तो नदी में बहे जा रहे रीछ को कम्बल समझकर पकड़नेवाली कहानी है। मनुष्य तो कम्बल (रीछ) से छुटकारा पाने की कोशिश करता है, कम्बल ही उसे नहीं छोड़ता।

योनियों का चक्कर बड़ा लम्बा है। एक बार इससे बच निकलने का अवसर बीत जाये, तो फिर करोड़ों वर्षों का पछतावा ही पल्ले रह जाता है। इसके विपरीत ऐश करना जिसका मतलब है अलग-अलग विषयों का रस प्राप्त करना, कोई अनोखी वस्तु नहीं। इन्सान के समान ही इन्द्रियाँ सभी जीव-जन्तुओं को मिली हैं और उनकी वासनाएँ पूरी करने के साधनों की ओर से भी कुदरत ने संकोच नहीं किया है। बहुत-से लोगों को अच्छा खाना खाने का शौक होता है। पर कोई इस मनुष्य शरीर में कितना खा सकता है? बैरकूड मछली जितना तो नही। वैस्टइंडीज़ के समुद्र की यह मछली एक दिन में अपने बोझ से भी कई गुना अधिक शिकार हड़प कर लेती है। हाथी जैसा विशाल शरीर का जानवर सुबह से शाम तक मनों खाद्य-पदार्थ का गोबर बना देता है। किसी दूसरे को स्त्रियों (पुरुषों) में अत्यन्त दिलचस्पी होती है, पर पानी के ही एक जीव-सील-और मैदान में विचरने वाले काले हिरन के अधीन भी मादाओं के बड़े झुण्ड होते हैं। औरों की हुकूमत या दबदबे की ओर देखें तो शेर भी पूरे जंगल का बादशाह होता है और बाज़ सारे आकाश का। एक साधारण भँवरा मनुष्य से कहीं अधिक सुगन्धि का स्वाद प्राप्त कर लेता है। असल में संसार के भोग हमारे जीवन को सुखमय और आनन्ददायक बनाने के लिये भेंट किये गये उपहार नहीं बल्कि अपने जाल में फँसाने के लिये माया द्वारा बिखेरा चुगा या दाने हैं :

काम क्रोध मदि बिआपिआ फिरि फिरि जोनी पाइ।
माइआ जालु पसारिआ भीतरि चोग बणाइ।
त्रिसना पंखी फासिआ निकसु न पाए माइ। (म.५, ५०)

माँस का टुकड़ा कुंडी के छोर पर न लगा हो तो मछली कुंडी को अपने गले में क्यों फँसायेगी ? शरीर के सभी रस मीठे विष हैं, जिन्हें हम खुशी-खुशी खाते हैं और तिल-तिल करके मरते हैं।

सच पूछा जाये तो बैरकूड या हाथी, सील या हिरन, किसी का वर्णन भी विशेष रूप से करने की ज़रूरत नहीं। मन और इन्द्रियों से कौन-सा जीव बचा है ? वे किसी को भी भरमाने में कमी नहीं करतीं। जितना स्वाद करोड़ों के मालिक को अपने सोने के थालों में परोसे गये भोजन से मिलता है, मोरी के कीड़े को अपनी गन्दगी से उससे कम प्राप्त नहीं होता। गिद्ध को गले-सड़े मुर्दे खाते हुए कभी कै नहीं आती, बदबू नहीं आती। कीचड़ में मस्ती के साथ लोटता हुआ सूअर मखमल का आनन्द लेनेवाले रईस से अधिक आराम प्राप्त करता है।

क्षणभंगुर कपटी रसों की किसी भी योनि में कमी नहीं ; अगर नहीं मिलता है तो हरि-प्रभु में जाकर समाने का अवसर ही नहीं मिलता। उस अवसर को एक बार गँवा देने पर फिर सदियों और युगों तक इन्तिज़ार करना पड़ता है।

साधारण मनुष्य को जकड़ने वाली इच्छाओं और कामनाओं की एक खास विशेषता यह है कि वे कभी तृप्त नहीं होतीं। इन्द्रियों के रसों से मन कभी तृप्त नहीं होता, बल्कि उनका आनन्द प्राप्त करने की इच्छा आग में डाले ईंधन की तरह और भड़कती रहती है। इस बारे में भाई गुरदास जी लिखते हैं :

अख़ीं वेख न रज्जीआं बहु रंग तमाशे।
उस्तुति निंदा कंन सुन रोवण ते हासे।
सादीं जीभ न रज्जीआ कर भोग बिलासे।
नक न रज्जा वास लै दुरगंध सुवासे।

इन रसों का ऐसा पागल नशा चढ़ता है कि लोग संसार से विरक्त होने की बजाय, यहाँ अधिक से अधिक पैर जमाना चाहते हैं :

रज्ज न कोई जीविआ कूड़े भरवासे।
(भाई गुरदास, वार २७, पोड़ी १)

इन सुखों और स्वादों का आकर्षण इतना प्रबल है कि मनुष्य इनकी प्राप्ति को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेता है और इस प्राप्ति के लिये इतना अधिक

प्रयत्न करता है कि ये प्रयत्न अपने आपमें एक मुसीबत बन जाते हैं :

सुख कै हेत बहुतु दुखु पावत सेव करत जन जन की।
दुआरहि दुआरि सुआन जिउ डोलत नह सुध राम भजन की।
(म.९, ४११)

जब तक सुख का मनचाहा साधन मनुष्य की पकड़ में नहीं आता, वह कोशिश करता ही रहता है और प्रतीक्षा की बेचैनी उसे बहुत परेशान करती है। वह साधन मिल जाये तो उसके छिन जाने का भय मन में बना रहता है। किसी भी सफलता के प्राप्त हो जाने के बाद पता चलता है कि वह कोई इतनी ख़ास चीज़ तो नहीं थी जितनी दूर से दिखाई देती थी, और उसकी ओर से मन के मुड़ने में ज़्यादा देर नहीं लगती। इसके सिवाय जो आता है, उसे जाना भी पड़ता है, और जो खालीपन वह पीछे छोड़ जाता है उसका दुःख असहनीय बनकर उसे पीड़ित करता रहता है।

इच्छा एक-आध हो तो मनुष्य उसको सिर की बाज़ी लगाकर पूरी कर ले और उसकी ओर से निश्चिन्त हो जाये। पर नहीं, उनकी संख्या तो कभी भी वश में नहीं रहती, और वे लगती भी हैं, एक-दूसरी से अधिक आवश्यक। हर कामना एक नये सिर दर्द के रूप में जन्म लेती है और वह ढेरों का ढेर, सावन के कुकुरमुत्तों की भाँति, पैदा होती रहती हैं। शान्ति उसी को प्राप्त होती है जो न कोई आशा रखता है, न कोई कामना करता है। मृग-जल के पीछे लगकर तो तड़पना ही तड़पना है। गुरु अमरदास जी कहते हैं :

जे लख इसतरीआ भोग करहि नवखंड राजु कमाहि।
बिनु सतगुर सुखु न पावई फिरि फिरि जोनी पाहि। (म.३, २६)

इसी प्रकार गुरु अर्जुन साहिब के वचन हैं :

अनिक भोग बिखिआ के करै। नह त्रिपतावै खपि खपि मरै।
(म.५, २७९)

एक अन्य स्थान पर आप लिखते हैं :

वडे वडे राजन अरु भूमन ताकी त्रिसन न बूझी।
लपटि रहे माइआ रंग माते लोचन कछू न सूझी। (म.५, ६७२)
मुकति माल कनिक लाल हीरा मन रंजन की माइआ।
हा हा करत बिहानी अवधहि ता महि संतोखु न पाइआ। (म.५, ७००)

इसका कारण : जैसे कुसुंभे का कच्चा रंग कुछ ही क्षणों में फीका पड़ जाता

है, माया से मिलने वाले रस भी स्थायी नहीं होते, न ही बड़े अस्थायी होते हैं। खाने-पीने के पदार्थों को जिह्वा की तीन उंगल लम्बाई पार करते कितनी देर लगती है ? यही हाल दूसरे स्वादों का है। इसीलिये कहा गया है :

बिखिआ महि किन ही तृपति न पाई।
जिउ पावकु ईधनि नही ध्रापै बिनु हरि कहा अघाई। (म.५, ६७२)

भोगों को कौन भोग सकता है ? वे तो स्वयं भोगने वाले को भोग लेते हैं। शान्ति मिलती है उनको तिलांजलि देकर सन्तोष के सम्पर्क में आने पर :

बिना संतोख नही कोऊ राजै।
सुपन मनोरथ ब्रिथे सभ काजै। (म.५, २७९)

जैसे किसी गन्दे छप्पर में हर समय बुलबुले बनते या उठते रहते हैं, मन के अपने संकल्प भी कभी एक-से या स्थिर नहीं रहते। जैसी भी आशा या मनसा की प्रेरणा किसी क्षण उसको उत्तेजित करती है, वह उसी के अनुसार कार्य करता है, और कार्य किसी न किसी तरह के फल अवश्य पैदा करते हैं। सो आशा-तृष्णा के बीजों से पैदा हुई अनेक फसलें मनुष्य अपने इस एक शरीर में इकट्ठी कर लेता है और उनको भोगने के लिये स्वाभाविक ही दूसरे जन्मों की ठोस बुनियाद बन जाती है। इसी आधार पर सृष्टि के आवागमन का चक्र घूमता रहता है। जिस प्रभु ने हमें पैदा किया है, उससे ज़्यादा कोई नहीं जानता कि किस वस्तु के हम अधिकारी हैं, क्या हमें मिलना चाहिये, और उससे वह हमें कभी वंचित नहीं करता। सो सुख इसी में है कि हम हठी मन के द्वारा उठाई गई व्यर्थ कामनाओं से पल्ला बचाकर परमपिता परमात्मा की रज़ा या मौज में राज़ी रहें।

तृष्णा

आसा करता जगु मुआ आसा मरै न जाइ।
नानक आसा पूरीआ सचे सिउ चितु लाइ। (म.३, ५१७)

जे आसा अंदेसा तजि रहै गुरमुखि भिखिआ नाउ।
तिस के चरन पखालीअहि नानक कह बलिहारै जाउ।
(म.३, ५५०)

त्रिसना बिरले ही की बुझी हे।
कोटि जोरे लाख क्रोरे मनु न होरे। परै परै ही कउ लुझी हे।

सुंदर नारी अनिक परकारी परगृह बिकारी।
बुरा नही भला नही सुझी हे।
अनिक बंधन माइआ भरमतु भरमाइआ गुण निधि नही गाइआ।
मन बिखै ही महि लुझी हे। (म.५, २१३)

दिनु दिनु करत भोजन बहु बिंजन ता की मिटै न भूखा।
उदमु करै सुआन की निआई चारे कुंटा घोखा।
(म.५, ६७२)

जिउ कूकरु हरकाइआ धावै दहदिस जाइ।
लोभी जंतु न जाणई भखु अभखु सभ खाइ।
काम क्रोध मदि बिआपिआ फिरि फिरि जोनी पाइ।
(म.५, ५०)

मिठा करि कै खाइआ कउड़ा उपजिआ सादु। (म.५, ५०)
एकै जालि फहाए पंखी। रसि रसि भोग करहि बहुरंगी।
(म.५, १८०)

कामवंत कामी बहु नारी परग्रिह जोह न चूकै।
दिन प्रति करै करै पछुतापै सोग लोभ महि सूकै। (म.५, ६७२)
माइआ मोहि सभो जगु सोइआ इहु भरमु कहहु किउ जाई।
(म.५, २०५)

त्रिसना अगनि सबदि बुझाए। (म.१, २२२)

आहार-व्यवहार

सुचि होवै ता सचु पाईऐ।

—म.१, ४७२

आहार-व्यवहार

धरती पर खेती करके उससे पूरा फायदा उठाना हो तो उसमें से कुछ निकालना आवश्यक होता है और उसमें कुछ डालना भी। यही बात मनुष्य-जीवन में है। नाम रूपी बीज के फल पाने के लिये अगर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार के विनाश के लिये मन की गोड़ाई की जाती है तो उसमें शील, क्षमा, सन्तोष, विवेक और धैर्य की खाद भी डाली जाती है। सच बोलने, निन्दा न करने, दया करने, किसी के मन को ठेस न पहुँचाने, घृणा, ईर्ष्या से मुक्त रहकर सबका भला सोचने का व्यवहार अभ्यासी के लिये वैसा ही है जैसा किसी रोगी के उपचार के लिये दवाई खाने के साथ-साथ पथ्य-कुपथ्य की ओर से सचेत रहना। इस सम्बन्ध में आहार और व्यवहार का थोड़ा विस्तार से वर्णन करना आवश्यक है।

पवित्र कार्य :

हमारे देश में बहुत-से साधु, फ़कीर देखने को मिलते हैं। उनके सैकड़ों-हज़ारों फिरके हैं और उन फिरकों की कितनी ही शाखाएँ। अपनी अलग पहचान के लिये वे विशेष प्रकार के नाम रखते हैं, अलग तरह के वस्त्र पहनते हैं, रहन-सहन, पूजा, साधना आदि के अलग-अलग ढंग अपनाते हैं। तो भी एक बात लगभग उन सबमें समान है। वे समझते हैं कि हम परमेश्वर की सेवा और भक्ति करते हैं, इसलिये हमारी सेवा करना, भक्ति करना सभी गृहस्थों का कर्तव्य है। गृहस्थियों को भी यह ज़िम्मेदारी निभाने में कोई आपत्ति या एतराज़ नहीं होता। वे इन साधुओं, फ़कीरों को पूरी श्रद्धा से हलवा, खीर, पूरी, फल आदि अच्छे भोजन खिलाते हैं; लोई, गुदड़ी, चादर आदि भेंट करते हैं, उनके नशा-पानी, सवारी आदि जैसी अनेक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। साधु या फकीर और उनके सेवक, दोनों ही सोचते हैं कि हम अपने व्यवहार से प्रभु को प्रसन्न कर रहे हैं। यह सोचना कितना सही है, राम जाने; पर इसको सही स्वीकार करना इतना आसान नहीं।

गुरु नानक साहिब आसा की वार में कहते हैं :

सेव कीती संतोखीई जिन्ही सचो सचु धिआइआ।
ओन्ही मंदै पैरु न रखिओ करि सुकृतु धरमु कमाइआ।

(म.१, ४६६)

सत्पुरुष की सच्ची आराधना करनेवाले जिज्ञासु केवल बुराई से बचकर ही नहीं चलते, बल्कि पवित्र कार्य करके धर्म कमाते हैं। दूसरों की कमाई का या बुराई की कमाई से बना भोजन खाकर या कपड़े पहनकर न तो शुद्ध विचार उत्पन्न होते हैं, न उत्तम आचार बनता है, न ही नेक भाव पैदा हो सकते हैं। परमार्थ के पथिक के लिये पहली शर्त ही यह है कि वह अपनी आजीविका खुद कमाये, वह भी छल, धोखे, फरेब से नहीं बल्कि नेकी और हक-हलाल से। इतना ही काफी नहीं, वह जो कमाये उस सबका खुद ही प्रयोग न करे, उसे ज़रूरतमंदों के साथ बाँटकर खाये या इस्तेमाल करे :

घालि खाइ किछु हथहु देइ। नानक राहु पछाणहि सेइ।

(म.१, १२४५)

अपने माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चों के प्रति हमारी कई प्रकार की ज़िम्मेदारियाँ होती हैं, पर उनको निभाने के लिये चोरी, ठगी, रिश्वत, बेईमानी जैसे साधन अपनाना उचित नहीं। जो लोग हम पर आश्रित हैं, हम पर निर्भर हैं, उनकी देख-भाल अवश्य करें, उनके प्रति सच्चे हृदय और लगन के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, पर यह अवश्य याद रखें कि कोई पाप चाहे किसी के भी लिये, किसी भी कारण से किया गया हो, उसका दण्ड हमें स्वयं भोगना पड़ता है :

बहु परपंच करि पर धनु लिआवै। सुत दारा पहि आनि लुटावै।
मन मेरे भूले कपटु न कीजै। अंति निबेरा तेरे जीअ पहि लीजै।

(कबीर, ६५६)

जिस समय कर्मों का हिसाब-किताब होता है उस समय कोई सगा-सम्बन्धी पास खड़ा नहीं होता, न ही हेराफेरी से जोड़ा गया धन आगे पहुँचकर सहायक होता है :

संगि न कोई भईआ बेबा। मालु जोबनु धनु छोडि वंञेसा।
करण करीम न जातो करता तिल पीड़े जिउ घाणीआ।

(म.५, १०२०)

हिन्दुओं के लिये गाय का और मुसलमानों के लिये सूअर का माँस खाना

अति घिनौने अपराधों में से एक माना जाता है। पहली पातशाही श्री गुरु नानक देव जी पराया हक हड़पने को उसके बराबर रखकर धिक्कारते हैं। इस गन्दगी को खानेवाले को कोई गुरु या पीर शरण नहीं देता :

हकु पराइआ नानका उसु सूअर उसु गाइ।
गुरु पीरु हामा ता भरे जा मुरदारु न खाइ। (म.१, १४१)

परमात्मा की चक्कियाँ बहुत बारीक पीसती हैं और दाने-दाने का हिसाब भी रखती हैं, चाहे वे घूमती धीरे हों। गुरु नानक साहिब के अनुसार कोई बना फिरता हो गुरु या पीर और पेट भरता हो माँगकर, तो उसके आगे कभी सिर नहीं झुकाना चाहिए, वह किसी भी प्रकार के आदर का अधिकारी नहीं :

गुरु पीरु सदाए मंगण जाइ। ता कै मूलि न लगीऐ पाइ।

(म.१, १२४५)

सन्तों-महात्माओं के मत की स्पष्ट शिक्षा है कि नेक कमाई करो और अपनी कमाई को खुद ही न भोगो बल्कि जरूरतमंदों के साथ बाँटो, धर्म-कार्यों में भी उसका कुछ अंश लगाओ। इस मार्ग में जिज्ञासुओं और अभ्यासियों की तो बात ही क्या है, पीरों-फ़कीरों तक के लिये पराई कमाई पर जीना वर्जित है।

उच्चकोटि के सन्त-सतगुरु दूसरों को शिक्षा देकर ही सन्तुष्ट नहीं होते, वे अपने दिखाये हुए आदर्शों पर खुद अमल करके ज्योति-स्तम्भ बनकर दिखाते हैं। गुरु नानक साहिब वृद्धावस्था में पहुँचने तक अपने हाथों से खेती करते रहे। इतिहास गवाह है कि जब भाई लहना जी आपको खोजते हुए आपके खेत में पहुँचे, उस समय आप अपने धान की फसल में से घास बीन रहे थे। कबीर साहिब ने ताना बुनकर अपनी कमाई रूखी-सूखी को अमृत समझकर खाया। रविदास जी ने अपनी जीविका के लिये सारी उमर जूतियाँ बनाईं। नामदेव जी ने छीपे का काम करके उदर-पूर्ति की। इस प्रकार के उदाहरण कोई जितने चाहे इकट्ठे कर ले। सेठ-साहूकार ही नहीं, राजा-महाराजा तक इन महापुरुषों के चरणों पर जागीरें, धन-दौलत न्यौछावर करना चाहते थे पर उन्होंने उस ओर देखा तक नहीं।

जो लोग खुद काम नहीं करते, और दूसरों की पकी पकाई खाकर डकार भरते हैं, उनको समय आने पर एक-एक पराये ग्रास का हिसाब देना पड़ता है। गुरु अमरदास जी ने इस प्रकार का आसान रास्ता अपनाने वालों को ही ध्यान में रखकर कहा है :

जोगी होवा जगि भवा घरि घरि भीखिआ लेउ।
दरगह लेखा मंगीऐ किसु किसु उतरु देउ। (म.३, १०८९)

कि अगर मैं योगियों की भाँति स्थान-स्थान पर व्यर्थ भटकता रहूँ और गृहस्थियों के दान पर निर्वाह करूँ तो मेरे दरगाह पहुँचने पर वे सभी भिक्षा देनेवाले दानी लेनदार बन कर क्यों न खड़ें होंगे ? किस-किस का कर्ज चुकाऊँगा मैं उस समय ?

उचित आहार :

हमारे पूर्वजों का ध्यान शरीर से कहीं अधिक आत्मा की ओर रहा है। इसलिये उन्होंने खाने-पीने के पदार्थों का विभाजन प्रोटीन, कारबोहाईड्रेट, चिकनाई आदि की दृष्टि से नहीं किया, उन्होंने आचार-विचार पर पड़ने वाले प्रभाव को मुख्य रखकर किया है। उन्होंने फल, सब्ज़ी, दूध, दही, चावल जैसी चीज़ों को सात्विक या सतोगुणी भोजन का नाम दिया है, क्योंकि उनके सेवन से मन शान्त और प्रसन्न रहता है और नेक तथा शुभ काम करने की प्रेरणा मिलती है। इसके विपरीत माँस, मछली, शराब जैसी चीज़ें तन और मन में गलत प्रकार की उत्तेजना पैदा करती हैं, क्रोधी और अहंकारी बनाती हैं तथा हिंसा, अत्याचार, अन्याय के रास्ते पर डालने का प्रभाव रखती हैं; इसलिये तामसिक भोजन मानी जाती हैं।

जैसे हिरन और खरगोश का आहार करनेवाले शेर-चीते खूनी और निर्दय होते हैं, बीज और वनस्पति खाकर निर्वाह करनेवाली गाय, भैंस आदि का व्यवहार शान्तिपूर्ण होना स्वाभाविक है।

यदि बीमारी का ख़याल रखकर किसी धातु की भस्म की प्रकृति शीतल रखनी हो तो वैद्य उसे आग देने से पहले भांग के रस की भावना देते हैं और यदि उसकी तासीर गर्म रखनी हो तो कवार-गन्दल के गूदे की भावना देते हैं। अगर निर्जीव पदार्थों का यह हाल है तो मनुष्य जैसा संवेदनशील जीव अपने खाने-पीने के प्रभाव से कैसे बचा रहेगा ?

जब धर्म दया से ही उत्पन्न होता है, तो हिंसा द्वारा प्राप्त भोजन अधर्म की ओर ही प्रवृत्त कर सकता है। जो लोग बकरियों, मुर्गों जैसे अबोध जानवरों की बलि चढ़ाकर अपने इष्ट को प्रसन्न करना चाहते हैं, उनकी कुबुद्धि और आश्चर्य को प्रकट करते हुए कबीर साहिब फ़रमाते हैं :

जीअ बधहु सु धरमु करि थापहु अधरमु कहहु कत भाई।
आपस कउ मुनिवर करि थापहु का कउ कहहु कसाई।
(कबीर, ११०३)

अर्थात तुम्हारे लिये जीवों के गले काटना पुण्य-कर्म है तो फिर पाप क्या हुआ ? अगर इस प्रकार के अनर्थ करके तुम महान कहलाने के अधिकारी बन जाते हो तो कसाई किन लोगों को कहा जायेगा ! इसी प्रकार रमज़ान के महीने में भूखे रहकर परहेज़गार माने जाने की इच्छा रखनेवालों के सम्बन्ध में आप टिप्पणी करते हैं :

रोजा धरै मनावै अलहु सुआदति जीअ संघारै। (कबीर, ४८३)

एक ओर तो तुम परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिये दिन भर भूखे रहते हो और दूसरी ओर केवल जिह्वा के स्वाद के लिये उसी प्रभु के जीवों की हत्या करने से ज़रा भी नहीं कतराते।

उसी महापुरुष ने एक अन्य स्थान पर कहा है :

बेद कतेब कहहु मत झूठे झूठा जो न बिचारै।
जउ सभ महि एकु खुदाइ कहत हउ तउ किउ मुरगी मारै।
(कबीर, १३५०)

हिन्दू धर्म-शास्त्र और अन्य धर्मों की कुरान आदि धार्मिक पुस्तकें तो ठीक ही कहती हैं कि परमेश्वर या रब हर प्राणी के अन्दर बसता है। भूल में वे पड़े हुए हैं जो उन ग्रन्थ-शास्त्रों के इस कथन को आँखों से ओझल कर देते हैं। नहीं तो यह जानते हुए कि वह रचयिता हर प्राणी में मौजूद है, कोई भी अपने पेट भरने के लिये किसी मुर्गी या बकरी जैसे निरीह जीव की कैसे हत्या कर सकता है ?

खाक नूर करदं आलम दुनीआइ।
असमान जिमी दरखत आब पैदाइसि खुदाइ।
बंदे चसम दीदं फनाइ।
दुनीआ मुरदार खुरदनी गाफल हवाइ। (म.५, ७२३)

सम्पूर्ण सृष्टि परमेश्वर ने मिट्टी में अपनी ज्योति मिलाकर पैदा की है, जैसे पृथ्वी, आकाश, जल, वृक्ष आदि पर लोग यह भूले हुए हैं कि जो कुछ आँखों से दिखाई देता है उसका विनाश हो जाना है और वे वासनाओं में लिप्त तथा प्रभु की ओर से विमुख होकर मुरदार (मरे हुए जीवों का माँस) खाने में लगे हुए हैं। परिणाम यह है कि वे मनुष्य कहलाते हुए भी प्रेतों व पशुओं की हद तक गिर

गये हैं :

गैबान हैवान हराम कुसतनी मुरदार बखोराइ। (म.५, ७२३)

पाँचवीं पातशाही श्री गुरु अर्जुनदेव जी के वचन हैं :

बेदु पड़ै मुखि मीठी बाणी। जीआं कुहत न संगै पराणी।
(म.५, २०१)

वही लोग जो वेदों जैसी पुस्तकें पढ़ते रहते हैं और वह भी बड़ी मधुर आवाज़ से, जिससे पता चलता है कि उनके हृदय में इन पुस्तकों के लिये बड़ी श्रद्धा और प्यार है, वही लोग जीवों के गले पर छुरी चलाते जरा भी नहीं हिचकिचाते।

गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

जे रतु लगै कपड़ै जामा होइ पलीतु।
जो रतु पीवहि माणसा तिन किउ निरमलु चीतु। (म.१, १४०)

कि कपड़े पर लगा खून का दाग तो किसी साबुन या सोडे से उतर जाता है, परन्तु पिये हुए खून के दाग के लिये तो पीनेवाले का खून ही बहेगा।

अपना कपड़ा कोई भी जानबूझ कर खराब नहीं करता, जो लोग माँस की बोटियाँ चबा-चबा कर अपने अन्दर निगलते जाते हैं, क्या वे प्रभु के बख्शे जामे को गन्दा नहीं कर रहे हैं!

मगर कितना बलवान जानवर होता। वह माँस के एक ग्रास के लोभ में मछुए के जाल में फँस जाता है और फिर उसके लिये पछताने के सिवाय कोई चारा नहीं रहता :

मागरमछु फहाईऐ कुंडी जालु वताइ।
दुरमति फाथा फाहीऐ फिरि फिरि पछोताइ। (म.१, १००९)

कोई शेर बकरी को पकड़कर खाने लगा तो वह खिलखिला कर हँस पड़ी। जब उसने हैरान होकर इस हँसी का कारण पूछा तो बकरी ने जवाब दिया :

अक्क धतूरा खाधिआं कुहि कुहि खल उखखल विनसी।
मास खान गल वढ के हाल तिनाड़ा कउण होवसी।
(वारां भाई गुरदास, २५)

अगर घासफूस खानेवाले की खाल उधेड़ी जाती है तो प्राणियों की हत्या करके खानेवालों पर क्या बीतेगी?

पहली पातशाही श्री गुरु नानकदेव जी ने जपुजी की अट्ठारहवीं पौड़ी में

मोटे-मोटे पापियों का ही वर्णन किया है और उनमें गर्दन काटकर औरों की जान लेनेवाले (माँसाहारी जानवर नहीं) भी स्पष्ट रूप से शामिल हैं :

असंख गलवढ हतिआ कमाहि। (म.१, ४)

माँस, मछली आदि खानेवालों के साथ क्या बीतती है, कबीर साहिब से सुनिये :

कबीर भांग माछुली सुरापानि जो जो प्रानी खाहि।
तीरथ बरत नेम कीए ते सभै रसातलि जाहि। (कबीर, १३७७)

उन्होंने जो-जो भी पुण्य-कर्म अपने जीवन में किये हैं। वे सभी व्यर्थ चले जाते हैं। जब बाकी पाप ही पाप रह जायेंगे तो नकरों के अलावा उनको और कौन-सा स्थान मिलेगा? इसके अतिरिक्त 'जैसा बोओ वैसा काटो' का कानून लागू होगा और जिन-जिन जीवों के गले काट कर या कटवा कर उन्होंने मुँह का स्वाद लिया होगा, अपनी गर्दन उनकी तलवार के नीचे रखनी होगी। क्या इससे अच्छा यह नहीं कि मुनष्य परमात्मा को अच्छी लगने वाली अमृतमयी साग-सब्ज़ियाँ खाकर खुश रहे :

कबीर खूबु खाना खीचरी जा महि अंमृतु लोनु।
हेरा रोटी कारने गला कटावै कउनु। (कबीर, १३७४)

हम ऊपर कबीर साहिब की वाणी पर विचार कर चुके हैं कि माँस-मछली का उपयोग शुभ-कर्मों की सम्पूर्ण कमाई पर पानी फेर देता है। इस दृष्टि से शराब जैसे नशीले पदार्थ भी कम हानिकारक नहीं हैं। आपने जहाँ माँस-आहार के लिये मछली शब्द का प्रयोग किया है वहाँ नशीले पदार्थों की निन्दा के लिये सुरा को भी बराबर ही रखा है। स्पष्ट है कि अगर हम नशे से परहेज़ नहीं करेंगे तो अपने पुण्य-कर्मों के लेखे पर लकीर फेर कर आध्यात्मिक दृष्टि से दिवालिया हो जायेंगे।

शराब पीने का क्या परिणाम होता है, गुरु अमरदास जी संक्षेप में बयान करते हैं :

जितु पीतै मति दूरि होइ बरलु पवै विचि आइ।
आपणा पराइआ न पछाणई खसमहु धके खाइ।
जितु पीतै खसमु विसरै दरगहु मिलै सजाइ।
झूठा मदु मूलि न पीचई जे का पारि वसाइ।
(म.३, ५५४)

सबसे पहली बात तो यह है कि शराब पीनेवाले व्यक्ति की बुद्धि मारी जाती है और उसे अच्छे-बुरे की पहचान नहीं रहती। यही कारण है कि हम हर रोज़ पढ़ते और सुनते हैं कि शराब पीकर एक अपराधी ने अपने मित्र की ही हत्या कर दी, दूसरे ने अपने नौजवान बेटे की जान ले ली। ज़िम्मेदार कर्मचारी शराब में धुत्त होकर देश के महत्वपूर्ण भेद शत्रुओं तक पहुँचा देते हैं, अपने अफ़सरों को गोली मार देते हैं या उनसे दुर्व्यवहार करके अपने रोज़गार से हाथ धो लेते हैं। कितने ही शर्मनाक बलात्कार शराब पीकर किये जाते हैं, कितनी ही भयानक डकैतियों और ऐसे अपराधों की तह में इस अभागे का हाथ होता है।

इसके द्वारा लोगों के प्रति ज़्यादती ही नहीं होती, बल्कि अपनी सुख-सम्पत्ति की हानि भी होती है।

शराब अपने आपमें तो बुरी है ही, यह अहंकार जैसी और भी कई बुराइयों को जन्म देती है। इसका घूँट भरने से मुँह कड़वा हो जाता है, इसलिये मन में आता है कि कोई चरपरी या नमकीन चीज़ खाने को मिले। इस प्रकार बोतल के साथ अण्डों के आमलेट, मुर्गे के टिक्के और मछली के कबाब भी आ जाते हैं। चंचल हुआ मन पराई स्त्रियों (मर्दों) पर बुरी नज़र डालता है और मनोरंजन के ख़याल से अक्सर जुआ खेलना भी शुरू हो जाता है। इस एक बुराई में फँसा जीव बाकी बुराइयों से भी बचा नहीं रह सकता।

कितने ही शराबियों ने नशे में अपने घर उजाड़ लिये और अपने लाडले बेटे-बेटियों को कंगाल बना दिया।

शराब बुद्धि के साथ-साथ शरीर को भी राख कर देती है। इससे मस्तिष्क के तन्तु मर जाते हैं, रक्तचाप या ब्लड-प्रेशर बिगड़ जाता है, हृदय के कार्य में गड़बड़ हो जाती है, आँतड़ियाँ सूज जाती हैं, जिगर छलनी हो जाता है और अच्छे-अच्छे बलशाली नौजवान इसकी बलि चढ़कर असामयिक मृत्यु के शिकार हो जाते हैं। इसी तबाही को देखकर सरकार करोड़ों रुपये एक्साइज़ के तौर पर वसूल करते हुए भी शराब की हरएक बोतल पर उसके स्वास्थ्य के लिये हानि-कारक होने के सम्बन्ध में चेतावनी अंकित करने के लिये मजबूर हो गई है।

शराब के इन दोषों में शामिल होनेवाला एक महादोष और भी है—परमेश्वर की ओर से विमुख होना। जो चीज़ हमारे मन को कितने ही भाँति-भाँति के विनाशकारी रसों की ओर मोड़ने में समर्थ हो, वह परमात्मा की याद आने के लिये क्यों कोई गुंजाइश छोड़ेगी ? इसका बख़्शा हुआ कुछ पलों का तुच्छ सरूर

ौर नशा अपने मतवाले को आनेवाले जन्मों, युगों के लिये कसूरवार और पराध का भागी बना देता है। इसलिये इस अति घातक ज़हर का कभी सेवन हीं करना चाहिए। 'झूठा मदु मूलि न पीचई जे का पारि वसाइ' का अर्थ है, तुम्हारे श से बाहर हो जाने की सीमा तक। होश में रहते हुए कभी न पियो।

'बस एक बार देख लें कि यह क्या चीज़ है,' ऐसे विचार के अधीन होकर केवल चखने-मात्र के लिये भी इसे नहीं पीना चाहिए। भूल से छुए जाने पर भी बिजली का तार अपनी कितनी ही कोशिश पर भी तन से नहीं छूटता।

किसी ने अरस्तू से पूछा, तू इतना होशियार कैसे हो गया ? उसने जवाब दिया, और लोगों की हिमाकतें देख देखकर। सन्त-सतगुरुओं का ऊपर दिया गया हुक्म सुनकर, उसको सिर-माथे स्वीकार करना चाहिए। यहाँ किसी दुबिधा के लिये ज़रा-सा भी स्थान नहीं है।

भाणा या शरण

तेरा कीआ मीठा लागै।

—म.५, ३९४

भाणा या शरण

भाणा क्या है ? साधारण अर्थों में तो मन को अच्छा लगना, पसन्द आना ; पर अगर कुछ और साथ न जोड़ा जाये तो विशेष अर्थ में प्रयुक्त किये जाने के कारण इसे प्रभु की रज़ा, सतगुरु की रज़ा समझा जाता है। हमें खुद को किसी घटना या स्थिति के अच्छा या बुरा लगने का क्या महत्व है ; कुछ भी नहीं, क्योंकि हमारी पसन्द या नापसन्द का निर्णय हमारा मन करता है और मन का निर्णय कभी भी विश्वसनीय नहीं होता। अगर कोई व्यक्ति अफ़ीम खाता हो या शराब पीने का आदी हो तो उसकी राय पर अधिक विचार नहीं किया जाता। कह देते हैं कि छोड़ो, यह तो अफीमची है, शराबी है, अमली है पर इधर मन में तो अनेक बुराइयाँ हैं जो पिछले जन्मों के संस्कारों के द्वारा खूब पक्की और दृढ़ कर दी गई हैं। सो मन के कहने और सुझाने का क्या विश्वास किया जा सकता है ! मन को परामर्श और राय देनेवाली हमारी बुद्धि खुद कच्ची है। उसे अपने पैरों से परे कुछ भी दिखाई नहीं देता।

हम किसी काम के लिये जाते हैं। पर मार्ग में किसी रुकावट के कारण गाड़ी नहीं पकड़ पाते। हम कुढ़ने लगते हैं कि हाय, हाय, हमारा तो इस तरह पाँच सौ का, हज़ार का नुक्सान हो गया। बाद में पता चलता है कि दो स्टेशन के बाद गाड़ी दुर्घटना-ग्रस्त हो गई है और परिणामस्वरूप चार सौ यात्रियों की मृत्यु हो गई। अगर हम समय पर स्टेशन पहुँच जाते तो मरनेवाले चार सौ जीवों में एक हमारा भी होना सम्भव था।

किसी स्त्री की शादी हुए दस वर्ष बीत गये पर तब भी उसकी गोद खाली है। वह शहर-शहर वैद्यों और डाक्टरों के पास जाती है, कई प्रकार के व्रत रखती है, दोनों हाथों दान देती है, अनेक जन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और तावीज़ों का सहारा लेती है, दूर व निकट के तीर्थ-स्थानों पर स्नान करती फिरती है। अन्त में, जब वह समझती है कि उसकी कोशिशों ने उसकी आशा को फल लगा दिया, तब ऐसे बच्चे का जन्म होता है जो ज्योति से हीन है, या हाथ-पैरों से अपाहिज, या आधा पागल या स्वभाव का दुष्ट, निरा कसाई, और वह उमर भर के लिये दुःख

और विपत्ति का कारण बन जाता है। फिर वह दुहाई देती है कि हे राम, तू ने यह क्या किया, इससे तो मैं बांझ ही लाख गुना अच्छी थी।

यह सब रोज़ होता है, हरएक के साथ किसी न किसी रूप में होता है। हम सब एक ही समान मानवी कमज़ोरी, हौमैं के शिकार हैं। चार पैसे कमा लिये जायें, कोई धन-सम्पत्ति हाथ आ जाये तो हम विश्वास कर लेते हैं कि यह हमारी निजी मेहनत और सूझ-बूझ का फल है। अगर कहीं घाटा हो जाये, कोई सम्पत्ति खो बैठें तो परमेश्वर को दोष देते हैं—वह बड़ा निर्दयी है, अत्यन्त क्रूर। इस प्रसंग में कबीर साहिब के वचन हैं :

संपै देखि न हरखीऐ बिपति देखि न रोइ।
जिस संपै तिउ बिपति है बिध ने रचिआ सो होइ।

(कबीर, ३३७)

हमें न धन-दौलत मिलने पर फूलना चाहिए, न मुसीबत आने पर हाय करके विलाप करना चाहिए ; क्योंकि जो कुछ होता है, हर तरह से परमेश्वर का किया होता है, और परमेश्वर मनमानी नहीं करता।

यह जान लेना आवश्यक है कि संसार में विचर रहा प्रत्येक जीव अपना प्रारब्ध भोगता है और वह प्रारब्ध उसने अपने कर्मों से खुद बनाया है। कर्मों का लेखा करनेवाला परम चेतन कम्प्यूटर किसी कीमत पर भी नहीं बिकता ; वह भूल नहीं करता, धोखा नहीं खाता, और जो भाग्य की रेखाएँ वह खींचता है, वे बालू रेत पर नहीं खींची जातीं, कच्चे पत्थर पर भी नहीं, बल्कि वज्र की तख़्ती पर खींची जाती हैं और वे किसी के मिटाये नहीं मिटतीं। सो बुद्धिमानी का तकाज़ा यही है कि उन रेखाओं को ठीक मानकर भोग लिया जाये। पर यह हर किसी से होता नहीं। बहुत से लोग उन रेखाओं से टक्कर लेना पसन्द करते हैं और व्यर्थ ही लहू-लुहान होते जाते हैं। आज तक कोई पिंजरा किसी पक्षी के छटपटाने पर नहीं टूटा। गुरु अमरदास जी ने भाणे में राज़ी रहने का उपदेश बड़े ही संक्षेप और सुन्दर शब्दों में दिया है। आप बताते हैं :

आपि करे किसु आखै कोई। आखणि जाईऐ जे भूला होई।

(म.३, ११४)

जो कुछ उस प्रभु के किये जाने पर बीत रहा है, अगर तुमको पसन्द न हो तो उसका परमेश्वर के सिवाय किसी और से शिकायत करने का कोई लाभ नहीं होगा, किसी और के हस्तक्षेप से कुछ नहीं सँवारा जायेगा, क्योंकि वह परमेश्वर

खुद करनहार है और परमेश्वर से कुछ कहना इसलिये अनावश्यक है कि वह पहले ही सबकुछ जानता है, वह कुछ भूला नहीं है। उसने अनजाने कोई गलती की हो तो उसे ठीक कर दें ; जानते-बूझते हुए जो किया है उसे वह क्यों बदलेगा ? फिर सबकुछ उसी पर क्यों न छोड़ दिया जाये ?

भाणे के सम्बन्ध में हमें क्या दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, इस विषय में गुरु नानक साहिब से अच्छा मार्गदर्शन कौन करेगा ? आप फ़रमाते हैं :

मरणै की चिंता नही जीवण की नही आस।
तू सरब जीआ प्रतिपालही लेखै सास गिरास। (म.१, २०)

सुख में या दुःख में हमें कुल कितने साँस लेने हैं, और अच्छे या बुरे कुल कितने ग्रास अपने मुँह में डालने हैं, यह पहले से निश्चित हो चुका है। इस प्रकार के सब मूल या आवश्यक फैसले किसी अयोग्य या अनाड़ी ने नहीं किये बल्कि उसी कर्ता ने किये हैं जो सम्पूर्ण सृष्टि को जन्म देकर उसका पालन कर रहा है। वह हमारा शत्रु नहीं, पराया भी नहीं, हमारा सृजनकार पिता है। भला फिर हम इस विषय में चिन्तित क्यों हों कि उसे कब हमारे प्राणों का अन्त करना है और जब तक उसने हमें जीवित रखना चाहा है, उससे अधिक जीने की कामना क्यों करें ?

जो कुछ परमेश्वर ने निश्चित किया है अगर वह हर हालत में होना है, टलना नहीं, तो बुद्धिमान उसे कहेंगे जो इस अटल का स्वागत करके सह ले, या उसे जो बेकार की शिकायतें करने में व्यस्त रहे ? गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं :

रूपवंतु सो चतुरु सिआणा। जिनि जिनि मानिआ प्रभ का भाणा।

(म.५, १९७)

वास्तव में भाणा मानना गीदड़ के गढ़े में गिरनेवाली बात नहीं, क्योंकि उसमें से निकला न जा रहा हो तो कह दिया, आज यहीं ठहरने की मौज है। यह तो प्रेमी का अपने कर्ता प्रियतम में सम्पूर्ण विश्वास प्रकटाना है। अगर माता फोड़े-फुंसी निकलने पर अपने बच्चे को चिरायता का कड़वा घोल पिलाती है तो बच्चे के मन में संखिया का ख़याल नहीं आता। किसी हानि का डर नहीं उठता। जब सबकुछ 'उस' का किया हो रहा है तो घबराहट कैसी ?

तेरा कीता होइ त काहे डरपीऐ। (म.५, ५२२)

नामदेव जी प्रभु से कहते हैं कि अगर तू कभी मुझे हुकूमत की बागडोर सौंप दे तो इसमें मेरी कोई कारीगरी नहीं होगी, और अगर भिखारी का कटोरा

पकड़ा दे तो उससे मेरा कुछ छिन नहीं जायेगा :

जौ राजु देहि त कवन बडाई। जौ भीख मंगावहि त किआ घटि जाई।

(नामदेव, ५२५)

यही विचार गुरु अर्जुन साहिब प्रकट करते हैं। अगर तू राजगद्दी पर बिठा देगा, मुझे तो तब भी तेरा सेवक रहना है, अगर घसियारा बना दे तो भी शिकायत करने के लिये होंठ नहीं खोलूँगा :

जे तखति बैसालहि तउ दास तुम्हारे घासु बढावहि केतक बोला।

(म.५, १२११)

गुरु रामदास जी के लिये प्रभु के दिये सुख और दुःख एक समान हैं। उन्हें तो दोनों हालतों में मालिक के शुक्राने में ही लगे रहना है, सुखी रखा जाये तो भी, दुःख भोगने पड़ें तो भी :

जे सुखु देहि त तुझहि अराधी दुखि भी तुझै धिआई।

(म.४, ७५७)

इस प्रकार भाणा मानने, रज़ा में राज़ी रहने की अवस्था बड़ी ऊँची आत्मिक अवस्था होती है। इसे प्राप्त कर लेनेवाला सहज ही परम पद का अधिकारी बन जाता है :

तेरा भाणा मंने सु मिलै तुधु आए।
जिसु भाणा भावै सो तुझहि समाए। (म.३, १०६३)

अपनी ओर से इस अवस्था तक पहुँचने की पूरी कोशिश करनी चाहिए। वह दया करता है तो यह सफल भी हो जाती है :

तेरा भाणा तू है मनाइहि जिसनो होहि दइआला। (म.५, ७४७)

गुर परसादी मनु भइआ निरमलु जिना भाणा भावए।
कहै नानकु जिसु देहि पिआरे सोई जनु पावए। (म.३, ९१८)

इसके द्वारा सब कष्ट, क्लेश समाप्त हो जाते हैं :

सतिगुर कै भाणै जो चलै तिन दालदु दुखु लहि जाइ।

(म.४, १३१३)

नाम-सुमिरन तथा शब्द-अभ्यास का उद्देश्य प्रभु-प्राप्ति होना चाहिए, उसकी रज़ा या मौज़ में परिवर्तन करना नहीं।

भाणा या शरण

भाणे ते सभि सुख पावै संतहु अंते नामु सखाई। (म.३, ९१०)

जब लगु हुकमु न बूझता तब ही लउ दुखीआ।
गुर मिलि हुकमु पछाणिआ तब ही ते सुखीआ। (म.५, ४००)

सतिगुर कै भाणै जो चलै तिसु वडिआई वडी होइ। (म.३, ९०)

सतिगुर कै भाणै जो चलै तिन दालदु दुखु लहि जाइ।
आपणै भाणै किनै न पाइओ जन वेखहु मनि पतीआइ।
(म.४, १३१३)

इहु जगतु ममता मुआ जीवण की बिधि नाहि।
गुर कै भाणै जो चलै तां जीवण पदवी पाहि। (म.३, ५०८)

मेरे ठाकुर हाथि वडिआईआ भाणै पति पाईऐ। (म.१, ४२१)

भाणा मंने सदा सुखु होइ। नानक सचि समावै सोइ।
(म.३, ३६४)

भाणै हुकमु मनाइओनु भाणै सुखु पाइआ।
भाणै सतिगुरु मेलिओनु भाणै सचु धिआइआ।
भाणे जेवड होर दाति नाही सचु आखि सुणाइआ। (म.५, १०९३)

गुरमुख सहज सुभाइ भाणा भाइआ।
सबद सुरति लिव लाइ हुकम कमाइआ। (वार–३.२०)

मसतकि लिलाटि लिखिआ धुरि ठाकुरि मेटणा न जाइ।
नानक से जन पूरन होए जिन हरि भाणा भाइ।
(म.३, १२७६)

जे हरि हरि कीचै बहुतु लोचीऐ किरतु न मेटिआ जाइ।
हरि का भाणा भगती मंनिआ से भगत पए दरि थाइ।
(म.३, ६५)

प्रेम

जिन प्रेम कीओ तिन ही प्रभु पाइओ।
—श्री गुरु गोबिन्द सिंह

प्रेम

हरि-भक्ति अपनी तरह का और बड़ा ही अलग प्रकार का खेल है। गुरु अमरदास जी कहते हैं :

मेरे प्रभि साचे इकु खेलु रचाइआ।
कोइ न किस ही जेहा उपाइआ। (म.३, १०५६)

जब परमात्मा ने अपने सृजन किये अरबों-खरबों जीव सब एक-दूसरे से अलग बनाये हैं तो उसे अपना बनाया खेल भी क्यों किसी से मिलता-जुलता बनाना था। इस लिये यह खेल सचमुच विचित्र, अनूठा और अनुपम है।

सबसे पहले तो इसके महँगे होने पर नज़र डालें। घुड़-सवारी, कारों की रेस, बन्दूकों की निशानेबाज़ी आदि खेल अमीर लोगों के मनोरंजन तक सीमित हैं। आप चाहे कोई इनसे भी अधिक खर्चीला मनोरंजन सोच लें। उसके लिये भी रुपये, डालर या पाउंड की ज़रूरत होगी। पर प्रभु-रचित खेल का खर्च तो किसी भी करेंसी से नहीं चुकाया जा सकता। अगर किसी कीमती से कीमती रत्न या हीरे का मूल्य आँकने लगें तो दस अंकों से आगे नहीं जा सकते। पर यह प्रेम का खेल जान की पेशगी अदायगी से शुरू होता है। गुरु नानक साहिब के वचन हैं :

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ। सिरु धरि तली गली मेरी आउ।
इतु मारगि पैरु धरीजै। सिरु दीजै काणि न कीजै।
(म.१, १४१२)

आपके द्वारा प्रयुक्त शब्दों और कहने के ढंग से स्पष्ट होता है कि आप जो कुछ कह रहे थे, गम्भीरतापूर्वक कह रहे थे। फिर यह तो अपनी ओर से नहीं, परमेश्वर की ओर से कहा है, उसका प्रवक्ता, उसकी ज़बान बनकर ; और इस तरह की बातें सरसरी तौर से नहीं की जातीं।

किसी विरह में व्याकुल प्रभु-प्रेमी के लिये अपने प्रियतम का ज़िक्र सुन लेना ही इतना महत्वपूर्ण होता है कि वह उसके लिये अपने आपको न्योछावर कर देता है और फिर भी सोचता रहता है कि शायद मुझसे पूरा मोल नहीं चुकाया गया, ज़रूर कोई बकाया बचा रह गया है। गुरु नानक साहिब भी किसी वियोग की

घड़ी में अपने आपसे पूछते हैं, हे मन, अगर मेरे मालिक के बारे तुझे कोई कुछ कहे या बताये तो तू उस मेहरबान के प्रति कैसा व्यवहार करेगा (तै साहिब की बात जि आखै कहु नानकु किआ दीजै); और फिर खुद ही जवाब देते हैं : 'सीसु वढे करि बैसणु दीजै विणु सिर सेव करीजै' (म.१, ५५८)। मैं अपना सिर काटकर उसके आसन के तौर पर प्रस्तुत करूँगा और इस प्रकार उस पर सिर कुर्बान करके उसकी सेवा में व्यस्त हो जाऊँगा।

इसी प्रकार गुरु अर्जुन साहिब प्रभु-प्रियतम का शुभ-सन्देश लानेवाले उपकारी (सतगुरु) को अपना तन, मन और सबकुछ अर्पण करके सन्तुष्ट नहीं होते, क्योंकि आपकी दृष्टि में भी सिर भेंट किये बिना उस प्यारे मित्र की दयालुता का बदला नहीं चुकाया जा सकता। आप फ़रमाते हैं :

हउ मनु अरपी सभु तनु अरपी अरपी सभि देसा।
हउ सिरु अरपी तिसु मीत पिआरे जो प्रभ देइ सदेसा।
(म.५, २४७)

परमेश्वर के ये मतवाले उस पर अपना सबकुछ, सर्वस्व कुर्बान कर देते हैं, पर फिर भी थोड़ा-सा अहसान तक नहीं जताते। कह देते हैं कि तेरी ही दौलत तुझे लौटाई है, इसमें मेरा तो कुछ नहीं गया :

कबीर मेरा मुझ महि किछु नही जो किछु है सो तेरा।
तेरा तुझ कउ सउपते किआ लागै मेरा।
(कबीर, १३७५)

एक ओर हम हैं जो न मन, न तन, न धन, कुछ भी प्रभु को देने के समर्थ नहीं, और दूसरी ओर वे हैं जो देते समय अपने लिये कुछ भी बचाकर नहीं रखते हमसे तो इस तरह के देने की कल्पना भी नहीं होती। इस प्रकार का देना इसलिये सम्भव हो जाता है कि ऐसे प्रेमियों ने अपने आपको ही प्रियतम को अर्पित कर रखा है। उनका कोई अलग अस्तित्व ही नहीं बचा है, फिर कौन किसे दे और कौन किस से ले :

कबीर तूं तूं करता तू हूआ मुझ महि रहा न हूं।
जब आपा पर का मिटि गइआ जत देखउ तत तू।
(कबीर, १३७५)

इस महापुरुष के कथनानुसार हरि और भक्त के बीच 'आपा-पर' (अपने-पराये) का अन्तर मिट जाता है। पर इसका मिटना है बड़ा कठिन। अगर कोई

लोहे की मेख या पत्ती यह चाहे कि मैं फिर से अपना मूल रूप प्राप्त कर लूँ तो वह तप कर, लाल होकर, पिघल कर ही अपनी आज की शक्ल से मुक्त हो सकेगी। उसके लिये अत्यधिक तेज़ तपन सहन करनी पड़ेगी। प्रीति के खेल में इस तपन या तपिश को विरह कहकर पुकारा जाता है। फ़रीद साहिब ने विरह की प्रशंसा करते हुए उसे सुलतान कहा है और उससे खाली काया को निपट लाश :

बिरहा बिरहा आखीऐ बिरहा तू सुलतानु।
फरीदा जितु तनि बिरहु न ऊपजै सो तनु जाणु मसानु।
(फरीद, १३७९)

यही कुछ गुरु अंगद साहिब ने अलग ढंग से कहा है :

नानक जिसु पिंजर महि बिरहा नही सो पिंजरु लै जारि। (म.२, ८९)

जो हृदय विरह से रहित है, वह बेजान पिंजर है और पिंजर तो जला दिये जाते हैं, वे किसी काम के नहीं होते।

विरह अत्यन्त स्वाद-पूर्ण दर्द है। इसका अनुभव वह जिज्ञासु करता है जिसने प्रभु-प्रियतम से मिलाप कर लिया हो और इसके बाद उससे बिछुड़ गया हो। प्रियतम का मिलाप कितना रसमय, कितना आनन्दपूर्ण होगा, इसका अनुमान इस बात से लग सकता है कि उससे दूर होने की पीड़ा इतनी तीव्र होती है मानो कोई चिमटों से शरीर का माँस तोड़ रहा हो : 'विछोहे जंबूर खवे ना वंञनि गाखड़े' (म.५,५२०) अर्थात वियोग के जंबूर[1] सहने मुश्किल हैं, सहे नहीं जाते।

वियोग की तड़प का एक और सुन्दर उदाहरण कबीर साहिब के निम्नलिखित वचन में मिलेगा :

करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुनु बिनती मेरी।
हउ वारी मुखु फेरि पिआरे। करवटु दे मोकउ काहे कउ मारे।
जउ तनु चीरहि अंगु न मोरउ। पिंडु परै तउ प्रीति न तोरउ।
(कबीर, ४८४)

आप कहते हैं कि मुझे अपने परमेश्वर रूपी पति से बिछुड़ना करवत द्वारा चीरे जाने से भी अधिक कष्टदायक लग रहा है।

करवत या आरा किसी समय बनारस और प्रयाग में मौजूद थे। उनके द्वारा कल्याण के भोले इच्छुक खुद को जीते-जी चिरवा कर प्राण त्याग दिया करते थे।

---

१. बाँक; एक प्रकार की टेढ़ी छुरी।

गुरु नानक साहिब ने मर्त्यलोक से प्रयाण किया तो विरह में व्याकुल गुरु अंगद साहिब पुकार उठे :

जिसु पिआरे सिउ नेहु तिसु आगै मरि चलीऐ।
ध्रिगु जीवणु संसारि ता कै पाछै जीवणा। (म.१, ८३)

इस दशा में तो प्रियतम फिर कभी मनुष्य शरीर में मिलनेवाला नहीं था ; यह वियोग स्थायी था। पर यदि वह थोड़ी देर के लिये हो तब भी कौन-सा सहा जा सकता है। जीवन के सब भोग-विलास व सुख-आराम क्रुद्ध सर्पों की तरह डसने, छुरियों की तरह बेधने और फाँसी की तरह दम घोटने लगते हैं। इससे अधिक न कोई कठिन से कठिन रोग सताता है और न किसी कसाई द्वारा इससे अधिक तड़पाया जा सकता है। अपने मन की कुछ इसी प्रकार की दशा दसवीं पातशाही गुरु गोबिन्दसिंह ने बयान की है :

मित्र पिआरे नूं हाल मुरीदां दा कहणा।
तुझ बिन रोग रजाईआं दे ओढण नाग निवासा दे रहिणा।
सूल सुराही खंजन पिआला बिंग कसाईआं दा सहणा।
यारड़े दा सानूं सथर चंगा भठ खेड़िआं दा रहणा।
(दशम पातशाह)

सांसारिक सम्बन्ध गरज या स्वार्थ पर आधारित होते हैं, कई प्रकार के हितों के लिये जोड़े और कायम रखे जाते हैं, और फिर भी निभ जाते हैं। दुनिया में निकल या गिलट चाँदी के भाव चलता है, क्योंकि सबको पता है कि आजकल टकसाली सिक्के इसी धातु के बनते हैं। पर प्रभु की भक्ति किसी प्रकार का खोट स्वीकार नहीं करती। प्रभु के सराफा बाजार में बारहबानी या खालिस से कम किसी सोने के लिये कोई स्थान नहीं। इस मण्डी के भेदी सचेत करते हैं :

सभु मनु तनु जीउ करहु हरि प्रभ का इतु मारगि भैणे मिलीऐ।
(म.४, ५६१)

जब सर्वस्व देकर जीव परमेश्वर का हो जाये तो फिर उससे अलग होकर वह जीवित कैसे रह सकता है! इसलिये गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी मछुली नीर।
जिउ अधिकउ तिउ सुखु घणो मनि तनि साति सरीर।
बिनु जल घड़ी न जीवई प्रभु जाणै अभ पीर। (म.१, ६०)

मछली को पानी से बिछुड़कर कितना कष्ट सहना पड़ता है, यह न मनुष्य

जान सकता है और न ही इसका वर्णन कर सकता है। उसकी अवस्था को तो परमात्मा ही जानता है। पर प्रभु से उसी स्तर की प्रीति होनी चाहिए। या फिर वह वैसी ही हो जैसी पानी की दूध से होती है, ताप लगने पर वह खुद जल जाता है, दूध को हानि नहीं पहुँचने देता :

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी जल दुध होइ।
आवटणु आपे खवै दुध कउ खपणि न देइ। (म.१, ६०)

प्रेम के बदले प्रेम किये जाने की आशा रखना स्वाभाविक ही होती है। पर यदि कभी दूसरी ओर से प्यार न मिले, बल्कि कोई ज़्यादती हो जाये तो क्या अपना मन मोड़ लेना चाहिए ? नहीं :

रे मन ऐसी हरि सिउ प्रीति करि जैसी जल कमलेहि।
लहरी नालि पछाड़ीऐ भी विगसै असनेहि। (म.१, ५९)

प्रभु से ऐसा प्यार होना चाहिए जैसा कमल का जल से होता है। जल की लहरें कमल को बार-बार थपेड़े मारती हैं, उठा-उठा कर फेंकती हैं, पर बदले में कमल और अधिक प्यार करता है, अधिक प्रसन्न होता है। वह सुख दे या दुःख, परमेश्वर के प्यारे सदा उसके आभारी ही रहते हैं। जब तक उससे लिव जुड़ी रहती है, वे अपने आपको जीवित समझते हैं। अगर लिव टूट जाती है तो उन्हें लगता है कि वे मर गये हैं : 'आखा जीवा विसरै मरि जाउ' (म.१,९)।

प्रभु के प्यारों के प्रेम की तीक्षणता से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह खेल एक-तरफ़ा है। अगर भक्त अपना, तन, मन, धन सबकुछ परमेश्वर के अर्पण कर देते हैं तो वह भक्तों की इच्छा के विरुद्ध नहीं करता। वह भी वही करता है जो उसके प्यारों को पसन्द हो। धुर-दरगाह में उनका सिक्का चलता है, उनका कहा कोई नहीं टालता : 'जो हरि जन भावै सो करे दरि फेरु न पावै कोइ' (म.५,४२)। उनकी मन-भायी करना उसने अपना बिरद बनाया हुआ है : 'हरि जीउ सोई करहि जि भगत तेरे जाचहि एहु तेरा बिरदु' (म.५,४०६)।

परमेश्वर का अधिकार सारी सृष्टि और उसके सब जीवों पर है और परमेश्वर खुद भक्तों के कहने से बाहर नहीं, उनके प्रेम में बँधा हुआ है। जैसा कि गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं :

सभु को तेरै वसि अगम अगोचरा।
तू भगता कै वसि भगता ताणु तेरा। (म.५, ९६२)

इस प्रकार सबकुछ ही हरि-जनों के अधिकार में आ जाता है। प्रभु हर

समय उनके पास मौजूद ही नहीं रहता बल्कि उनकी सहायता के लिये भी तैयार रहता है : 'सदा सहाई संत पेखहि सदा हजूरि' (म.५, ३९७)।

इस प्रेम के फलस्वरूप इन भाग्यशाली जीवों का परमेश्वर से एक बड़ा घनिष्ठ या गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। वे उसके पुत्र माने जाते हैं। कबीर साहिब उन्हें प्रभु की सन्तान कहते हैं : 'बलि बलि जे बिसन तना जसु गावै' (कबीर, ३४२); 'बिसन तना' का अर्थ है प्रभु के पुत्र। यही रिश्ता गुरु अर्जुन साहिब ने उनका भगवान के साथ बताया है : 'रहंत संग भगवान सिमरण नानक लबध्यं अचुत तनह' (म.५, १३५४)। अचुत तनह का अर्थ है अविनाशी पुत्र। परमेश्वर की और कितनी सन्तान हैं ? प्रभु सन्तों के कारण ही स्वयं को पुत्रवानों में गिनता है : 'सफलु जनमु हरिजन का उपजिआ जिनि कीनो सउतु बिधाता' (म.५,५३२)। अर्थात उस हरि के जन (सन्त) का जीवन सफल है जिसने लोगों को सुधार कर परमात्मा के उत्तम पुत्र बना दिया।

प्रभु उनका पालन क्यों नहीं करेगा, वे उसके खेल के केवल साझी या साथी ही नहीं, उसके जीवन-प्राण हैं :

तूं संतन की करहि प्रतिपाला।
संत खेलहि तुम संगि गोपाला।
अपुने संत तुधु खरे पिआरे तूं संतन के प्राना जीउ। (म.५, १००)

अगर प्रभु के भक्त उसके प्रेम में पागल रहते हैं, तो वह भी उनके प्रति किसी नियम के बन्धन में नहीं रहता। जिस प्रकार बड़े से बड़े मान-योग्य वृद्ध अपने पोतों-दोहतों की सवारी के लिये घुटनों के बल चलकर घोड़े बन जाते हैं, प्रभु भी अपने प्रेमियों को प्रसन्न करने के लिये उसी प्रकार झुकने से नहीं कतराता। कहा नहीं है उसने नामदेव जी के मुख से कि मेरा भक्त मेरा ही रूप है : 'दास अनिंन मेरो निज रूप' (नामदेव, १२५२), और भक्त मेरे बाँधे हुए को छुड़ा सकते हैं, मैं उनके बाँधे को नहीं छुड़ा सकता : 'मेरी बांधी भगतु छडावै बांधै भगतु न छूटै मोहि।' बल्कि अगर वह किसी समय मुझे भी बाँध दे तो इसके विरोध में मेरा मुँह नहीं खुलता : 'एक समै मो कउ गहि बांधै तउ फुनि मो पै जबाबु न होइ।' अगर मैं बाकी सारे संसार की जीवन-सत्ता हूँ तो वह खुद मेरे जीवन की लहर है : 'मै गुन बंध सगल की जीवनि मेरी जीवनि मेरे दास' (नामदेव, १२५३)।

प्रभु भक्तवत्सल है, प्रेम का स्वरूप है और अगर कोई उससे मिलना चाहे तो उससे प्रीति करके ही मिल सकता है : 'जिन प्रेम कीओ तिनही प्रभु पाइओ' (पातशाही १०)। प्रेम सच्चा हो, भरपूर और असीम हो तो वह खुद पालतू जानवर की तरह अपने प्रेमी के आगे-पीछे चलता फिरता है। श्री कृष्ण राजा-महाराजाओं के पूजनीय थे, क्या उन्होंने निर्धन सुदामा के पल्ले से निकालकर उसके तंदुल नहीं खाये ? रामचन्द्र जी ने बेचारी शूद्र शिबरी के जूठे बेरों का भोग नहीं लगाया ? और कबीर साहिब का अपना अनुभव है : 'पाछै लागो हरि फिरै कहत कबीर कबीर' (कबीर, १३६७)।

यह पहले कहा जा चुका है कि किसी अनजान, अनदेखे व्यक्ति से प्रीति नहीं हो सकती और इस दृष्टि से परमेश्वर हमारे लिये बिलकुल अजनबी है; पर उसने हम पर यह दया की हुई है कि वह गुरु में बसता है, और गुरु उसके साथ हमारा मिलाप करा देता है :

हरि गुर विचि आपु रखिआ हरि मेले गुर साबासि। (म.४, ९९६)

यह बार-बार का देखा और परखा सत्य है कि गुरु के बिना हमें प्रभु का प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता :

बिनु गुर प्रेमु न लभई जन वेखहु मनि निरजासि। (म.४, ९९६)

प्रभु-प्रेम की भूख गुरु पूरी तरह तृप्त कर देता है :

सचा प्रेम पिआरु गुर पूरे ते पाईऐ। (म.४, १४२२)

अगर हम सतगुरु से प्रीति कर लें, उसके हो जायें तो परमेश्वर भी अपने आप हमारा रखवाला बन जाता है :

जिना अंतरि गुरमुखि प्रीति है तिन हरि राखणहारा राम राजे। (म.४, ४५१)

हाँ, यह प्रीति वैसी होनी चाहिए जैसी गुरु रामदास जी ने अपने सतगुरु से की थी :

हउ तिसु बिनु घड़ी न जीवऊ बिनु देखे मरि जाउ। (म.४, ७५९)

ऐसा प्यार होने से गुरु भी शिष्य को वैसे ही छाती से लगाकर पालता, सँभालता है, प्यार और लाड करता है जैसे माता अपने बालक से करती है :

जिउ जननी सुतु जणि पालती राखै नदरि मझारि।
अंतरि बाहरि मुखि दे गिरासु खिनु खिनु पोचारि।
तिउं सतिगुरु गुरुसिख राखता हरि प्रीति पिआरि। (म.४, १६८)

प्रेम

जिउ मछुली बिनु पाणीऐ किउ जीवणु पावै।
बूंद विहूणा चातृको किउकरि तृपतावै।
नाद कुरंकहि बेधिआ सनमुख उठि धावै।
भवरु लोभी कुसम बासु का मिलि आपु बंधावै।
तिउ संत जना हरिप्रीति है देखि दरसु आघावै। (म.५, ७०८)

जैसी प्रीति बारिक अरु माता। ऐसा हरि सेती मनु राता।
प्रणवै नामदेउ लागी प्रीति। गोबिदु बसै हमारै चीति।
(नामदेव, ११६४)

बिनु गुर प्रीति न ऊपजै हउमै मैलु न जाइ।
सोहं आपु पछाणीऐ सबदि भेदि पतीआइ। (म.१, ६०)

सतिगुरु सागरु गुण नाम का मै तिसु देखण का चाउ।
हउ तिसु बिनु घड़ी न जीवऊ बिनु देखे मरि जाउ।
(म.४, ७५८)

अंदरि सचा नेहु लाइआ प्रीतम आपणै।
तनु मनु होइ निहालु जा गुरु देखा साम्हणे। (म.४, ७५८)

सचा प्रेम पिआरु गुर पूरे ते पाईऐ।
कबहू न होवै भंगु नानक हरिगुण गाईऐ। (म.४, १४२२)

जिन कउ प्रेम पिआरु तउ आपे लाइआ करमु करि।
नानक लेहु मिलाइ मै जाचक दीजै नामु हरि।
(म.५, १४२२)

जप तप संजम हरख सुख मान महत अरु गरब।
मूसन निमखक प्रेम परि वारि वारि देंउ सरब।
(म.५, १३६४)

अति सुंदर कुलीन चतुर मुखि ङिआनी धनवंत।
मिरतक कहीअहि नानका जिह प्रीति नही भगवंत।
(म.५, २५३)

जिना अंतरि गुरमुखि प्रीति है तिन हरि राखणहारा राम राजे।
(म.४, ४५१)

बिनु गुर प्रेमु न लभई जन वेखहु मनि निरजासि।
हरि गुर विचि आपु रखिआ हरि मेले गुर साबासि।
(म.४, ९९६)

जब अंतरि प्रीति हरि सिउ बनि आई।
तब जो किछु करे सु मेरे हरि प्रभ भाई।
(म.४, ४९४)

मै गुन बंध सगल की जीवनि मेरी जीवनि मेरे दास।
(नामदेव, १२५३)

हरि के भगत सदा सुखवासी। बाल सुभाइ अतीत उदासी।
अनिक रंग करहि बहु भाती जिउ पिता पूतु लाडाइदा।
(म.५, १०७६)

रते सेई जि मुखु न मोड़न्हि जिन्ही सिञाता साई।
झड़ि झड़ि पवदे कचे बिरही जिन्हा कारि न आई।
धणी विहूणा पाट पटंबर भाही सेती जाले।
धूड़ी विचि लुडंदड़ी सोहां नानक तै सह नाले।
(म.५, १४२४)

अजु न सुती कंत सिउ अंगु मुड़े मुड़ि जाइ।
जाइ पुछहु डोहागणी तुम किउ रैणि विहाइ। (फरीद, १३७९)

निष्कर्ष

श्री आदि ग्रन्थ साहिब आत्मिक ज्ञान का अटूट भण्डार है। इसमें आध्यात्मिक जीवन की छोटी-बड़ी सभी समस्याएँ सरल और सुन्दर भाषा में बड़ी कुशलतापूर्वक सुलझाई गई हैं। इसको पढ़ने और समझने के बाद किसी प्रकार के भ्रम और संशय बाकी नहीं रहते। प्रभु-परमेश्वर के लिये प्रेम पैदा होता है, गुरु, नाम, शब्द, शुद्ध आचार के महत्व का पता लगता है।

इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के लेखकों में पीपा जैसे राजा शामिल हैं, तो सत्ता और बलवंड जैसे दरिद्र डोम भी। जाति से रामानन्द ब्राह्मण हैं तो त्रिलोचन वैश्य, धन्ना जाट, रविदास चमार, और सदना कसाई। उनमें से कई हिन्दू परिवारों से सम्बन्धित हैं; पर शेख फ़रीद और मरदाने की मौजूदगी वाणी के चुनाव में धर्म के पक्ष से द्वैत के अभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही बात देश के विभिन्न क्षेत्रों के प्रति अपनायी गई समदृष्टि की है। गुरु साहिबान स्वयं पंजाब के रहनेवाले थे, कबीर उत्तर प्रदेश के, जैदेव बंगाल के, नामदेव महाराष्ट्र के। हाँ, उनका मार्ग एक है—सबके एक ही प्रभु की नाम या शब्द के द्वारा प्रेममय भक्ति।

जिन महापुरुषों की रचनाएँ इस पवित्र ग्रन्थ में शामिल हैं, वे वास्तव में मनुष्य चोला पहनकर चलते-फिरते परमेश्वर थे। इसके सम्पादक के बारे में पृ.१४०९ पर अंकित है: 'भनि मथुरा कछु भेदु नही गुरु अरजुनु परतख्ह हरि।' अपने सतगुरु के प्रति पाँचवी पातशाही गुरु अर्जुनदेव जी ने खुद कहा है: 'हरि जीउ नामु परिओ रामदासु' (म.५,६१२), कि जिस व्यक्ति को लोग रामदास कहकर पुकारते हैं वह कोई और नहीं, खुद हरि है। तीसरे गुरु साहिब के सम्बन्ध में गउड़ी राग में कहा गया है: 'सचु सचा सतिगुरु अमरु है जिसु अंदरि हरि उरि धारिआ' (म.४,३१०)। प्रभु खुद उनके अन्दर बिराजमान था: 'राम कबीरा एक भए है कोइ न सकै पछानी' (कबीर,९६९) पढ़कर यह जानना मुश्किल हो जाता है कि राम कबीर का वेष धारण करके फिरता था कि कबीर राम का।

इन सन्तों और सतगुरुओं के उचारे वचन हरि-प्रभु का अपना दिया हुआ उपदेश है। क्या गुरु नानक साहिब ने बताया नहीं था: 'जैसी मै आवै खसम की

बाणी तैसड़ा करी गिआनु वे लालो' (म.१,७२२) और गुरु अर्जुन ने : 'बोलाइआ बोली खसम दा' (म.५,७४) और फिर : 'हउ आपहु बोलि न जाणदा मै कहिआ सभु हुकमाउ जीउ' (म.५,७६३)। इसी तरह : 'मेरी बांधी भगतु छडावै बांधै भगतु न छूटै मोहि' (नामदेव, १२५२), नामदेव के मुख से निकले भगवान के अपने बोल हैं।

यह भी स्पष्ट है कि वे किसी लिखी या पढ़ी बात पर निर्भर नहीं रहे, बल्कि जो कुछ उन्होंने हमारे ज्ञान के लिये बताया है स्वयं अपने जीवन में उतारकर, स्वयं अनुभव करके बताया है। नाम-महिमा के सम्बन्ध में गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं: 'हरि नामै तुलि न पुजई सभ डिठी ठोकि वजाइ' (म.१,६२)। गुरु अर्जुन : 'जेहा डिठा मैं तेहो कहिआ' (म.५,९७) की तरह केवल अपना ही अनुभव बयान नहीं करते, अपने जैसे सभी सन्तों की ओर से इसी प्रकार की हामी भरते हैं : 'संतन की सुणि साची साखी। सो बोलहि जो पेखहि आखी।' (म.५,८९४) और देखने का यह हाल है कि सचखण्ड भी उनकी दृष्टि की पहुँच से बाहर नहीं। पहली पातशाही गुरु नानक साहिब का शब्द देखें : 'सो दरु केहा सो घरु केहा जितु बहि सरब समाले' (म.१,६)।

इस पृष्ठभूमि के सम्मुख इन महापुरुषों की कही और बताई में पूर्ण विश्वास करना पूर्णतया उचित है।

उक्त महापुरुषों का आगमन परमपिता परमेश्वर की रज़ा के अधीन केवल हम सांसारिक जीवों के उद्धार के लिये हुआ था ; वे किसी किये कर्मों के कारण योनियाँ भोगने के लिये नहीं आये थे : 'जनम मरण दुहहू महि नाही जन परउपकारी आए' (म.५,७४९)। उनका उच्चारण किया एक-एक वाक्य अनमोल है। इसीलिये उसे हमने अपने मार्गदर्शन का आधार बनाया है।

कोई समझदार बुज़ुर्ग हमें विशेष प्रकार की सुमति दे तो हम एकदम कहने लगते हैं कि यह बात सोने के अक्षरों में लिख लेने योग्य है, और उसे सोने के अक्षरों में न सही सोने जैसी कीमती सम्पत्ति स्वीकार करके सँभाल लेते हैं। उसको हम सँभाल लेते हैं, उसकी कदर भी बहुत करते हैं परन्तु उस पर अक्सर अमल नहीं करते, उससे कोई लाभ नहीं उठाते। इसी प्रकार का आदर हमने श्री आदि ग्रन्थ साहिब को दिया है। उसका बड़ा सम्मान किया है, पर उसके उपदेश को प्रभु का हुक्म मानकर उसका पालन नहीं किया। अगर किया होता तो हमारा जगत कदाचित वह कुछ न होता जो आज है।

इस महान ग्रन्थ के तत्व को ध्यानपूर्वक विचारें तो निम्नलिखित सचाइयाँ उभरकर सामने आ जायेंगी :

१. सम्पूर्ण दृश्य और अदृश्य सृष्टि को अस्तित्व में लानेवाला कर्ता पुरुष एक है : 'एक नूर ते सभ जग उपजिआ' (कबीर,१३४९), चाहे उसे कितने ही अलग-अलग नामों से याद कर लिया जाता है, जैसे हरि, परमेश्वर, अल्लाह, रब, वाहिगुरु आदि।

२. छोटे-बड़े, काले-गोरे सब जीव उस एक पिता की सन्तान हैं। उनमें जाति, वर्ण का कोई भिन्न-भेद सर्जनकार ने नहीं किया : 'एकु पिता एकस के हम बारिक' (म.५,६११)। शारीरिक, मानसिक, भौतिक किसी भी प्रकार के जो अन्तर उनमें दिखाई देते हैं, उनके लिये उनके अपने अच्छे-बुरे कर्म ज़िम्मेदार हैं, वे कर्म चाहे इस जन्म में किये गये हों या बीते जन्मों में।

३. प्रत्येक जीवात्मा सतुपुरुष का अंश है और उसका संसार के विष-सागर से छुटकारा अपने अंशी या मूल में समाने पर ही होगा।

४. उक्त मूल में किसी जीव की समाई उसके अपने किये नहीं हो सकती : 'आपण लीआ जे मिलै विछुड़ि किउ रोवंनि' (म.५,१३४)। यह समाई तभी ही होती है जब कुल मालिक खुद दया करके उसे सतगुरु का पल्ला पकड़ाता है।

५. प्रभु-परमेश्वर से मिलाप का एक ही मार्ग है—नाम या शब्द की कमाई, और नाम या शब्द का भेद पूरे गुरु से प्राप्त होता है : 'बिनु सतिगुर को नाउ न पाए प्रभि ऐसी बणत बणाई हे' (म.३,१०४६)।

६. सतगुरु से दीक्षा लेकर उसकी बताई युक्ति के अनुसार नाम या शब्द का अभ्यास करने से मन वश में आ जाता है, माया-मोह के बन्धन कट जाते हैं, अपने आपकी पहचान हो जाती है और आत्मा त्रिकुटी को पार करके अपने सतगुरु के प्रेम में लीन हो परमपुरुष से जा मिलती है : 'गुर परसादी त्रिकुटी छूटै चउथै पदि लिव लाई' (म.३,९०९)।

७. इन्द्रियों से रस बड़े मन-लुभावने हैं और उनकी ओर से कभी तृप्ति नहीं होती। अगर नाम या शब्द का रस चखने को मिले तो ये रस फीके पड़ जाते हैं। यह अमृत-रस हर समय हर मनुष्य के अन्तर में बरसता रहता है पर जीव अज्ञानवश उससे लाभान्वित नहीं होते।

८. मनुष्य-जन्म वह एकमात्र अवसर है जो चौरासी लाख योनियों के चक्र में से बच निकलने के लिये परमपिता परमेश्वर की कृपा से मिलता है। इसे जप, तप,

व्रत, तीर्थ जैसे व्यर्थ के कर्मों में उलझे रहकर गँवा नहीं देना चाहिए।

९. जिस धरती पर हमारा जन्म हुआ है, वह कर्म-भूमि बनाई गई है। इस कर्म-भूमि में एक ही फसल बोने योग्य है—नाम : 'करम भूमि महि बोअहु नामु' (म.५,१७६)। हम नाम या शब्द में लगेंगे तब ही पार उतर पायेंगे।

इसलिये हमारे लिये उचित है कि ऊपर बताये गये सन्तों और सतगुरुओं के उपदेश को पढ़ तथा सुनकर ही सन्तुष्ट न हों, बल्कि उसके ज़रिये दिखाये गये नाम या शब्द के मार्ग पर सच्चे दिल से चलते हुए अपना जीवन सफल करें।

पुस्तक-सूची

१. **सार बचन (छन्द-बन्द) :** हुज़ूर स्वामीजी महाराज के प्रसिद्ध शब्दों का संग्रह जिसमें सन्तमत के मूल सिद्धान्तों, अभ्यासी के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों, आन्तरिक अनुभवों और आन्तरिक मण्डलों का सविस्तार वर्णन है।

२. **सार बचन वार्तिक :** हुज़ूर स्वामीजी महाराज के सत्संगों में से चुने हुए परमार्थी वचनों का संग्रह।

३. **परमार्थी पत्र, भाग १ :** बाबा जैमलसिंह जी महाराज द्वारा हुज़ूर बाबा सावनसिंह जी को लिखे गए पत्रों का संग्रह।

४. **अमृत वचन :** महाराज बाबा जैमलसिंह जी के चुने हुए वचन।

५. **परमार्थी पत्र, भाग २ :** हुज़ूर महाराज सावनसिंह जी द्वारा पूर्व और पश्चिम के जिज्ञासुओं को लिखे गए पत्रों का संग्रह।

६. **प्रभात का प्रकाश :** पुस्तक के पहले भाग में सन्तमत के मूल सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण है। दूसरे भाग में हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी द्वारा अमेरिका के जिज्ञासुओं को लिखे गए पत्र दिए गए हैं।

७. **शब्द की महिमा के शब्द :** हुज़ूर महाराज सावनसिंह जी द्वारा आदि ग्रन्थ की वाणी में से गुरु साहिबान तथा सन्तों-भक्तों के चुने हुए शब्दों का संग्रह।

८. **गुरुमत सिद्धान्त, भाग १, २ :** हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी का लिखा हुआ दो भागों में खोज ग्रन्थ, जिसमें आपने आदि ग्रन्थ में दी गई गुरुओं और सन्तों की शिक्षा को सरल तथा स्पष्ट रूप में समझाया है। इसमें गुरुमत के अनेक सिद्धान्तों की सविस्तार व्याख्या है।

९. **गुरुमत सिद्धान्त ८४ विषय :** इसमें परमार्थ के प्रमुख ८४ अंगों की संक्षिप्त व्याख्या और इन विषयों से सम्बन्धित आदि ग्रन्थ की वाणी में से अनेक उदाहरण दिए गए हैं।

१०. **सन्तमत प्रकाश, भाग १ से ७ :** हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी के सत्संगों के संग्रह। इन सत्संगों में परमार्थ के हर पहलू की अति सरल एवं रोचक व्याख्या की गई है।

११. **परमार्थी साखियाँ :** हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी द्वारा विभिन्न सत्संगों में सुनाई गई कुछ परमार्थ सम्बन्धी साखियों का संग्रह।
१२. **गुरुमत सार, भाग १, २ :** हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गुरुमत सिद्धान्त' के दोनों भागों की भूमिकाएँ अलग-अलग पुस्तकों के रूप में प्रकाशित की गई हैं।
१३. **अमृत वचन :** हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी के कुछ चुने हुए वचन।
१४. **आत्म-ज्ञान :** सरदार बहादुर जगतसिंह जी महाराज की अंग्रेज़ी पुस्तक 'साईंस ऑफ दि सोल' का हिन्दी अनुवाद।
१५. **रूहानी फूल :** सरदार बहादुर जगतसिंह जी महाराज के सत्संगों का संग्रह।
१६. **रूहानी गुलदस्ता :** सरदार बहादुर महाराज जी के चुने हुए वचन।
१७. **सन्त-संवाद, भाग १, २ :** हुज़ूर महाराज चरनसिंह जी की प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पुस्तक 'दि मास्टर आनसर्ज़' का पहले भाग में और 'दस सेड दि मास्टर' का दूसरे भाग में हिन्दी अनुवाद है।
१८. **सन्तमत दर्शन, भाग १, २, ३ :** हुज़ूर महाराज चरनसिंह जी की प्रसिद्ध पुस्तकों 'लाईट ऑन सन्तमत', 'डिवाइन लाईट' तथा 'क्वेस्ट फार लाईट' के क्रमशः हिन्दी अनुवाद।
१९. **जीवित मरिए भवजल तरिए :** महाराज चरनसिंह जी की प्रसिद्ध अंग्रेज़ी पुस्तक 'डाई टू लिव' का हिन्दी अनुवाद।
२०. **पारस से पारस :** महाराज चरनसिंह जी की अंग्रेज़ी पुस्तक 'स्प्रिचुअल हेरिटेज' का हिन्दी अनुवाद।
२१. **सत्संग : आगरा में :** महाराज चरनसिंह जी द्वारा १९७८ में आगरा में फ़रमाए गए तीन सत्संगों का संग्रह।
२२. **सन्त-मार्ग :** हुज़ूर महाराज चरनसिंह जी द्वारा सन्तमत के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या पर आधारित सरल, संक्षिप्त एवं भावपूर्ण पुस्तक।
२३. **सन्तों की बाणी :** महाराज चरनसिंह जी द्वारा स्वामीजी महाराज, गुरु साहिबान, कबीर, रविदास, नामदेव, दादू, पलटू, तुलसी साहिब, तुलसी दास, बुल्लेशाह, शेख फरीद, सुल्तान बाहू आदि सन्तों-भक्तों की बाणी और शब्दों का संग्रह।
२४. **सत्संग, १-४६ :** महाराज चरनसिंह जी के विभिन्न सत्संगों की छोटी पुस्तिकाएँ।

२५. **रूहानी डायरी, भाग १-३ :** रायसाहिब मुंशीराम जी हुज़ूर महाराज सावनसिंह जी, सरदार बहादुर जगतसिंह जी और कुछ समय के लिए महाराज चरनसिंह जी के सेक्रेटरी के रूप में काम करते रहे। आपने इन सन्त-सतगुरुओं के समय के हालात और अन्य छोटी-बड़ी घटनाओं का इन पुस्तकों में वर्णन किया है।
२६. **सन्तमत विचार :** इसमें डॉ. टी.आर.शंगारी तथा डॉ. कृपालसिंह 'खाक' ने सन्तमत के अनेक पहलुओं का आधुनिक दृष्टि से वर्णन किया है।
२७. **अन्तर की आवाज़ :** कर्नल सांडर्स की अंग्रेज़ी पुस्तक 'दि इन्नर वायस' का हिन्दी अनुवाद।
२८. **सन्त-समागम :** दीवान दरियाईलाल जी की अंग्रेज़ी पुस्तक 'काल ऑफ दि ग्रेट मास्टर' का अनुवाद।
२९. **धरती पर स्वर्ग :** दीवान दरियाईलाल जी कपूर की प्रसिद्ध पुस्तक जिसमें डेरा बाबा जैमलसिंह का इतिहास, इससे सम्बन्धित सन्त-सतगुरुओं के जीवन के हालात तथा सन्तमत के उसूलों की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।
३०. **सन्त सन्देश :** श्रीमती शान्ति सेठी द्वारा परमार्थ पर लिखी गई पुस्तक।
३१. **नाम-सिद्धान्त :** डॉ. शंगारी तथा डॉ. खाक की पुस्तक, जिसमें संसार के प्रसिद्ध धर्मों और अनेक सन्तों-महात्माओं की वाणी के आधार पर नाम के विभिन्न पहलुओं की सविस्तार व्याख्या की गई है।
३२. **हंसा हीरा मोती चुगना :** इसमें शाकाहारी भोजन के सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों व धर्मों का आध्यात्मिक दृष्टिकोण दिया गया है।
३३. **अमृत नाम :** जस्टिस महेन्द्रसिंह जोशी की पुस्तक, जिसमें उन्होंने आदि ग्रन्थ की वाणी के आधार पर 'नाम' की व्याख्या की है।
३४. **सन्त नामदेव :** सन्त नामदेव जी के जीवन, वाणी और उपदेश पर प्रो. जनकपुरी तथा श्री वीरेन्द्र सेठी की पुस्तक।
३५. **गुरु नानक का रूहानी उपदेश :** गुरु नानक साहिब के जीवन, वाणी और उपदेश पर लिखी गई प्रो. जनकपुरी की पुस्तक।
३६. **सन्त तुलसी साहिब :** हाथरस के प्रसिद्ध सन्त तुलसी साहिब के जीवन, वाणी और उपदेश पर आधारित प्रो. पुरी और श्री सेठी की पुस्तक।
३७. **सन्त कबीर :** सन्त कबीर के जीवन, रचना और उपदेश पर श्री वीरेन्द्र सेठी

की अंग्रेज़ी पुस्तक के आधार पर लिखी गई श्रीमती शान्ति सेठी की पुस्तक।

३८. **मीरा : प्रेम दीवानी** : मीराबाई के जीवन, वाणी तथा सन्देश पर लिखी गई श्री वीरेन्द्र सेठी की पुस्तक।

३९. **साईं बुल्लेशाह** : प्रो. जनकपुरी तथा डॉ. टी.आर.शंगारी की साईं बुल्लेशाह के जीवन, कलाम तथा उपदेश पर आधारित पुस्तक।

४०. **उपदेश राधास्वामी** : डॉ. सहगल तथा डॉ. शंगारी की राधास्वामी मत के संस्थापक, आगरा के परम सन्त स्वामीजी महाराज के जीवन, वाणी और उपदेश पर आधारित पुस्तक।

४१. **पलटू साहिब** : श्री राजेन्द्र सेठी की पलटू साहिब के जीवन, रचना और सन्देश पर आधारित पुस्तक।

४२. **सन्त दादू दयाल, सन्त दरिया एवं गुरु रविदास** : इन सन्तों के जीवन, रचना, वाणी और उपदेशों पर आधारित डॉ. काशीनाथ उपाध्याय की पुस्तकें।

४३. **नाम-भक्ति : गोस्वामी तुलसीदास** : डॉ. काशीनाथ उपाध्याय की प्रसिद्ध पुस्तक जिसमें गोस्वामी तुलसीदास के उपदेश, विशेषकर नाम-भक्ति के प्रसंग में, उनके विचारों पर प्रकाश डाला गया है।

४४. **गुरुमत, भाग १-४** : प्रो. लेखराज पुरी की छोटी पुस्तिकाएँ जिनमें आदि ग्रन्थ की वाणी के आधार पर परमात्मा की सच्ची भक्ति, नाम, सच्चा सतगुरु आदि विषयों पर संक्षेप में चर्चा की गई है।

४५. **'कर नैनों दीदार महल में प्यारा है', 'काम क्रोध परहरु पर निंदा', 'संत जीव की विपद छुड़ावैं', 'कहां लग कहूं कुटलता मन की', 'नाम निर्णय करूँ भाई', 'नाम-भक्ति और गुरु का महत्व', 'भक्ति-महात्म सुन मेरे भाई', 'अलह अगम खुदाई बंदे', 'सुमिरन से सुख होत है'** : हुज़ूर महाराज बाबा सावनसिंह जी के कुछ प्रसिद्ध सत्संग जिन्हें छोटी पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किया गया है।

नोट : ये सभी पुस्तकें छोटे-बड़े सभी सत्संग-केन्द्रों के बुक स्टालों पर सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं।